॥ श्री: ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
४४

श्री ईश्वरकृष्णविरचिता

सांख्यकारिका

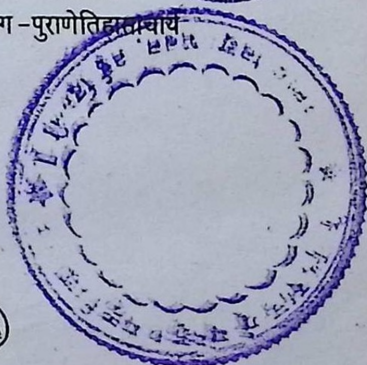
'माठरवृत्ति'-संवलिता

तथा च

'प्रबोधिनी'-हिन्दीव्याख्योपेता



व्याख्याकार
पं० थानेशचन्द्र उप्रेती
एम०ए०, साहित्य-सांख्ययोग-पुराणेतिहासाचार्य





चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

पुनर्मुद्रित संस्करण 2001 ई.

मूल्य 150.00

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

*

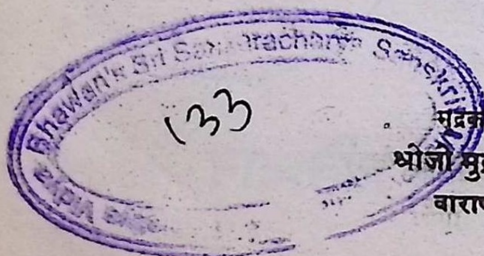
चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक एवं वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी–२२१००१



मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

समर्पणम्

जिनकी पवित्र प्रेरणा से व्याख्याकार को भारतीय
दर्शन का किञ्चित् आभास हुआ,

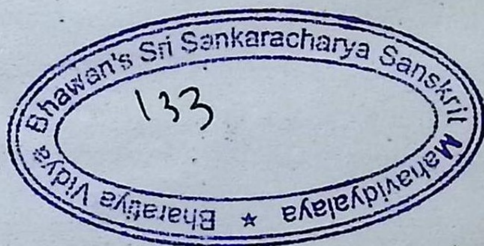
उन्हीं दिवंगत पूज्य पिता पण्डित प्रेमबल्लभ उप्रेती जी

तथा

दिवंगत पूज्या माता श्रीमती मन्दोदरी देवी उप्रेती

की पुण्य-स्मृति में
सादर समर्पित हैं :

—थानेश चन्द्र उप्रेती





प्राक्कथन

प्रबोधिनी व्याख्या सहित सानुवाद माठर वृत्ति समन्वित सांख्यकारिका को पाठकों के कर कमलों में समर्पित करते हुए परम हर्ष हो रहा है।

सांख्य कारिका सांख्य दर्शन का अत्यन्त प्रसिद्ध सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ है। संस्कृत विषयक उच्च श्रेणियों में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में इसका पठन पाठन कराया जाता है। सांख्य सिद्धान्त की जानकारी के लिए यह ग्रंथ अन्य ग्रंथों की अपेक्षा प्राञ्जल सुव्यवस्थित तथा सरल है। इसकी सुन्दरता व गम्भीरता से मुग्ध होकर विद्वानों ने अपनी प्रौढ़ टीकाओं से इसे अलंकृत किया जो कि सर्वसाधरण के लिए बोध गम्य नहीं हैं। सांख्य कारिका के प्रति पाद्य संस्कृत में प्रौढ़-विषय की व्यवस्था को देखते हुए, इसके लिए एक सरल व विशद व्याख्या की आवश्यकता थी, जिससे कि वे समस्त सिद्धान्त आसानी से पाठकों के अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित हो जायें, इसी बात को दृष्टि से रखकर हमने आचार्य माठर की प्राञ्जल वृत्ति को हिन्दी अनुवाद से सुसञ्जित किया साथ ही साथ सिद्धान्तों की विस्तृत जानकारी के लिए प्रबोधिनी व्याख्या से उक्त टीका को विभूषित कर दिया।

कारिका व वृत्ति का अनुवाद यथासम्भव सरल सुबोध व ग्रंथ के अभिप्राय को समर्पण करने में सक्षम बनाया। ग्रंथ के गम्भीर अभिप्राय को प्रबुद्ध पाठकों के लिए सन्दर्भ सहित समझाने का प्रयास किया है, जिससे सांख्य सिद्धान्तों के ज्ञान के साथ-साथ तद्विषयक व्युत्पत्ति भी सुलभ हो।

यह ग्रंथ दिल्ली में प्रकाशित हुआ, मैं भिवानी था, अतः यथासमय यथोचित निरीक्षण न कर सका, सम्भव है सीशकाक्षरजन्य (टाईप की) बहुत सी त्रुटियां रह गई हों, इसके लिए मैं पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूं। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो अगले संस्करण में उन्हें दूर कर दिया जायेगा।

अन्त में मैं बुटाला एण्ड कम्पनी के अध्यक्ष संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति की सेवा में संलग्न श्रीमान् भद्र कुमार बुटाला जी तथा उनके सहयोगियों का अत्यन्त आभारी हूं; जिनके सौजन्यपूर्ण सहयोग से उक्त ग्रंथ प्रकाशित हुआ।

विनीत

धानेश चन्द्र उप्रेती

भूमिका

सांख्य दर्शन

भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन तथा महत्वपूर्ण माना जाता है। द्वैतमत प्रतिपादक प्रायः समस्त दर्शनों की "सांख्य दर्शन" आधार शिला है तथा एकात्मवाद (अद्वैत वेदान्त) के महाप्रासाद की सुरम्य भूमि है। इस दर्शन की प्राचीनता तथा श्रुतिमूलकता में किसी प्रकार का संशय नहीं है। यत्र तत्र सर्वत्र ही उपनिषदों में सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। विशेष रूप से श्वेताश्वतरोपनिषद् तो सांख्य सिद्धान्तों से भरा हुआ है, इस दर्शन के प्रवर्तक "आदि विद्वान् कपिल" माने जाते हैं। दर्शन-जगत में सर्वप्रथम इसी दर्शन ने तत्वों की गणना की। गिनती को संख्या कहते हैं, संख्या की प्रधानता रहने से इस दर्शन का नाम "सांख्य" पड़ा। इस नाम की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है—संख्यायन्ते सम्यग् ज्ञायन्ते येन तत्सांख्यम्, "संख्या" शब्दोऽयं संख्या, ख्यातिः इत्युभयवचनः। (सं. सा. वि.) पञ्चविंशति तत्वात्मिका संख्या यत्र विविच्यते तदेव सांख्यमिति पञ्चविंशतितत्वानां विचारः सांख्यं तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सांख्यमुच्यते, (रामतीर्थ महाचार्य) प्रसंख्यानाय तत्वानां समन्तादात्मदर्शने (श्रीमद्भागवत, 3।14।2) संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते, (अहिर्बुध्न्य संहिता) सांख्यैः संख्यातसंख्येये। (चरक संहिता) सम् उपसर्ग पूर्वक दर्शनार्थक चक्षिङ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करके, चक्षिङ् को ख्यानादेश हो जाता है, तथा ल्युट् के स्थान में अन् होकर, सम् उपसर्ग चक्षिङ् को ख्याञ् आदेश कर अण् प्रत्यय लगाकर 'सांख्य' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है सम्यक् विचार। यहां विग्रहात्मक वाक्य है। सम्यक् ख्यानम्=संख्यानम् यह शब्द बनता है।

तत उद्भाव्यमानं ज्ञानं संख्या, सा यत्र विविच्यते तद्दर्शनं सांख्यम्। अर्थात् प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञान (भेद ज्ञान) इसी को प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति भी कहते हैं। त्रिगुणात्मिका यह प्रकृति अलग है, और निर्गुण चैतन्यस्वरूप पुरुष उससे भिन्न है, इस प्रकार का विवेक ज्ञान। इसी ज्ञान की प्रधानता के कारण इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा।

"दर्शनम्" इस पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

दृश्यते=साक्षात् क्रियते परमात्मादिसंज्ञासंज्ञितः परमपुरुषः येन तद् दर्शनम् । प्रकृत सांख्यदर्शन में दर्शनम् इस पद की सङ्गति इस प्रकार होगी, **दृश्यते=भेदेन (विवेकेन) उपलभ्यते सत्यं (प्रकृतिः) पुरुषश्च येन तद्दर्शनम् ।** अर्थात् जागतिक—पार्थिव पदार्थों का स्वरूपतः ज्ञान करके तत्तत् वस्तु के विवेकज्ञानपूर्वक परम पुरुष परमात्मा का दर्शन करना। इसी विवेकज्ञानपूर्वक आत्मसाक्षात्कार से ही त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही मोक्ष प्राप्ति सांख्य-दर्शन की प्रवृत्ति का परम लक्ष्य है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि इसमें मौलिक दो (प्रकृति तथा पुरुष) तत्वों को माना गया है। केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु वैचारिक दृष्टि से भी इस दर्शन की महत्ता कम नहीं है। उपनिषद् काल से लेकर स्मृति पुराण महाभारत व काव्य-जगत् तक सांख्य सिद्धान्तों का अपना असाधारण साम्राज्य परिलक्षित होता है। यही कारण है कि इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल को प्रथम दार्शनिक (आदि विद्वान्) की उपाधि से भूषित किया गया।

सांख्य दर्शन का मूल उद्देश्य

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणामस्वरूप यह जगत् त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) दुःखों से सन्तप्त है। इस भूमण्डल का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा जो इन त्रिविध दुःखों का विषय न बना हो, या ऐसा कोई पदार्थ नहीं इस संसार में जो त्रिगुणात्मक (सत्व, रजस्, तमस् स्वरूप) न हो, प्रत्येक प्राणी तथा प्रत्येक पदार्थ में अनुस्यूत ये गुण क्रमशः सुख, दुःख, मोहात्मक हैं, यदि संसार में कहीं सुख है, तो वह भी दुःख से रहित (अमिश्रित) नहीं है।

ऐसी दशा में यह कहना पड़ेगा कि यह संसार दुःखबहुल है। इन्हीं दुःखों के निवारण के लिए प्रत्येक प्राणी सचेष्ट रहता है, क्योंकि प्राणीमात्र की प्रवृत्ति सुख के लिए होती है, एतदर्थ ही मनुष्य के जितने भी कार्यकलाप हैं इन सबका उद्देश्य यही है कि वह आनन्द की प्राप्ति करे।

परन्तु जब तक यह नश्वर शरीर है, तब तक दुःखामिश्रित (विशुद्ध) सुख की उपलब्धि कहां? जो सुख हमें यहां प्राप्त है, वह भी ऐकान्तिक व आत्यन्तिक नहीं है। हमें तो ऐसे निरतिशय नित्य सुख की कामना करनी है जिसमें किसी देशविशेष व कालविशेष में भी दुःख की छाया तक न दिखाई दे। वही सुख त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिस्वरूप परमपुरुषार्थ माना जाएगा। सांख्य दर्शन के अनुसार इसी परमपुरुषार्थ को प्राप्त करना मानवमात्र का परम कर्त्तव्य है।

इस निरतिशय सुखस्वरूप परमपुरुषार्थ की प्राप्ति तभी सम्भव है जब

त्रिगुणात्मक प्रकृतिजन्य त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो। जब तक हमें इन दुःखों का कारण मालूम नहीं होगा, तब तक उनकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं है। अतः इन दुःखों का हमें मूल कारण ढूंढ़ लेना चाहिए, क्योंकि विना निदान जाने किसी रोग की समुचित चिकित्सा नहीं हो सकती है। इन दुःखों का कारण है अज्ञान (अविवेक, अविद्या) अज्ञान, ज्ञान का विरोधी है। 'सांख्य-दर्शन' में ज्ञान का अभि-प्राय विवेकज्ञान अर्थात् प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान है। ज्ञान विवेक का ठीक उल्टा अविवेक हुआ। इसी अविवेक के कारण प्राणी संसार की वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकता है अर्थात् यह प्रकृति है, ये गुण हैं—यह इनसे पृथक् पुरुष है, इस प्रकार का भेद ज्ञान नहीं होता है। फलतः वह गुणों में या उनके परिणामस्वरूप कारणों में विद्यमान दुःख को अपनी आत्मा का दुःख समझ बैठता है—यही अविवेक दुःखों का मूल कारण है। इसी अविवेक, अविद्या, भ्रम आदि के मूलोच्छेद के लिए ही सांख्यदर्शन का उदय है, जिससे कि विवेकज्ञानपूर्वक तत्वज्ञान से मोक्ष अर्थात् परमपुरुषार्थ की उपलब्धि हो सके।

सांख्य दर्शन के अनुसार दो ही मूल तत्व हैं—प्रकृति तथा पुरुष। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, जो देश कालादि बन्धनों से मुक्त है, वह निर्गुण और निष्क्रिय है, केवल द्रष्टा है। गुण तथा क्रिया का सम्बन्ध प्रकृति से है। सुख, दुःखादि ये धर्म अन्तः-करण के हैं आत्मा के नहीं। आत्मा शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं का केवल साक्षी-मात्र है। अज्ञान के कारण जीव वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म, सुख, दुःखादि को भी आत्मा में आरोपितकर मैं सुखी हूं, दुःखी हूं ऐसा अनुभव करता है। प्रकृति जड़तत्व है, यह सारा दृश्य जगत् इस प्रकृति का ही परिणाम है, और प्रकृति-पुरुष का संयोग ही सृष्टि है, प्रकृति-पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष की प्रकृति से अलग स्थिति ही (कैवल्य) मोक्ष है। ये बन्ध-मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं, न कि पुरुष के। पुरुष के जिस अपवर्ग की यहां चर्चा की गई है, वह "निर्मलस्फटिक के समान स्वच्छ पुरुष में प्रतिविम्वरूप से मिथ्या दुःख का वियोग मात्र है," जिसका फल निःशेष दुःख निवृत्ति है। इसी दशा में पुरुष की कृतकृत्यता है। तब प्रकृति भी अपना व्यापार विरत कर देती है क्योंकि प्रकृति के व्यापार का प्रयोजन अपवर्ग सिद्धि ही है। इसके बाद प्रकृति का व्यापार विरत होना स्वा-भाविक है।

जैसे कोई नर्तकी रङ्गमञ्च में अपने नृत्य से दर्शकों को प्रसन्न कर कृतकार्य होकर नर्तन से विरत हो जाती है, इसी प्रकार प्रकृति, पुरुष को अपवर्ग दिलाकर अपने व्यापार से विरत हो जाती है। तदनन्तर तत्वाभ्यास से पुरुष में कैवल्य ज्ञान का उदय हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति निवृत्ति होने पर पुरुष में स्वतः **नास्मि, नाहम्, नमे** क्रमशः क्रियाहीनता, संगहीनता तथा कर्तृत्वहीनता का अनुभव होने लगता

है। ऐसी मुक्तावस्था को पुरुष प्राप्त कर लेता है, मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। १. जीवन्यमुक्ति—विवेकज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति को प्राप्त करता है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं, जीवन्मुक्त व्यक्ति कर्मव्यापार से विरत नहीं होता, प्रत्युत उसी अभिनिवेश तथा लगन से प्रारब्ध कर्मों के निष्पादन में जुटा रहता है, परन्तु उस स्थिति में कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। शरीर के नाश होने पर जब पुरुष ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) तथा आत्यन्तिक (अविनाशी) दुःखत्रय को प्राप्त कर लेता है। इसी की शास्त्रीय संज्ञा "विदेहमुक्ति" है। विज्ञानभिक्षु विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं क्योंकि जब तक पुरुष भोगायतन शरीर में निवास करता है तब तक शरीर धर्म से उसका प्रभावित होना भी सम्भव है। यह मतभेद मुक्ति के प्रकार में है, पर "त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति रूप मुक्ति" के स्वरूप में सबका एक मत है।

सांख्यदर्शन की व्यापकता तथा वास्तविकता

सांख्य दर्शन का महत्व केवल उसके नितान्त प्राचीनता के ही कारण नहीं है, अपितु उसके व्यापकता तथा वास्तविकता के कारण भी हैं।

सांख्य सिद्धान्त ऋक्वेद से लेकर काव्य जगत् तक व्याप्त है। सांख्य प्रतिपादित सिद्धान्तों का उल्लेख ऋक्वेद की ऋचा में इस प्रकार है--

"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्था: पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥"

(ऋ० १०।६४।५)

अदिते=हे अदिति, दक्षस्य जन्मनि व्रते=पुरुष के व्यवस्थानुकूल जन्म में (अर्थात् जब आदि सृष्टि में सर्वप्रथम पुरुष जन्म लेता है) राजाना=दीप्तियुक्त (अर्थात् जब जीव अन्तःकरण व स्थूल शरीर से युक्त होकर चेतन आत्मा के प्रकाश में आता है।) मित्रावरुणा=मित्र और वरुण की, विवासति=तुम परिचर्या करती हो। अतूर्तपन्था:=व्यवस्थित मार्ग वाला, पुरुरथ:=अनेक भोगों से युक्त, अर्यमा=विरोधों को सहन करने वाला, वह पुरुष होता है। विषुरूपेषु=इन विविध रूप वाले जन्मसु=जन्मों में। सप्तहोता=सात होताओं से युक्त वह है।

यहां दक्षपद पुरुष अर्थात् चेतन तत्व का द्योतक है और आदिति पद प्रकृति का बोधक है।

उपनिषदों में भी सांख्य सिद्धान्तों की उपलब्धि प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्व, रज, तम का यह त्रिगुण सिद्धान्त प्रथमतः दृष्टिगोचर होता है। प्रश्नोपनिषद् (६/२) में पुरुष की सोलह कलाओं का वर्णन है, जो

सांख्य के सूक्ष्म शरीर की कल्पना का मूल आधार है। श्वेताश्वतरोपनिषद् तो सांख्य सिद्धान्तों का भण्डार ही है, निम्नलिखित मन्त्र में प्रकृति की कितनी सुन्दर कल्पना की गई है—

प्रजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।। (श्वेता० ४/५)

सांख्यीय सिद्धान्तों का उल्लेख जैसे श्रुतियों में उपलब्ध है वैसे ही स्मृतियों में भी पाया जाता है। मनुस्मृति में सत्व, रज और तम—इन तीनों गुणों का विस्तार से वर्णन है। प्रथमाध्याय के ७६वें श्लोक में "**आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवह शुचिः**" की व्याख्या—**विकुर्वाणादहंकारात् आकाशस्तस्माद्वायुः** करते हुए मेधातिथि ने सांख्य सिद्धान्त का स्मृतियों में भी अस्तित्व सूचित किया है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी सांख्य-सिद्धान्तों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

पुराण तो सांख्य सिद्धान्तों के प्रतिबिम्ब स्वरूप ही हैं। भगवान् कृष्णद्वैपायन ने महाभारत में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि इस जगत् में जितने भी शास्त्र हैं उन सब की उत्पत्ति सांख्यशास्त्र से ही हुई है।

ज्ञानं महद्यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे ।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ।।

श्रीमद्भागवत् तो सांख्य-सिद्धान्त-रत्नों की मनोरम मञ्जूषा ही है। प्रकृति-विविक्त पुरुष के साक्षात्कार से ही मोक्ष मिलता है, वह नित्य शुद्ध बुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा भी आप (श्रीकृष्ण) ही हैं इस बात को महाकवि माघ ने अपने शिशुपाल-वध महाकाव्य में कितने सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथंचन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथक् विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ।।(१/३३)

इस प्रकार आदिकाल ऋग्वेद से लेकर काव्यजगत् तक सांख्य दर्शन का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। न केवल भारतीय वाङ्मय में ही, अपितु भारतीय जनमानस में भी इस दर्शन का अद्भुत प्रभाव है; क्योंकि प्रतिदिन किए जाने वाले देवर्षि-मनुष्य-पितृतर्पण में सांख्याचार्यों को जलांजलि दी जाती है—**कपिलस्तृप्यताम्**, आसुरिस्तृप्यताम्, वोढुस्तृप्यताम्, पंचशिखस्तृप्यताम् इत्यादि द्वारा।

सांख्य दर्शन अपनी प्राचीनता तथा व्यापकता से जितना ख्यात है, उससे भी कहीं अधिक वह अपनी वास्तविकता (यथार्थवाद) के लिए भी नितान्त प्रामाणिक तथा प्रसिद्ध है। इस दर्शन के सिद्धान्तों में कहीं भी ऐसी आपातरमणीय ऐन्द्रजालिक कल्पनाओं का अवलम्बन नहीं लिया गया है, जिससे कि किसी भी मननशील व्यक्ति

को वे मिथ्या प्रतीत हो। सृष्टि चक्र के निर्वाह के लिए सांख्य-दर्शन ने दो मौलिक तत्वों को माना है—प्रकृति तथा पुरुष। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, इन्हीं गुणों के क्षोभ से इस दृश्य जगत् की उत्पत्ति हुई है, इसमें कारण है—प्रकृति तथा पुरुष का संयोग, त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्यस्वरूप यह समस्त जगत् भी त्रिगुणात्मक ही है। यद्यपि बौद्ध, जैन, न्यायवैशेषिक आदि दर्शन इस जगत् के मूल तत्व को अत्यन्त सूक्ष्म "परमाणु" मानते हैं परन्तु सांख्य को यह सम्मत नहीं है। भौतिक परमाणुओं से स्थूल जगत् की उत्पत्ति भले ही सिद्ध की जा सके परन्तु उससे मन, बुद्धि जैसे सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अतः स्थूल और सूक्ष्म सकल कार्य की (जगत की) उत्पादिका प्रकृति ही हैं।

प्रकृति की सिद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य जगत् के भी त्रिगुणात्मक सुख-दुःख-मोहस्वरूप होने से हो जाती है, क्योंकि यह नियम है कि "**कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते**" अतः वह कार्यगुणसदृश मूलतत्व प्रकृति ही हैं।

पुरुष (आत्मा) की सत्ता स्वयंसिद्ध है : मैं हूं, यह मेरी लेखनी है—इस प्रकार प्रतिदिन के व्यवहार में "मैं और मेरी" ये शब्द आत्मा के ही परिचायक हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, जो हमेशा ज्ञाता के रूप में रहता है, वह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता, वह चैतन्य का आधार रूप द्रव्य नहीं है, बल्कि स्वयं चैतन्यरूप ही है, चैतन्य उसका गुण नहीं प्रत्युत स्वभाव है।

यद्यपि चार्वाकों ने भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया है, परन्तु वे उस (आत्मा) को भौतिक शरीर से पृथक् नहीं मानते। जैन दर्शन में भी आत्मा का अस्तित्व माना है, परन्तु उसे सावयव देह परिमाण विशेष ही माना है, क्योंकि उन्होंने जीव को चैतन्यमय माना है, वह निसर्गतः अनन्तज्ञानविशिष्ट है। बौद्ध चित्त-सन्तान को ही आत्मा मानते हैं, चित्त-सन्तान (चित्त परम्परा) से पृथक् आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। न्याय व वैशेषिक दोनों ही आत्मा को नित्य द्रव्य मानते हैं और ज्ञान आत्मा का गुण मानते हैं। मीमांसकों ने भी आत्मा को विभु तथा नित्य माना है और उसे नित्यज्ञानरूप, स्वप्रकाशसिद्ध किया है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि ये दर्शन भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, पर उसे द्रव्य मानते हैं। आत्मा के विषय में ये दार्शनिक अधिक सूक्ष्म विवेचन नहीं कर सके। वेदान्त आत्मा को आनन्दमय मानता है। सांख्य को यह भी सम्मत नहीं है, सांख्य आत्मा को केवल चैतन्यमय ही स्वीकार करता है। सुख या आनन्द तो प्रकृति का गुण है। परन्तु यह पुरुष आत्मा तो प्रकृति से भिन्न तत्व है, इसलिए यह आनन्दमय नहीं हो सकता।

प्रकृति से उद्भूत यह संघातमय जगत् अवश्य ही प्रकृति से भिन्न किसी के लिए है। वह कौन है ? इस जगत् से नितान्त विलक्षण पुरुष (आत्मा) ही है—इस तर्क से आत्मा की सिद्धि हो जाती है।

सांख्य प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् आत्मा मानता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जन्म-मरण में ज्ञान तथा क्रिया में बड़ा ही अन्तर है। यदि एक ही आत्मा होता तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सब पुरुषों का जन्म हो जाता, पर ऐसा होता नहीं, इसलिए यह मानना पड़ता है कि पुरुष (आत्मा) अनेक हैं। सत्कार्यवाद सांख्य दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है। सांख्याचार्यों का कार्य कारण के विषय में अपना एक विशिष्ट मत है, जो सत्कार्यवाद के नाम से विख्यात है। दार्शनिकों के सामने यह एक विशिष्ट प्रश्न है कि नाना प्रकार की सामग्री तथा प्रयत्न से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य कारण में विद्यमान रहता है या नहीं ? अर्थात् कुम्भकार दण्ड की सहायता से घड़ा बनाता है, तब क्या उत्पन्न होने से पहले घड़ा विद्यमान था या नहीं ? इसमें न्याय-वैशेषिक का उत्तर है—नहीं, घड़ा (कार्य) मिट्टी (कारण) में विद्यमान नहीं था (असत् कार्य) अपितु सामग्री की सहायता से घड़े की उत्पत्ति होती है। नैय्यायिकों का यह सिद्धान्त असत्कार्यवाद के नाम से प्रख्यात है।

सांख्य का सिद्धान्त इससे भिन्न है। उसका कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में अवश्य ही अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य तथा कारणों से वस्तुत: अभिन्नता है। अर्थात् कारण की अवस्था विशेष ही कार्य है। अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि वस्तुत: कारण में कार्य की सत्ता नहीं होती तो कर्त्ता चाहे कितना ही प्रयत्न करे वह कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है यदि ऐसा नहीं होता तो कोई भी कार्य किसी कारण से उत्पन्न हो जाता, क्या कारण है कि तेली तेल के लिए सरसों या तिलों को ही कोल्हू में पेरता है, क्यों नहीं वह मिट्टी या कंकड़ को कोल्हू में डालकर तेल निकालता ? उत्तर यह है कि तेल (कार्य) सरसों या तिल (कारण) में पहले से ही विद्यमान है। इसीलिए इस कार्य के लिए उसी विशेष उपादान (सामग्री) को हम ग्रहण करते हैं।

इस सत्कार्यवाद के भी दो रूप होते हैं --1. परिणामवाद और 2. विवर्तवाद।

परिणाम वहां होता है जहां कारण से उत्पन्न कार्य वास्तविक होता है। जैसे—दूध से दही की उत्पत्ति। यहां दही वस्तुत: सच्ची चीज है। वह आकार में, रूप में तथा फल में भिन्न होता हैं, दही जमा हुआ होता है तथा स्वाद में मीठापन लिए होता है, जो दूध के मिठास से भिन्न होता है।

अत: कार्यों को वास्तव में सच्चे रूप में बतलाने वाला सिद्धान्त परिणामवाद है। सांख्य दर्शन परिणामवाद सिद्धान्त को ही मानता है।

विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त का है। उसका कहना है कि जो कार्य दिखाई पड़ता है, वह वास्तविक न होकर केवल आभासमात्र है। कार्य की केवल प्रतीति होती है

उसकी वस्तुस्थिति नहीं रहती है। अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी को देखकर हम डरकर भागते हैं कि यह सांप है। यहां रज्जु में सर्प उत्पन्न होता है परन्तु यह कल्पना मात्र है सच्ची घटना नहीं, क्योंकि दीपक को लाने पर रज्जु के रूप को ही हम देखते हैं, सांप को नहीं। इसी प्रकार अद्वैत के अनुसार ब्रह्म से ही यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न होता है, परन्तु यह जगत् असत्य है, कोरी कल्पना है, स्वप्न के समान मिथ्या है, ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है। इस सिद्धान्त का नाम है—विवर्तवाद अर्थात् कारण से कार्य का असत्य रूपान्तर।

सांख्य-पदार्थ मीमांसा

सांख्य दर्शन में सृष्टि के निर्वाह के लिए, भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि के लिए पच्चीस तत्वों को माना है। वे पच्चीस तत्व इस प्रकार हैं—१. **प्रकृति**; २. **महान्**; ३. **अहंकार** (पञ्च तन्मात्रायें); ४. **शब्द**; ५. **स्पर्श**; ७. **रूप** रस; ८. **गन्ध** (पञ्च ज्ञानेन्द्रियां); ९. **चक्षु**; १०. **त्वक्**; ११. **श्रोत्र**; १२. **रसना**; १३. **घ्राण** (पञ्च कर्मेन्द्रियां); १४. **वाक्**; १५. **पाणि**; १६. **पाद**; १७. **पायु**; १८. **उपस्थ** (उभयात्मक); १९. **मन** (पञ्चमहाभूत); २०. **पृथिवी**; २१. **अप्**; २२. **तेजस्**; २३. **वायु**; २४. **आकाश**; २५. **पुरुष** (आत्मा)।

इन पच्चीस तत्वों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया गया है—**१. प्रकृतिः**; २. **विकृति**; ३. **प्रकृति-विकृतिः**; ४. **प्रकृति-तथा विकृति से रहित**।

इनमें मूल **प्रकृति**—अर्थात् सत्व, रज और तमो गुण की साम्यावस्था केवल प्रकृति है, वह किसी का विकार नहीं हैं, क्योंकि वह महदादि विकारों की जननी है। यही इस विश्व प्रपञ्च का मूल है, इसीलिए इसे मूल प्रकृति कहते हैं। इसका कोई अन्य मूल (कारण) नहीं है। **विकृति** पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियां, एक मन ये सोलह तत्व केवल विकृति (विकार) ही हैं। ये तत्त्व स्वयं पञ्चतन्मात्राओं से और अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन को विकार कहते हैं। आगे इन से किसी तत्वान्तर की उत्पत्ति नहीं होती है, अतएव ये किसी की प्रकृति नहीं हैं।

प्रकृति-विकृति—महत्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रायें ये सात तत्व प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं, क्योंकि ये स्वयं प्रकृति आदि से उत्पन्न होते हैं, इसलिए विकृति हैं और आगे पञ्चमहाभूत व एकादश इन्द्रियों के जनक होने से प्रकृति भी हैं।

प्रकृति-विकृति रहित—पुरुष (आत्मा) से कोई तत्व उत्पन्न नहीं होता इसलिए वह प्रकृति है और न इसको कोई उत्पन्न करता है, इसलिए यह (पुरुष)

किसी का विकार भी नहीं है।

प्रमाण

प्रमेय (पदार्थों) की सिद्धि प्रमाणाधीन है, अतः प्रमेय निरूपणानन्तर उनके साधक प्रमाणों का निरूपण भी आवश्यक है। सांख्य दर्शन तीन प्रमाणों को मानता हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आप्तवचन)।

१. प्रत्यक्ष—इन्द्रियों के साथ किसी विषय के संयोग होने पर जो उसका साक्षात् ज्ञान होता है, (अर्थात् विषमाकार से परिणत वृद्धि वृत्ति का जो अध्यवसाय होता है) उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

२. अनुमान—व्याप्तिज्ञान पूर्वक हेतु से जहां साध्य का ज्ञान किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—**पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट**।

पूर्ववत्—पूर्व—पहले अनुभूत सम्बन्ध पर आश्रित अनुमान—जैसे धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान। यहां धूम तथा वह्नि के निश्चित सम्बन्ध का ज्ञान हमें (पूर्व) पहिले ही पाठशाला (रसोई) आदि में हो जाता है।

शेषवत्—यह अनुमान वहां होता है जहां वस्तुओं के छांटने पर एक वस्तु शेष रह जाती है जैसे—शब्द के गुण होने का अनुमान। कतिपय हेतुओं के द्वारा अर्थात्-चाक्षुषादि प्रत्यक्ष का विषय न होते हुए बहि—इन्द्रिय-श्रोत्र ग्राह्य होने से स्पर्शादि की तरह अन्य छः पदार्थों से शब्द को अलग छांटा जाता है।

सामान्यतोदृष्ट—यह अनुमान वहां होता है, जहां हेतु तथा साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का दर्शन हमें नहीं होता। जैसे—इन्द्रियों के अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता, फलतः उनकी सत्ता का ज्ञान अनुमान से ही होता है। किसी भी दर्शनादि क्रिया के लिए करण या साधन की आवश्यकता रहती है, साधन के बिना क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती, प्रत्येक क्रिया करण से युक्त होती है। इसी व्याप्ति के आधार पर इन्द्रियों के अस्तित्व का अनुमान हो जाता है। यहाँ सामान्य (करण) का ही दर्शन होता है, (न कि इन्द्रिय तथा क्रिया के निश्चित सम्बन्ध का) अतः इसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं।

अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में—माठर वृत्ति में अनुमान के प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है—पूर्ववत्-जहां विशिष्ट मेघोन्नित से आगे होने वाली वृष्टि का अनुमान किया जाय, उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं, क्योंकि पहिले भी ऐसा देखा गया है।

शेषवत्—जैसे समुद्र से एक बूंद जल पीकर शेष जल भी नमकीन ही होगा ऐसा अनुमान जहां किया जाय वह शेषवत् है।

सामान्यतोदृष्ट—एक जगह पुष्पित आम्र को देखकर अन्यत्र भी आम्र पुष्पित होंगे ऐसा अनुमान जहां किया जाय वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

३. **शब्द**—आप्तवचन को शब्द कहते हैं। **आप्त** का अर्थ है, सच्चा विश्वस्त पुरुष उसके द्वारा कहे हुए वचन प्रामाणिक होते हैं। शब्द दो प्रकार का होता है, लौकिक और वैदिक। पुरुषों के द्वारा व्यवहृत शब्द लौकिक कहलाते हैं वे प्रमाण कोटि में नहीं आते, क्योंकि वे प्रत्यक्ष व अनुमान पर आश्रित होते हैं। वैदिक वाक्य ही प्रामाणिक होते हैं, ये शब्दप्रमाण माने जाते हैं।

कार्यकारणभाव

इस जगत् के समस्त पदार्थ महदादि सीमित तथा अस्वतन्त्र होने के कारण कार्य रूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूलतत्त्व से अवश्य हुई होगी। इसी मूल-तत्त्व का अन्वेषण तथा तात्त्विक विवेचन करना प्रत्येक दर्शन का कर्त्तव्य है। सांख्य दर्शन के अनुसार इस समस्त भूमण्डल के स्थूल व सूक्ष्म पदार्थों का मूल कारण प्रकृति (प्रधान) है, ये महदादि इसके कार्य हैं।

यद्यपि प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय गोचर नहीं है तथापि महदादि रूप उस प्रकृति के कार्य अवश्य दिखाई देते हैं। इसी महदादिरूप कार्य से इनके कारण मूलभूत प्रकृति का भी अनुमान लग जाता है।

सत्कार्यवाद

कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम ही कारण है और कारण की व्यक्तावस्था का नाम ही कार्य है। अर्थात् कार्य जब तक प्रकट नहीं होता तब तक वह वस्तु कारण है किन्तु जब वह प्रकट हो जाता है तब कार्य कहलाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कारण की ही अवस्था विशेष कार्य है, अन्तर केवल इतना ही है कि कारणावस्था में वह वस्तु अव्यक्तरूप में रहती है और कार्यावस्था मे व्यक्त हो जाती है। जैसे—तिलों में तेल, दही में घी, क्योंकि कारण सत् है तो कार्य भी सत् ही है। यही प्रसिद्ध सांख्य दर्शन का सत्यकार्यवाद सिद्धान्त है। कारिकाकार ने पांच प्रबल हेतुओं के द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि की है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥९॥

गुणों का स्वरूप

जिन द्रव्यों का संघात स्वरूप प्रकृति है, उन्हें गुण कहते हैं। ये तीन हैं, सत्व, रज और तम। रस्सी की तरह ये भी पुरुष के बन्धन के हेतु होने से इनका नाम गुण है। ये प्रकृति के स्वरूपाधायक अंग रूप हैं तथा पुरुष को अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए सहायक या उपकारक भी होते हैं।

सत्व का स्वरूप—सत्व गुण लघु (हल्का) प्रकाशक तथा इष्ट (आनन्दरूप) होता है। संक्षेप में यह सुखात्मक होता है।

रजोगुण का स्वरूप—रजोगुण स्वयं चञ्चल होता है। यह क्रिया का प्रवर्तक होता है। सत्व और तम निष्क्रिय ही होते हैं, उनमें गति प्रदान करने का काम रजोगुण ही करता है। संक्षेप में यह दुःखात्मक होता है।

तमोगुण का स्वरूप—तमोगुण गुरु (भारी) तथा रोकने वाला होता है। यह सत्व गुण का विरोधी गुण होता है, यह मोह या अज्ञान पैदा करता है। जडता तथा निष्क्रियता का प्रतीक है। संक्षेप में यह मोहात्मक होता है।

प्रकृति

सत्व, रज व तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, अर्थात् प्रकृति में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। इसलिए प्रकृति के परिणामस्वरूप इस जगत् में तथा जागतिक पदार्थों में भी—ये तीनों (सत्व, रज और तम) गुण विद्यमान रहते हैं। जगत् के प्रत्येक पदार्थ की त्रिगुणात्मकता इसी से सिद्ध है कि एक ही वस्तु किसी के हृदय में आनन्द, किसी के दुःख और किसी के चित्त में मोह पैदा करती है।

सांख्य में प्रकृति मूलतत्व है, वह नित्य है। चेतन के संयोग से प्रकृति के इन गुणों में जब वैषम्य आता है तब सृष्टि होती है। सृष्टि से पूर्व यह समस्त कार्यरूप जगत् प्रकृति में अव्यक्त रूप से रहता है, इसीलिए इसे अव्यक्त भी कहते हैं।

पुरुष

सांख्य दर्शन में पुरुष की सिद्धि के लिए प्रबल युक्तियां प्रस्तुत की गयी हैं। जगत् के समस्त पदार्थ संघातमय हैं, भवन—ईंट, पत्थर, चूना, लकड़ी आदि वस्तुओं का समुदाय मात्र है पर भवन स्वयं भवन के लिए नहीं, अपितु भवन से अतिरिक्त किसी व्यक्ति के लिए है, जो उसका मालिक है।

वस्त्र भी अनेक तन्तुओं का समुदाय होता है, पर स्वयं अपने लिए न होकर अपने से भिन्न किसी व्यक्ति के लिए है। अर्थात् संघातमय पदार्थों का स्वभाव ही यह है कि वे परार्थ के लिए होते हैं।

इसी प्रकार प्रकृति से उद्भूत यह संघातमय जगत् भी अवश्य ही प्रकृति से अन्य है, वह है कौन ? वह है पुरुष (आत्मा) इस जगत् से नितान्त विलक्षण

जिस प्रकार चेतनाधिष्ठित रथ की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार चेतनाधिष्ठित इस जड़ जगत् की भी प्रवृत्ति देखी गई है। वही चेतना आत्मा या पुरुष है, संसार के समस्त विषय भोग्य हैं, अतः इनका भोक्ता, भोग करने वाला भी कोई न कोई अवश्य ही होगा, जो गुणों से नितान्त भिन्न तथा विलक्षण होगा, भोग्य विषयों का भोक्ता ही पुरुष है।

मुक्ति के लिए प्रयत्न करना इसी बात का प्रमाण है कि कोई पदार्थ अवश्य ऐसा है जो क्लेशों से निवृत्ति दिला सकता है, वही पदार्थ पुरुष (आत्मा) है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

पुरुष की अनेकता

सांख्य दर्शन के पुरुष बहुत्व की कल्पना भी उसके यथार्थ तथा वास्तववाद को स्पष्ट रूप से प्रभावित करती है। यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि अद्वैत वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदकत्ववाद के सिद्धान्त सरोवर का मूल उत्स यही सांख्य दर्शन का पुरुष बहुत्ववाद रहा होगा।

सांख्य दर्शन प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् आत्मा मानता है, क्योंकि तभी जन्म-मरणादि व्यवस्था भी सम्भव है। यदि प्रत्येक जीव में एक ही आत्मा होता तो, एक के जन्म लेने पर सभी का जन्म हो जाता, एक के मरने पर सबकी मृत्यु हो जाती और सब में एक जैसी प्रवृत्ति दिखाई देती पर संसार में ऐसा होता नहीं है। इन जन्म-मरणादि व्यवस्था से तथा विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों से यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न आत्मायें हैं। कारिकाकार ने बड़े सुन्दर शब्दों में इस बात को दर्शाया है—

जनन-मरण-करणानां प्रतिनियमात् अयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ॥१८॥

महत्

प्रकृति के सात्विक अंश से जो तत्व सर्वप्रथम उत्पन्न होता है उसे महत् कहते हैं। इसी को बुद्धि भी कहते हैं, जो प्रत्येक जीव में रहती है। बुद्धि का विशेष कार्य है-निश्चय तथा अध्यवसाय करना। पुरुष के भोग तथा अपवर्ग का मुख्य साधन बुद्धि ही है। यह स्वयं अपने को तथा विषयों को भी प्रकाशित करती है। सत्व गुण की अधिकता से बुद्धि में धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इन चार गुणों का उदय होता है, परन्तु तमो गुणं के उदय होने से बुद्धि में इसके विपरीत गुण, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य उत्पन्न हो जाते हैं, बुद्धि प्रकृति का कार्य होने से स्वयं जड़ है। परन्तु वह

पुरुष के अधिक सन्निकट में आने वाली वस्तु है। इसीलिए पुरुष (आत्मा) के चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पड़ता है, जिससे वह भी चेतन के समान प्रतीत होती है। इसी बुद्धि के द्वारा प्रत्येक पुरुष अपने कर्त्तव्य का निश्चय करता है।

अहंकार

प्रतिक्षण परिणामशील महत्तत्व के रजोगुणांश से अहंकार की उत्पत्ति होती है। मैं और मेरा ऐसा अभिमान करना ही अहंकार का स्वरूप है। पुरुष (आत्मा) के कर्त्ता, भोक्ता, सुख-दुःखादि के आरोप का मूल कारण यह अहंकार ही है। अहंकार तीन प्रकार का होता है—१ वैकृत=सात्विक=जिससे एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। २—भूतादि=तामस=जिससे पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। ३—तैजस=राजस=उभयतत्व और तमोगुण का प्रवर्त्तक है।

परन्तु विज्ञान भिक्षु के मत में सात्विक अहंकार से मन उत्पन्न होता है और राजस से दस इन्द्रियां तथा तामस से पंचतन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) होती हैं।

पंचमहाभूत

तामस अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये तो पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न हुई हैं, ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। इन्हीं शब्दादि पंचतन्मात्राओं के योग से (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है।

(१) शब्दतन्मात्रा से शब्द गुण वाले आकाश की उत्पत्ति होती है। (२) शब्द के साथ स्पर्श तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है (जिसका गुण शब्द-स्पर्श है)। (३) शब्द स्पर्श सहित रूप तन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है, (जिसमें शब्द-स्पर्श तथा रूप गुण विद्यमान हैं)। (४) शब्द-स्पर्श रूप सहित रस तन्मात्रा से जल की उत्पत्ति होती है (जिसमें शब्द-स्पर्श रूप, रस गुण विद्यमान रहते हैं)। (५) शब्द-स्पर्श-रूप-रस सहित गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है (जिसमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पांचों गुण विद्यमान रहते हैं।

करण (इन्द्रियां)

पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां और मन-बुद्धि, अहंकार (अन्तःकरण) यह सब मिलाकर तेरह प्रकार के करण होते हैं। इनमें भी मन, बुद्धि व अहंकार यह त्रिविध अन्तःकरण प्रधान है। अन्तःकरण में भी बुद्धि की प्रधानता है, क्योंकि बाह्य-इन्द्रियां विषय का आलोचन कर मन को अर्पण कर देती हैं, मन भी संकल्पपूर्वक अहंकार को अर्पण कर देता है, अहंकार भी उस विषय को अधिकृत कर बुद्धि के लिए अर्पण कर देता है, बुद्धि अध्यवसायपूर्वक (निश्चय करके) उस विषय को पुरुष के समक्ष

प्रस्तुत करती है।

सूक्ष्म शरीर

त्रिविध अन्तःकरण, दस प्रकार का बाह्यकरण, पंचतन्मात्रायें, यह अठारह तत्त्वों का समुदाय ही सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर कहलाता है। विज्ञानभिक्षु ने अहंकार का बुद्धि में ही अन्तर्भाव दिखाकर सत्रह तत्त्वों के समुदाय को ही लिंग शरीर माना है।

सांख्याचार्यों का कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक जीव का अलग-अलग सूक्ष्म शरीर रहता है और वह स्थूल (पंच-भौतिक) शरीर का आश्रय लेता है। परन्तु स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी सूक्ष्म (लिंग शरीर) शरीर नष्ट नहीं होता अपितु पूर्व वासना से वासित हो शरीरान्तर में प्रवेश करता रहता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर प्रलय पर्यन्त रहता है। प्रलयावस्था में स्वयं प्रकृति में लीन हो जाता है।

सृष्टि

प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि होती है। प्रकृति पुरुष दोनों का संयोग ही सृष्टि का उत्पादक है। प्रकृति स्वयं अचेतन है और पुरुष चेतन होता हुआ भी निष्क्रिय है। यद्यपि प्रकृति में क्रिया शक्ति है, पर स्वयं जड़ होने से सृष्टि में प्रवृत्त नहीं हो सकती है। अतः चेतन (पुरुष) की अध्यक्षता में ही अचेतन (जड़) प्रकृति भी सृष्टिकार्य सम्पादन कर सकती है।

इस विषय में कारिकाकार ने बड़ा ही रोचक दृष्टान्त दिया है वह इस प्रकार है—एक पंगु था और एक अन्धा। इन्हें किसी जगह जाना था, पंगु (लंगड़ा) मार्ग दिखा सकता था पर स्वयं (निष्क्रिय) चल नहीं सकता था। उधर अंधा चल सकता था परन्तु मार्ग नहीं देख सकता था। उन दोनों ने आपस में सलाह की, पंगु ने अंधे से कहा, "तुम मुझे अपने कन्धे पर बैठा लो मैं तुम्हें रास्ता बताता रहूंगा और तुम चलते रहोगे।" इस प्रकार दोनों चल दिए और अपने अभीष्ट स्थान को पहुंच गए। पारस्परिक संयोग से जिस प्रकार ये दोनों अपनी स्वार्थ सिद्धि में सफल हो गए, इसी प्रकार जड़ात्मिका किन्तु सक्रिय प्रकृति तथा निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष का संयोग भी परस्पर कार्य साधक है। प्रकृति भोग्य है, अतः भोक्ता के अभाव में प्रकृति का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। भोक्ता के द्वारा दृष्ट या अनुभूत होने पर ही प्रकृति का भोग्यत्व निष्पन्न होता है और पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिए बना रहता है कि वह उससे विवेक ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की सिद्धि करता रहे।

विवेकख्याति

प्रकृति जड़तत्व है, परन्तु पुरुष चेतनतत्व है। वह (पुरुष) निःसंग है, परन्तु

उसका स्वभाव होता है कि प्रकृति के समस्त धर्मों को वह अपना ही समझता है। बुद्धि (या अन्तःकरण) जो सुख या दुःख भोगती है, उसे ही पुरुष अपने ऊपर ले लेता है; और अपने को सुखी या दुःखी मानने लगता है। जिस प्रकार कोई स्वामी अपने सेवक के अपमान से अपने को अपमानित मानता है तथा पिता पुत्र के आदर पाने पर अपने को आदृत एवं सत्कारमण्डित समझने लगता है; उसी प्रकार पुरुष प्रकृति के सुख से अपने को सुखी मानता है तथा उसके दुःख से अपने को दुःखी मानता है। इस आरोप का जब विवेकज्ञानपूर्वक अन्त होता है, तभी पुरुष दुःखों से मुक्ति पाता है। बुद्धि में आत्मभावना न होने से बुद्धिगत सन्तापों से सन्तप्त नहीं होता है। इसी की शास्त्रीय संज्ञा—विवेक-ख्याति है, अर्थात् विवेकज्ञान, प्रकृति से पुरुष को अलग समझने का ज्ञान।

मुक्ति या कैवल्य

पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोग से प्रकृतिजन्य दुःख का पुरुष में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही पुरुष के लिए दुःखभोग या संसार है। अतः संसार का मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृत्ति का साधन विवेक है। सांख्यसूत्र में भी कहा है—**द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः** (३/६५) इन दोनों में से (प्रकृति तथा पुरुष में से) एकतर चेतन आत्मा का विवेक ज्ञान हो जाने पर प्रकृति के सम्पर्क में न रहना "अपवर्ग" (मोक्ष) कहा जाता है, यही पुरुष का एकाकी होना ही कैवल्य है। इसलिए ईश्वर कृष्ण का यह कथन नितान्त युक्ति-युक्त है—"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।"

अर्थात् बन्ध-मोक्ष धर्म वस्तुतः प्रकृति के ही हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष के मुक्ति प्राप्त कर लेने का अभिप्राय यही है, कि वह अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग केवल की दशा को प्राप्त कर लेता है। पुरुष प्राकृत बन्धनों से उन्मुक्त होने वाला, अमरणधर्मा, अपरिवर्तनशील नित्य सत्य पदार्थ है, यह जान लेना ही पुरुष का कैवल्य है। इस प्रकार के तत्वज्ञान से विवेक सिद्धि होती है, जिसका फल है निःशेष दुःखनिवृत्ति, इसी दशा में पुरुष की कृतकृत्यता है।

सांख्याचार्य

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महामुनि आदि विद्वान् कपिल ही हैं। इनकी माता का नाम "देवहूति" था और पिता का नाम "कर्दम" था। यह देवहूति आदिराज मनु-भगवान् की कन्या थी, मनु की शतरूपा नामक रानी से उत्तानपाद तथा प्रियव्रत नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए और देवहूति नाम की एक कन्या हुई। कर्दम मुनि का आश्रम

सरस्वती नदी के तट पर बिन्दुसर नामक तीर्थ में था। महामुनि कर्दम अपने आश्रम में ही तपश्याचर्या में मग्न थे। ब्रह्मा की आज्ञा से महाराज मनु ने अपनी पुत्री देवहूति का पाणिग्रहण संस्कार महामुनि कर्दम के साथ किया। इसके बाद कर्दम से देवहूति की नौ कन्यायें हुईं और दशवें पुत्र महामुनि कपिल हुए।

प्रदीप्त प्रतिभाशाली महामेधावी तार्किक सार्वभौम यह महामुनि, विष्णु के चौबीस अवतारों में पांचवें अवतार रूप में इस महीमण्डल में अवतीर्ण हुए। जैसा कि श्रीमद्भागवत में लिखा है--"**पञ्चमः कपिलो नामः सिद्धेश कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरत्ये सांख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम्।।**"

जन्म से ही यह महातमा अलौकिक वैदुष्य सम्पन्न था। सांख्य दर्शन के महान् सिद्धान्त इसी महामुनि के मस्तिष्क में सर्व प्रथम प्रस्फुरित हुए।

परमर्षि कपिल ने सांख्य सिद्धान्तों का प्रणयन सूत्र रूप में किया, जो कि सांख्यसूत्र या सांख्यषडध्यायी के नास से प्रसिद्ध है। ५३७ सूत्रों के उक्त ग्रन्थ को छह अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय में विषय का प्रतिपादन, दूसरे में प्रधान के कार्यों का निरूपण, तृतीय में वैराग्य, चतुर्थ में आख्यायिका, पंचम में परपक्ष निरूपण, षष्ठ में सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय है।

तत्व समास को भी अनेक विद्वान् कपिल की ही रचना मानते हैं, यह केवल २२ सूत्रों का लघु ग्रन्थ है।

आसुरि—कपिल के साक्षात् शिष्य थे। माठरवृत्ति में इनका विस्तृत वर्णन है। प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र इनके सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं।

पञ्चशिख—षष्टि तन्त्र नामक ग्रन्थ के प्रणेता पञ्चशिखाचार्य आसुरि के प्रमुख शिष्य का सांख्य दर्शन के प्रतिष्ठापकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके कतिपय सिद्धान्त-विषयक-सूत्र प्रमाण के लिए व्यासभाष्य में उद्धृत किए गए हैं। "साठ प्रधान विषयों की व्याख्या के कारण इस ग्रन्थ का नाम षष्टितन्त्र है" ऐसा वाचस्पति मिश्र का कथन है। चीनी ग्रन्थों के अनुसार इस षष्टिसहस्त्र श्लोकात्मक षष्टितन्त्र की रचना पञ्चशिख ने की थी।

वार्षगण्य—व्यासभाष्य में एक-दो जगह पर वार्षगण्य के कुछ सिद्धान्त वाक्य उपलब्ध होते हैं। पर इनके समय व रचना के विषय में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि राजवार्तिक ग्रन्थ वार्षगण्य की रचना है, गवेषकों को इस विषय का परिशीलन करना चाहिए। सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में भार्गव-उलूक, बाल्मीकि, हारीत, देवल आदि आचार्यों का उल्लेख है, पर उनकी रचना आदि के

विषय में अभी तक कोई निर्णय नहीं हुआ ।

ईश्वरकृष्ण—सांख्य सिद्धान्त के पारंगत श्री ईश्वरकृष्ण द्वारा विरचित "सांख्य कारिका" सांख्य सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए प्रामाणिक तथा लोक प्रिय ग्रंथ हैं । इनकी प्रमाणिकता तथा लोकप्रियता तो इसी से सिद्ध है कि शंकराचार्य जैसे दार्शनिकों ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में सांख्यमत के उपन्यास के अवसर पर सांख्य सूत्रों का निर्देश न करके इन्हीं की कारिकाओं का उद्धरण दिया है ।

चीनी पण्डित परमार्थ ने छठी शताब्दी में चीनी भाषा में माठर वृत्ति सहित सांख्य कारिका का अनुवाद किया । सांख्यकारिका का रचनाकाल—ईसवी प्रथम शतक के बहुत पूर्व माना जाता है क्योंकि जैन ग्रंथ **अनुयोग द्वारसूत्र** की रचना ईसवी प्रथम शतक निश्चित है और इस ग्रन्थ में कनगसत्तरी नाम का उल्लेख उपलब्ध है, यह नाम सांख्यकारिका का ही है, ऐसा संस्कृत साहित्य के इतिहासकार बलदेव उपाध्याय आदि का कहना है ।

कारिका की टीकायें

सांख्य कारिका की अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकाएं उपलब्ध होती हैं जिनमें आचार्य माठर द्वारा निर्मित माठर-वृत्ति सबसे प्राचीन है । वृत्तिकार का "माठर" यह मुख्य नाम है, गोत्र नाम है या उपनाम है, यह असंदिग्ध एवं अनिर्णीत है । परन्तु यह वृत्ति माठर के ही नाम से प्रसिद्ध है । माठर के काल के विषय में विद्वानों की धारणायें इस प्रकार हैं—सांख्य सप्तति या सांख्यकारिका के उपलभ्यमान सभी व्याख्या ग्रन्थों में माठरवृत्ति ही सबसे प्राचीन है । सांख्यकारिका की प्राचीन टीका युक्ति दीपिका में अनेक स्थलों पर ऐसे मतों का स्मरण किया गया है अथवा उनका खण्डन किया गया है जो माठर वृत्ति में उपलब्ध है । युक्ति दीपिका के उन स्थानों का सहज ही अनुमान लग जाता हैं कि ये माठर वृत्ति से लिए गये हैं, जैसे—

माठर	युक्ति दीपिका
आहरकं धारकं प्रकाशकं चतदिति-तत्राहारकमिन्द्रिय लक्षणम् धारकमभिमान मनोलक्षणम् प्रकाशकं बुद्धि लक्षणम् ।	**अपर आह—आहरकं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति धारणं, मनोऽहंकारश्च प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति ।**

युक्ति दीपिकाकार ने **अपर आह** कहकर जिस मत का उल्लेख किया है वह माठर का ही मालूम पड़ता है और वही यह उद्धृत किया गया है। इस प्रकार युक्तिदीपिकाकार ने माठरवृत्ति का अपनी व्याख्या में प्रचुर [illegible]त्रा में उपयोग किया है । निम्नलिखत वाक्यों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

आर्या २८ की माठरवृत्ति व्याख्या में—**मात्र शब्दोऽविशेषार्थः यथा भिक्षा**

मात्रं लभ्यते, नान्यो विशेषः ।

युक्ति दीपिकाकार ने इन शब्दों को अपनी व्याख्या में इस प्रकार रखा है— **मात्र शब्दो विशेष निवृत्यर्थः तद्यथा भैक्ष्यमात्रमस्मिन् ग्रामे लभ्यत इत्युक्ते नान्यो विशेषः इति ज्ञायते ।**

युक्तिदीपिका के लेखक के विषय में अभी कोई प्रामाणिक निर्णय नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह अज्ञातनामा किसी राजा की रचना है। श्री उदयवीर शास्त्री जी के "सांख्य दर्शन का इतिहास" नामक ग्रंथ के आधार पर युक्तिदीपिका का रचनाकाल विक्रम पञ्च शतक के आस-पास अनुमान लगाया जाता है। अतः माठर वृत्ति का समय इससे भी पूर्व होना चाहिए ।

सांख्यकारिका की एक और प्राचीन टीका गौडपाद भाष्य है। इसका रचना काल विक्रम छठे शतक का उत्तरार्ध है। **भाषा व विचारों की दृष्टि से "गौडपाद भाष्य" माठर वृत्ति का ही संक्षिप्त रूप मालूम पड़ता है।** अतः गौडपादभाष्य से भी माठर प्राचीन है ।

जैन सम्प्रदाय के अनुयोग द्वार सूत्र नामक ग्रंथ में कुछ आर्य ग्रन्थों के नामों के साथ साथ माठर का भी उल्लेख है। आधुनिक विद्वानों ने अनुयोग द्वार सूत्र का समय ईसा की प्रथम शती ही माना है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि माठर वृति का रचनाकाल ईसा का प्रथम शतक का प्रारम्भ काल होना चाहिए। पं० वलदेव उपाध्याय द्वारा रचित भारतीय दर्शन के अनुसार आचार्य माठर महाराजा कनिष्क के समसामयिक माने गए हैं।

थानेश चन्द्र उप्रेति

———

अथ मङ्गलाचरणम्

सर्वविद्याविधातारमादित्यस्थं सनातनम् ।
नतोऽस्मि परया भक्त्या कापिलं ज्योतिरीश्वरम् ॥१॥

कपिलाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधौ जगति मग्ने ।
कारुण्यात् सांख्यमयी नौरिह विहिता प्रतरणाय ॥२॥

नमस्कृत्य तु तं तस्य वक्ष्ये ज्ञानस्य कारणम् ।
हिताय सर्वशिष्याणामल्पग्रन्थसमुच्चयम् ॥३॥

अनुवाद—सम्पूर्ण विद्याओं के विधाता, आदित्य में स्थित, सनातन, कपिल वर्ण की उस दिव्यज्योति, परमात्मा को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१॥

उस कपिल को नमस्कार है, जिसनें अज्ञानसागर में डूबे हुए इस संसार के पार उतरने के लिए करुणा करके सांख्यशास्त्ररूपी नाव को तैयार किया ॥२॥

भगवान् कपिल को नमस्कार कर, सभी शिष्यों के हित के लिए संक्षिप्त ग्रन्थ संग्रह के रूप में उन्होंने जिस ज्ञान का प्रसार किया, उसके विषय में आगे कहूँगा ॥३॥

सांख्यकारिका

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

अनुवाद—आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक, तीनों दुःखों के असह्य सम्बन्ध से सन्तप्त होकर, सभी लोगों की प्रवृत्ति उन तीनों दुःखों के विनाशक हेतु विवेकज्ञान (सांख्यशास्त्र) की ओर होती है। यदि लोक प्रसिद्ध सरल उपाय से ही दुःखनिवृत्ति हो जाय, तो सांख्यशास्त्र जैसे दुष्कर तथा श्रमसाध्य विवेक ज्ञान में वह जिज्ञासा व्यर्थ है, इस आशङ्का का परिहार करते हुए बतलाते हैं कि लौकिक उपायों से उन दुःखों की निवृत्ति अवश्यम्भावेन और सर्वथा नहीं हो सकती है ॥१॥

मा० वृत्ति—अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते—

स्थानं निमित्तं वक्ता च श्रोता श्रोतृप्रयोजनम् ।
सम्बन्धाद्यभिधानं च उपोद्घातः स उच्यते ॥

इह हि भगवान् महर्षिः सांसिद्धिकधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नो भगवतः पुराणपुरुषस्यावतारो जगदनुजिघृक्षया प्रजापतेः कर्दमस्य पुत्रः स्वायम्भुवस्य मनोर्दुहितरि देवहूत्यां कपिलो नाम बभूव । स तेन गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपेण ज्ञानेनापारपारं दिदर्शिषया हस्तावलम्बेनेव, कालाहिदश्यमानजगतः सुधामणिनेव, दुश्चिकित्स्यस्य भवव्याधेरपनयनाय सम्यगौषधेनेव, अविद्यान्धकारप्रध्वंसनप्रदीपेनेव मुक्तिमार्गविरोधि मोहवृक्षविवृश्चनकुठारेणेवाऽमुनाऽवबोधेन सम्पन्नोऽन्धे तमसि मज्जज्जगदिदमद्राक्षीत् । तदवलोक्यास्य कारुण्यमुदपादि, अहो खल्विदं जगदनादिकालसम्बद्धं निसर्गादेव अन्धे तमसि वर्तत इति ।

अनुवाद—इस आर्या की उपोद्घात सङ्गति दिखलाते हैं :—स्थान, निमित्त, वक्ता, श्रोता, और सुनने का प्रयोजन और ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध का कथन जहां किया जाता है, उसे उपोद्घात कहते हैं ।

प्रकृत शास्त्र के वक्ता भगवान् महर्षि कपिल हैं, जिन्हें धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, स्वतः सिद्ध थे, जो भगवान् नारायण के अवतार थे, संसार को अनुगृहीत करने की इच्छा से प्रजापति कर्दम के पुत्र बनकर, स्वायम्भुव मनु की सुता देवहूति में जिन्होंने जन्म लिया, जो भगवान् (कपिल) हस्तावलम्बन की तरह प्रकृति पुरुष विवेकज्ञान के द्वारा परतत्त्व को दिखलाना चाहते थे, जिनका ज्ञान कालरूपी सर्प के द्वारा डसे जाते हुए संसार के लिए सुधा सिञ्चित मणि की तरह था, दुःसाध्य भवव्याधि को दूर करने के लिए सुन्दर औषधि की तरह था, और अविद्यान्धकार को दूर करने के लिए प्रदीप की तरह, भक्ति मार्ग का विरोधी जो मोह वृक्ष उसके उच्छेद के लिए कुठार की तरह, इस प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न होकर उन्होंने गाढ अन्धकार में निमग्न हुए इस संसार को देखा, संसार की यह दशा देखकर उन्हें करुणा आ गई । आश्चर्य है कि यह संसार अनादि काल से सम्बद्ध स्वाभाविक अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ है ।

मा० वृत्ति—अथासौ महायोगी कथमस्य वराकस्य अन्धे तमसि वर्तमानस्य विश्वस्यानुग्रहः कार्य इति समुत्पन्नकारुण्यो ब्राह्मणविशेषं वर्षसहस्रयाजिनमधिकारिणमवगत्य ब्रह्मोपदेशविद्यया अतन्द्रितो भूत्वा वाचमित्युवाच—भो ! भो ! आसुरे ३ रमसे गृहस्थधर्मेण इति, स तमुवाच—रमे भो इति ।

स एवमुक्तो मुनिरीषदनिष्पन्नविवेकवैराग्योऽयमिति व्यवस्य निर्गम्य भूयोऽपि द्वितीये वर्षसहस्रे पूर्णे प्रत्यागत्य तथैवाग्युवाच—"भो ! भो ! आसुरे ३ रमसे गृहस्थधर्मेण" इति । स तमुवाच—"रमे भो" इति । अथासौ महायोगीन्द्रस्तथैव निर्गम्य तृतीये वर्षसहस्रे सम्पूर्णे अभ्येत्योवाच—"भो ! भो ! आसुरे३ रमसे गृहस्थधर्मेण" इति । स तमुवाच—"न रमे भो" इति । अथ स भगवता उक्तः—"कथमिति" । पुनराह आसुरिः—"दुःखत्रयाभिघातात्" इति । अथाह कपिलः—"तात उत्सहसे ब्रह्मचर्यवासं वस्तुं यदि, तदामीषां दुःखत्रयाणां प्रतीकारं वयमुपदेक्ष्यामः ।" सोऽब्रवीत्—"भगवन् वाढं शक्तोऽहं भगवतामादेशमनुगन्तुम्" इति । स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव ।

अनुवाद— इसके बाद महायोगी भगवान कपिल के मन में यह बात आई कि अज्ञानान्धकार में डूबे हुए दीन दुःखी इस विश्व का उद्धार कैसे हो, इस प्रकार करुणार्द्र होकर विचारने लगे । विचारते हुए उन्होंने आसुरि गोत्र में उत्पन्न, हजारों वर्ष तक यज्ञ करने वाले एक ब्राह्मण को अधिकारी पाया. और ब्रह्मोपदेश विद्या से निरालस्य होकर उसे बोले—हे आसुरि क्या गृहस्थ धर्म में रमण कर रहे हो ? उस ब्राह्मण ने कहा—हाँ रमण कर रहा हूं । इस प्रकार उसके कहने पर कपिल समझ गये कि अभी इसे कुछ भी वैराग्य नहीं आया, यह समझकर वहाँ से चलकर फिर दूसरी बार एक हजार वर्ष के बीत जाने पर लौटे और फिर उसी तरह बोले—हे आसुरि ! क्या गृहस्थ धर्म में रमण कर रहे हो । उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया—हाँ रमण कर रहा हूँ । महायोगीन्द्र कपिल फिर उसी तरह चल दिये । तीसरी बार फिर एक हजार वर्ष के बाद लौट कर बोले—हे आसुरि ! गृहस्थ धर्म में रमण कर रहे हो ? अब की बार उसने उत्तर दिया—नहीं, तब भगवान् कपिल ने कहा—क्यों ? आसुरि ने उत्तर में कहा—'दुःखत्रयाभिघातात्' इति—अर्थात् त्रिविध दुःखों से सन्तप्त होने से । इसके बाद भगवान् कपिल ने कहा—वत्स ! यदि ब्रह्मचर्य जीवन बिताना चाहते हो तो इन तीनों दुःखों के प्रतीकार का उपाय तुम्हें बतलायेंगे । आसुरि बोला—भगवन् ! मैं आपके आदेशानुसार चलने में सर्वथा समर्थ हूँ । इस प्रकार आसुरि पुत्रदारादि गृहस्थ धर्म को छोड़कर, संन्यास ग्रहण कर, भगवान कपिलाचार्य का प्राणप्रिय शिष्य बन गया ।

मा० वृत्ति— यत्र यदि कश्चिदेवं ब्रूयात्—कुतोऽस्य जिज्ञासा समुत्पन्ना ययाऽसौ गुरुकुलमभिगत इति । तत्रायं प्रतिवादः । दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा

समुत्पन्ना। किमिह परं, किं याथात्म्यं किं निःश्रेयसं, किं कृत्वा कृतार्थः स्यामिति मत्वाऽसौ गुरुकुलमभिगत इति। तथा हि—

तत्तपः स जपः सा धीः तज्ज्ञानं सा च वैदुषी।
यतो नैव निपातः स्यादन्तःसंसारसागरम्॥ इति श्रवणात्।

किञ्च— **इहोत्पत्तिर्मम केन कर्मणा क्व च प्रयातव्यमितो भवादिति।**
विचारणा यस्य न जायते क्षितौ कथं स धर्मप्रवणो भविष्यति॥
तस्मात् समीचीनमिदं यदस्येति जिज्ञासा समुदपादि।

अनुवाद—इस पर कोई यदि यह पूछे कि आसुरि को यह जिज्ञासा कहाँ से उत्पन्न हुई, जिससे कि यह गुरुकुल को गया। तो वहाँ यही उत्तर है कि—"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा समुत्पन्ना" अर्थात् त्रिविध दुःख से सन्तप्त होकर उसे उन दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए सांख्यशास्त्र जानने की इच्छा हुई कि संसार में सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है; इसका वास्तविक स्वरूप क्या है; मोक्ष क्या चीज है; किस कार्य को करके मैं कृत-कृत्य हो सकता हूँ, इन्हीं सब बातों को विचार कर वह गुरुकुल को चला। क्योंकि कहा भी है—तपश्चर्या, जप, अनुष्ठानादि, बुद्धि, ज्ञान और विद्वत्ता तभी सार्थक हैं, जबकि फिर से इस संसार रूपी सागर में न आना पड़े। और भी कहा है—कि कौन सा ऐसा कर्म है, जिससे मेरा कल्याण होगा, और जीवन लीला समाप्त होने के बाद इस संसार से हमें कहाँ जाना है। इस प्रकार का विचार जिसके चित्त में नहीं आता वह धार्मिक हो ही कैसे सकता है। इसलिए यह उचित ही है कि आसुरि के मन में भी इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

मा० वृत्ति—किं पुनस्तद्दुःखत्रयं तदाह—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकम्। तत्र प्रथमं द्विविधं शारीरं मानसं च। तत्र शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां देहधातूनां वैषम्यात् यद् दुःखमात्मानं देहमधिकृत्य ज्वरातिसारादि प्रवर्तते। मानसं प्रियवियोगादप्रियसंयोगाच्च द्विविधम्। एतदाध्यात्मिकं दुःखमभिहितम्। आधिभौतिकं तु भूतान्यधिकृत्य यत् प्रवर्तते मानुषपशुपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं तु दिवमधिकृत्य यत् प्रवर्तते शीतोष्णवातवर्षादिकम्। एवमेतैस्त्रिभिर्दुःखैरभिहतस्यासुरिसगोत्रस्य ब्राह्मणस्य जिज्ञासा समुत्पन्ना।

अनुवाद—फिर वे तीन प्रकार के दुःख कौन से हैं—उत्तर में कहते हैं कि वे दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक ये तीन हैं। उनमें से प्रथम आध्यात्मिक दुःख भी दो प्रकार का होता है। शारीरिक व मानसिक। शारीरिक दुःख उसे कहते हैं कि जो वात, पित्त, कफ, आदि शरीर के धातुओं

की विषमता से शरीर में उत्पन्न हो जाय, जैसे--ज्वरातिसारादि । पुनः मानसिक दुःख भी प्रिय के वियोग से, और अप्रिय के संयोग से दो प्रकार का होता है । यह सब आध्यात्मिक दुःख हुआ । आधिभौतिक दुःख उसे कहते हैं जो भूत (प्राणी आदि) से उत्पन्न हो, यह मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प, अन्य स्थावरादि से उत्पन्न होता है । आधिदैविक दुःख उसे कहते हैं जो अन्तरिक्ष से उत्पन्न हो, जैसे—शीत, उष्ण, वर्षा, भूकम्प, वायु, आदि । इस प्रकार इस त्रिविध दुःख से पीडित होकर आसुरिगोत्रीय ब्राह्मण की इन तीनों दुःखों की निवृत्ति के लिए जिज्ञासा हुई ।

मा० वृत्तिः—क्व विषये ? तदभिघातके हेतौ तेषां त्रयाणां दुःखानामभिघातको विनाशको योऽसौ हेतुस्तत्र । तां जिज्ञासामाह । किममूनि दुःखानि वपुष आहोस्वित्तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति कश्चिदन्यः पुरुषो यस्येमानि त्रीणि दुःखानि जायन्ते, उतामीषां प्रतीकारोपायोऽप्यस्ति न वा । यद्यस्ति तदानीं तमेवास्थास्यामः । नो चेत् प्रथमप्रावृडासारं षण्ड (?) इवामूनि निमीलितनेत्रा वयं सोढारः । वृश्चिकादिदष्ट एव विषप्रतीकाराय जाङ्गुलिकं गवेषयति नो वा विषभवपीडासहः । एवमसह्यदुःखाभिभूतस्यासुरेस्तदभिघातके हेतौ जिज्ञासा समुत्पन्ना । स च समुत्पन्नदुःखाभाव जिज्ञासुस्तत्प्रतीकारकुशलं भगवन्तं कपिलाचार्यं शरणमभ्युपगतः । अयं मदभिलषितदुःखप्रतीकारोपायं वक्ष्यतीति ।

अनुवाद—वह जिज्ञासा किस विषय में हुई । इसका उत्तर देते हैं कि तदभिघातक हेतु में । अर्थात् उन तीनों दुःखों का जो विनाशक हेतु (सांख्यशास्त्र) उसमें, उसी जिज्ञासा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्या ये त्रिविध दुःख शरीर के हैं ? या इससे अतिरिक्त और कोई पुरुष है जिसके कि ये दुख हैं । क्या इनके प्रतीकार का कोई उपाय है या नहीं, यदि कोई उपाय है तो फिर उसी उपाय का आश्रय लें । नहीं तो, षण्ड (नपुंसक) जिस प्रकार वर्षाकालीन अभिनव मेघों को आँख मूंदकर सह लेता है, उसी तरह हमें भी सहना पड़ेगा । जैसे कोई आदमी बिच्छू के काटते ही उसके इलाज के लिए विषवैद्य को ढूंढ लेता है, विष से उत्पन्न पीड़ा को सहन नहीं करता है । इसी तरह त्रिविध दुःख से सन्तप्त हुए आसुरि की उन तीनों दुःखों के विनाशक हेतु जो सांख्यशास्त्र है, उसमें जिज्ञासा हुई । वह समुत्पन्न दुःखों के विनाशक उपाय की जिज्ञासा से उन दुःखों के प्रतीकार में कुशल भगवान् कपिल के पास गये इस आशय से कि वे अवश्य उसे दुःखों के प्रतीकार का उपाय बतलायेंगे, जो कि उसे इष्ट है ।

मा० वृत्तिः—ननु दुःखेभ्य एव जिज्ञासा समुत्पन्ना कथं तेषामेवाभावाय कारणत्वमुपयाति, नहि जनयित्रीसकाशादुत्पन्नस्तनयस्तस्या एव व्यापादनं कुरुते। सत्यम्, इह लोके यद्यस्मादुत्पद्यते तत्तस्यापि विपत्तिकारणं दृश्यते। यथा कर्कटकोऽश्वतरो वा जनयित्र्याः समुत्पन्नस्तामेव व्यापादयति। यद्वा कश्चिदाशीविषः शुष्कतृणबहुलप्रदेशे स्थितः प्रतिसर्पं दृष्ट्वा क्रुद्धस्तस्य मुखनिश्वासनिर्गतो वह्निस्तृणानि तं वाऽपि सर्पं ददाह। अमुना न्यायेन दुःखेभ्य एव जिज्ञासा निष्पन्ना, दुःखानामेवाभावं करिष्यतीत्यर्थसङ्गतिः।

अनुवाद—जब दुःखों से ही जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो फिर वह जिज्ञासा दुःखों के ही नाश का कारण क्यों बनती है, क्योंकि जैसे माता से उत्पन्न हुआ लड़का उसके विनाश का कारण नहीं बनता उसी तरह। ठीक है, परन्तु इस संसार में जो ज़िससे उत्पन्न होता है वह भी उसी के विपत्ति का कारण देखा जाता है, जैसे कर्कटक, अथवा खच्चर जननी से उत्पन्न होकर उसी के विनाश का भी कारण देखा गया है। अथवा जैसे कोई सर्प सूखे घास के ढेर में स्थित होकर दूसरे सर्प को देखकर क्रुद्ध होता है और उसके मुखनिश्वास से निकली हुई आग घास को तथा उसको भी भस्म कर देती है। इसी न्याय से दुःख से ही जिज्ञासा उत्पन्न हुई और दुःखों की ही निवृत्ति करेगी, इस तरह अर्थसङ्गति बन जाती है।

मा० वृत्तिः—अत्रोच्यते—दृष्टे साऽपार्था चेद्। चेदित्ययं निपातः शङ्कायां वर्तते। इह लोके सकलसमुत्पन्नदुःखानां प्रतीकारोऽस्त्येव किं तदर्थं कपिलोपसर्पणेनेति भावः। तमेव हेतुं दृष्टं दर्शयति। शारीराध्यात्मिकानां ज्वरातीसारादिसकलव्याधीनां सन्त्येवागदङ्कारा अष्टाङ्गायुर्वेदविदो भिषजः कायशल्यशलाकाविषोन्मादक्लीबजराकुमारचिकित्सानिपुणाः। मानसस्याध्यात्मिकंतापस्य प्रतीकारः प्रियवस्तुसंयोगादप्रियस्य दूरतः परिहरणाच्च। आधिभौतिकस्य तु ग्रामनगरादिकल्पनया प्रहाणोपपत्तिः आधिदैविकस्य अभिवातयातप्रावरणावरणादिभिः। अतस्तदभिघातकारणात् किं कपिलोपसर्पणेनेति भावः। तथा च लौकिकानामाभाणकः—

अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्य लीलया सिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥

अनुवाद—"दृष्टे साऽपार्था चेत्" इत्यादि ग्रन्थ से पूर्वपक्षस्थापन करते हैं। "चेत्" यह निपात शङ्कापरक है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस संसार में सम्पूर्ण समुत्पन्न दुःखों का प्रतीकारोपाय जब है ही, फिर उसके

लिए कपिल के पास जाने की क्या आवश्यकता ? वही लौकिक उपाय बतलाते हैं । शरीर सम्बन्धी जो आध्यात्मिक ताप है, जैसे ज्वरातिसारादि इन सम्पूर्ण व्याधियों को दूर करने वाले अष्टाङ्गायुर्वेदविद् चिकित्सक जो कि शरीर की चीरफाड़, सुई, विषोन्माद, नपुंसकता, बूढ़ापन दूर करना, बालचिकित्सा आदि में निपुण हैं । मानसिक जो आध्यात्मिक दुःख है, उसका प्रतीकार प्रियवस्तु के संयोग से और अप्रियवस्तु के दूर करने सें ही हो सकता है । और आधिभौतिक दुःख का प्रतीकार ग्राम नगरादि की सुव्यवस्था से हो सकता है । और आधिदैविक दुःख का प्रतीकार हवा के सम्मुख न जाना अथवा उसके रोकने के लिए आवरणादि का प्रबन्ध कर लेना, इत्यादि से हो सकता है । तब उनके असह्य सम्बन्ध से सन्तप्त होकर कपिल के पास जाने की क्या आवश्यकता । और लोकव्यवहारविदों की यह उक्ति भी है कि—यदि घर के कोने में मधु मिल जाय तो पर्वत में किसलिए जायें, और सरलता से ही जब अभीष्ट सिद्धि हो जाय तो कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो कि व्यर्थ कठिन परिश्रम करेगा ।

मा० वृत्तिः—अत्रोच्यते—न । न इत्ययं पूर्वपक्षवाक्यनिषेधे । नैवं वाच्यमित्यर्थः । एकान्तात्यन्ततोऽभावात् । एकान्ततोऽवश्यं त्वदुक्तहेतुभिर्न प्रतीकारः । यतश्चिकित्सकानां सम्प्रयुक्तागदानां यथाशक्ति यततामपि कदाचिज्जन्तुर्विपद्यते कदाचिज्जीवति । वैद्यगृहेऽपि वधूपुत्रकलत्रभ्रातृपितृप्रभृतीनामपरिहार्यमरणदर्शनान्नायमैकान्तिकप्रतीकार आध्यात्मिकस्य । अपरम्, अत्यन्ततोऽपि नासौ प्रतीकारः । अगदेन नीरुजीकृतानामपि ज्वरादीनां पुनः कतिपयदिवसैरुत्पत्तिदर्शनात् । अतः सर्वथा आत्यन्तिकोऽपि न दृष्टः प्रतीकार आध्यात्मिकदुःखापनयने समर्थः । वसन्तादीनामपगतानामपि पुनरागमनवत् । भवन्ति चात्र श्लोकाः ।

अनुवाद—इस पर कहते हैं कि नहीं, कारिका में यह नकार पूर्वपक्ष निषेधपरक है । अर्थात्—लौकिक उपायों से त्रिविध दुःखों का ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक प्रतीकार नहीं हो सकता । एकान्ततः निश्चित रूप से पूर्वोक्त हेतुओं से प्रतीकार नहीं हो सकता । क्योंकि वैद्यों के अच्छी औषधि देने पर भी, और यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी कभी कभी प्राणी नहीं बचता और कभी बच भी जाता है; वैद्य के घर में भी पुत्र, कलत्र, वधू आदि का अपरिहार्य मरण देखा गया है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक दुःख का यह ऐकान्तिक प्रतीकार नहीं है । और भी यह आत्यन्तिक प्रतीकार भी नहीं है, क्योंकि ज्वरादि औषधियों से एक बार रोग निवृत्त होने

पर भी वे पुनः कुछ दिनों बाद उत्पन्न हो जाते हैं। अतः आध्यात्मिक दुःख के दूर करने में यह लौकिक उपाय सर्वथा समर्थ नहीं है। जैसे वसन्तादि का एकबार चले जाने पर भी पुनः आगमन होता है, उसी तरह आध्यात्मिक दुःख की भी एक बार चले जाने पर पुनः उत्पत्ति देखी गई है, इस विषय में यहाँ कुछ श्लोक भी दिये जाते हैं :—

मा० वृत्तिः—पुनर्दाहः समुत्पन्नः पुनर्जातश्च वेपथुः ।
बाधते च पुर्नाहिक्का ज्वरश्च पुनरागतः ॥

अन्यच्च—पुष्पिताक्षः शलाकी च कुष्ठी कायचिकित्सकः ।
पृच्छन्ति वालभिषजं कथं ते दारका मृताः ॥

किञ्च नास्ति सम्यग्धातुपरिज्ञाननिपुणतया भैषज्यम् ।

तथाहि—यानि कानि च मूलानि येन केन च पेषयेत् ।
यस्मै कस्मै च दातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

अन्यच्च—कार्यार्थिजनद्रव्यभक्षणाय स्वशक्तिख्यापनाय च स्वल्पमपि रोगं पुरस्तावद्वर्धयन्ति भिषजः। ततश्च कदाचिदसौ तेषामेवासाध्यतामायाति। तथा च—

वैद्य वैद्य नमस्तुभ्यं क्षपिताशेषमानव ।
त्वयि विन्यस्तभारोऽयं कृतान्तः सुखमेधते ॥

एवमसौ दृष्टेनागदादिना, एकान्ततोऽवश्यम्, अत्यन्ततः सर्वथा शारीरस्याध्यात्मिकदुःखस्य न प्रतीकारः। एवं मानसस्यापि शब्दादिप्रियसंयोगादपि कदाचिन्न निवृत्तिः। एवमाधिभौतिकमप्युपायैः कदाचित् व्यपैति। कदाचिच्च नेति। एवमाधिदैविकमपि कदाचिद् व्यपैति कदाचिच्च न। किञ्च व्यपगतिरपि दुःखस्य पुनरुत्पादादनर्थिकेति। अस्य तु शिष्यस्यैकान्तिक आत्यन्तिकश्च दुःखव्यपगमे हेतुरदृष्टः। तस्माद्युक्तं तदर्थं गुरूपसर्पणमिति ॥१॥

अनुवाद—फिर से शरीर में दाह उत्पन्न हो गया। फिर से कम्पन आ रहा है, छींकें बार बार परेशान कर रही हैं, मालूम पड़ता है कि फिर ज्वर आ गया। और भी—आँखों का रोगी, शलाकी, कुष्ठी आदि शरीर की चिकित्सा कराने वाले वैद्य को पूछते हैं कि तुम्हारे रहते रहते तुम्हारे बालक कैसे मर गये। और यह भी बात है कि बिना ठीक ठीक धातु ज्ञानपूर्वक चिकित्सा भी नहीं होती है।

क्योंकि कहा है कि जिस किसी पेड़ पौधे की जड़ को लाकर किसी के साथ पीस दें और जिस किसी को दे दें, कुछ न कुछ तो हो ही जायेगा।

और भी—रोगियों के धन को लूटने के लिए और अपनी ख्याति के लिए वैद्य लोग थोड़े से रोग को भी बड़ा बना देते हैं, वही रोग फिर कभी उन्हीं के लिए असाध्य हो जाता है। इसीलिए तो कहा है कि सम्पूर्ण मानवों को मारने वाले वैद्य जी आपको नमस्कार है, मालूम पड़ता है कि यमराज यह सब मारने का भार आपको देकर स्वयं सुख का अनुभव कर रहा है।

इस प्रकार लौकिक उपाय औषधि आदि से भी ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से शरीर सम्बन्धी आध्यात्मिक दुःख का प्रतीकार नहीं हो सकता। इसी तरह मानसिक दुःख भी शब्दादि प्रिय विषय के संयोग से निवृत्त नहीं हो सकते। इसी तरह आधिभौतिक दुःख भी लौकिक उपायों के द्वारा कभी दूर हो जाता है और कभी नहीं भी होता। आधिदैविक दुःख के विषय में भी यही कहा जा सकता है। फिर इस दुःख की यह निवृत्ति भी पुनः उत्पन्न होने के कारण अकिञ्चित्कर है। पर इस शिष्य को ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति ही इष्ट है। इसलिए तन्निवृत्ति के लिए गुरु के पास जाना उचित ही है ॥१॥

प्रबोधनी व्याख्या

विश्वं विलोक्य भवतापतमोनिमग्नम्
भग्नञ्च ज्ञानपुलिनं कुमतिप्रवाहैः।
उद्धर्तुमिच्छुरिह योऽवततार लोके
तं देवहूतितनयं कपिलं नतोऽस्मि ॥१॥

सांख्यशास्त्रस्य वक्तारो ये चान्ये विश्रुता बुधाः।
तान् नत्वा सादरं सर्वान् पितुः पादान् गुरूनपि ॥२॥

व्याख्यां प्रबोधिनीं कुर्वे सांख्यबोधविवर्धिनीम्।
पदार्थसार्थसारार्थप्रकाशनमनोरमाम् ॥३॥

"समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" इस सिद्धान्त के अनुसार श्री ईश्वरकृष्ण निर्मित सांख्यकारिका के ऊपर अपना वृत्तिग्रन्थ प्रारम्भ करते हुए 'आचार्य माठर' अपने वृत्ति ग्रन्थ की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए मङ्गलाचरण करते हैं। यह मङ्गलाचरण नमस्कारात्मक है। मङ्गलाचरण के इस प्रथम पद्य में आये हुए 'कापिलम्' और 'ज्योति' इत्यादि शब्द

कपिलसम्बन्धी सांख्यशास्त्रीयज्ञान तथा अग्नि के अवतार कपिल की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि माठर ने स्वयं अपने वृत्ति ग्रन्थ में कपिल को पुराण-पुरुष का अवतार, कर्दम के द्वारा देवहूति में समुत्पन्न माना है जैसा कि श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में भी कहा है—"**एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः। अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्वा गां विचरिष्यति। अयं सिद्धगणाधीशः सांख्याचार्यैः सुसम्मतः। लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः।** परन्तु महाभारत में कपिल को अग्नि का भी अवतार बतलाया है। "**कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः।**" यह बात सांख्यसमाससूत्र की सर्वोपकारिणी टीका से और भी स्पष्ट हो जाती है: जैसा कि वहां उल्लेख है—"**सूत्रषडध्यायी तु वैश्वनरावतारमहर्षिकपिलप्रणीता। इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिकपिलप्रणीतेति वृद्धाः**"। सम्भवतः माठर को भी उन दोनों अवतार वाले कपिल को नमस्कार करना अभीष्ट हो, इसीलिए उन्होंने ऐसी शब्दयोजना की हो। बाद के दो श्लोकों में उन्होंने बतलाया कि महर्षि कपिल ने अज्ञान में डूबे हुए इस संसार के उद्धार के लिए तथा अपने शिष्यों के हित के लिए सांख्य विद्या का उपदेश किया, जिसका फल है त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्ति, जैसा कि कारिकाकार ने भी पहली कारिका के द्वारा '**दुःखत्रयाभिघातात्**' इत्यादि ग्रन्थ से बतलाया है वस्तुतः यही सांख्य-शास्त्र का प्रयोजन भी है। इसी से इस ग्रन्थ का अनुबन्धचतुष्टयनिरूपण भी सम्पन्न हो जाता है। क्योंकि "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इस न्याय से प्रवृत्ति के प्रति इष्ट साधनता ज्ञान कारण है। अर्थात् जब तक "इदं मदिष्टसाधनम्" यह ज्ञान न हो जाय तब तक उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिए ग्रन्थारम्भ में अनुबन्धचतुष्टय के निरूपण की परम्परा भी रही है। कहा है—**सिद्धार्थसिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥** अर्थात्—विषयसम्बन्ध आदि के ज्ञान होने पर ही कोई अधिकारी श्रोता किसी शास्त्र या ग्रन्थ के श्रवण मनन में प्रवृत्त होता है। इसी लक्ष्य को हृदय में रखकर ग्रन्थकार ने भी सर्वप्रथम त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्ति की ओर संकेत किया। इस प्रकार इस ग्रन्थ का अनुबन्ध चतुष्टय इस प्रकार होगा। प्रकृत ग्रन्थ का विषय है प्रकृतिपुरुष का विवेक ज्ञान कराना। इसका ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। प्रयोजन है प्रकृतिपुरुष का विवेकज्ञानपूर्वक आत्मसाक्षात्कार अथवा त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्ति। एतच्छास्त्रजिज्ञासु इसका अधिकारी है। उक्त कारिका

की ग्रन्थ के साथ उपोद्घात सङ्गति है। जैसा कि वृत्ति में कहा भी है। स्थान, निमित्त, वक्ता, प्रयोजन, सम्बन्धादियों का जहां कथन हो उसे उपोद्घात सङ्गति कहते हैं। इसी सङ्गति का उपपादन करते हुए वृत्तिकार माठर-बतलाते हैं कि इस सांख्यशास्त्र के वक्ता भगवान् कपिल हैं, जिन्हें धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, स्वतः सिद्ध थे, जो भगवान् पुराणपुरुष श्रीनारायण के अवतार थे, इस संसार के उद्धार के लिए जिन्होंने कर्दम के द्वारा स्वायम्भुव मनु की पुत्री देवहूति में अवतार लिया। प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान द्वारा संसार का उद्धार करना ही प्रयोजन था। परमप्रिय शिष्य आसुरि महर्षि के द्वारा उपदिष्ट इस ज्ञान का श्रोता था और इस शास्त्र को सुनने में आसुरि की एक मात्र त्रिविध दुःख जिहासा ही हेतु है। ठीक ही है क्योंकि प्राणिमात्र की चेष्टा दुःखनिवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति के लिए ही हुआ करती है, ये दुःख तीन प्रकार के होते है, (१)—आध्यात्मिक दुःख (शरीर और मन से उत्पन्न) (२) आधिदैविक दुःख (शीत, उष्ण, वर्षा, वात, भूकम्प आदि से उत्पन्न) (३) आधिभौतिक दुःख (भूत-चेतन प्राणी से उत्पन्न) इस त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है। सांख्यविद्या का आरम्भ इसी मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के लिए किया गया है। इस बात को स्वयं कपिल ने सांख्यसूत्र में कहा भी है—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥१॥

यद्यपि यह सभी प्रकार का दुःख मानसिक ही कहना चाहिए था, क्योंकि सांख्य दर्शन तथा वेदान्त दर्शन के अनुसार सुखदुःखादि मन (अन्तःकरण) के ही धर्म माने गये हैं। परन्तु यहाँ जो दुःख मनोमात्र जन्य होंगे उन्हीं को मानसिक दुःख कहेंगे और जो दुःख वाह्य निमित्त की अपेक्षा रखते हुए मनोजन्य होंगे उन्हें शारीरिक इत्यादि कहेंगे। सांख्यप्रवचन भाष्य में भी इस बात का उल्लेखन किया है। **यद्यपि सर्वमेव दुःखं मानसं तथापि मनोमात्र-जन्यत्वजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविशेषः।** जब सांख्यदर्शन के अनुसार दुःख अन्तःकरण का धर्म है, तो फिर शारीरिक तथा मानसिक दुःख को आध्यात्मिक क्यों कहा।

क्योंकि इसका तो अर्थ है,—"आत्मानमधिकृत्य यत् दुःखं प्रवर्तते तत्" अर्थात् आत्मा को अधिकृत करके जो दुःख प्रवृत्त हो वह आध्यात्मिक दुःख होगा। इसका समाधान इस प्रकार है—यहाँ आध्यात्मिक इस शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया हैं, क्योंकि शारीरिक तथा मानसिक दुःख

आन्तरिक उपायों से साध्य होते हैं, इसीलिए गौणरूप से इन्हें भी आध्यात्मिक कहा जाता है।

दुःख निवृत्ति का तात्पर्य अनागत दुःख निवृति में है। क्योंकि नाभुक्तं क्षीयते कर्म" के अनुसार वर्तमान स्थूल दुःख जो कि भोगारूढ हैं, उनकी निवृत्ति तो भोग के बाद द्वितीय क्षण में स्वयमेव हो जायेगी और जो अतीत दुःख हैं वे समाप्त ही हैं। उसमें भी साधन की अपेक्षा नहीं है। परिशेषात् अनागत सूक्ष्म दुःख निवृत्ति में ही तात्पर्य है। इस बात को योगसूत्र में भी कहा है—**हेयं दुःखमनागतम्**' (योग०॥२॥१६॥) इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि '**दुःखमतीतमुपसम्भोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते, वर्तमानञ्च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत् क्षणान्तरे हेयतामापद्यते, तस्माद् यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति नेतरं प्रतिपत्तारम्, तदेव हेयतामापद्यते।**' परन्तु यह अनागत दुःख निवृत्ति वाली बात तो एक तरह से विवादास्पद वस्तु वन गई। प्रथम तो भविष्य में दुःख होगा ही इसमें कोई प्रमाण नहीं। फिर इसकी निवृत्ति के लिए सांख्यशास्त्र में कठिन परिश्रम क्यों किया जाय, इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जब तक वस्तु रहती है तब तक उसमें कार्यजननशक्ति भी रहती है, क्योंकि दाहादि शक्ति से शून्य अग्नि कहीं भी नहीं देखी गई, अतः चित्त की सत्ता में दुःखादि का रहना भी जरूरी है, भले हीं अधिक मात्रा में सुख रहे, पर वह सुख भी दुःखसंसृष्ट ही रहेगा। इसका अनुमानाकार इस प्रकार बनेगा—"**चित्ततत्त्वम्, अनागतदुःखसत्तावत् भवितुमर्हति, यावच्चित्तावस्थायि कार्यजननशक्तिमत्त्वात्, वह्निवत्।**" इस प्रकार अनागत दुःख सत्ता का अनुमान किया जाता है। यही अनागत दुःख निवृत्ति ही पुरुषार्थ है। सांख्य-दर्शन सत्कार्यवादी है, अतएव यहाँ दुःख-निवृत्ति शब्द का अर्थ दुःखनाश नहीं अपितु दुःख की अतीतावस्था ही अभिप्रेत है, जैसा कि भाष्य में लिखा भी है, '**निवृत्तिश्च न नाशोऽपि त्वतीतावस्था ध्वंसप्रागभावयोरतीतानागतावस्थास्वरूपत्वात्, सत्कार्यवादिभिरभावानङ्गीकारात्।**'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार नैयायिक उत्पत्ति से पहिले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव कहते हैं जैसे तन्तु में पटाभाव, और उत्पन्न द्रव्य का नाशक सामग्री के द्वारा अपने कारण में स्थित होने को प्रध्वंसाभाव कहते हैं, जैसे—घड़े के नष्ट हो जाने पर कपालमाला में घड़े का अभाव प्रध्वंसाभाव है। इस प्रकार के अभाव को सांख्यदर्शन स्वीकार नहीं करता।

क्योंकि उनके सत्कार्यवाद सिद्धान्त होने से असत् की उत्पत्ति तथा सत् का विनाश असम्भव है।

प्रश्न—दुःख जब बुद्धि (अन्तःकरण) का ही धर्म है, न कि पुरुष का, फिर भी वह दुःखनिवृत्ति का उपाय क्यों सोचता है ? उत्तर यह है कि बुद्धि-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष जिसे व्यवहार में जीव कहते हैं, बुद्धिगत धर्मों का अपने में आरोप करके मैं दुःखी हूँ, सुखी हूँ इत्यादि अभिमान करता है। इसी मिथ्या आरोपित अभिमान की निवृत्ति विवेकज्ञान के द्वारा कराना ही इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। इसी विवेकज्ञान से सम्पन्न हो जाने पर परमपुरुषार्थ की भी सिद्धि हो जाती है।

कारिका में आये हुए 'तदपघातके' इस पद में तद् शब्द से दुःखत्रय का परामर्श होगा। यद्यपि दुःखत्रयाभिघातात् यहाँ पर समाप्त हो जाने से दुःखमय की प्रधानता नहीं रहेगी अतः पूर्वाभिहित वस्तु परामर्शक तद् शब्द नहीं हो पायेगा, क्योंकि सर्वनाम प्रधान के ही परामर्शक होते हैं फिर भी बुद्ध्यारूढ होने से तत् पद से दुःखत्रय का परामर्श हो जायेगा। कहा भी है कि—**तच्छब्दस्य सामर्थ्यद्वयम्, पूर्वाभिहितवस्तुपरामर्शकत्वं ज्ञानारूढपरामर्शक-त्वञ्चेति।**

'दृष्टे साऽपार्था' इत्यादि शङ्काग्रन्थ के समाधान से यह बतलाते हैं कि यह त्रिविध दुःखनिवृत्ति लौकिक उपायों के द्वारा भी सम्भव नहीं है। यद्यपि नीतिशास्त्र, प्रियवस्तु, कामिनी भेषजादि से किञ्चित् काल के लिए निवृत्ति हो जाती है परन्तु ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति तो इनसे भी नहीं हो सकती। इस जिज्ञासु को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही अभीष्ट है। तस्मात् सांख्यशास्त्रीय ज्ञानार्जन के लिए इसका गुरु के पास जाना उचित ही है ॥१॥

मा० वृत्तिः—यद्येवं तदा दृष्टव्यतिरेकेणाप्यानुश्रविकः श्रुतिप्रणीतः स्वर्गादि-साधनरूपो यज्ञादिर्हेतुरस्तु। नाकपृष्ठेऽपि तापत्रयासम्भवात्। तत्रैकान्तिक-मात्यन्तिकं वानुश्रवो वेदः। वेदे श्रूयते। गुरुणोक्तं पश्चाद्वेदं शृण्वन्ति शिष्या इत्यनुश्रवो वेदः। तत्र भव आनुश्रविकः। श्रौतो यज्ञादिरूपोऽयं दुःख-त्रयप्रतीकारहेतुरुचितोऽस्ति इति। एवं ह्याह—तरति मृत्युं, तरति शोकं, तरति पाप्मानं, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति। यच्चैनं देवाः पुनरप्याहुः "अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनम-स्मांस्तृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य" इति। इह श्रुतावैकान्तिकमात्य-न्तिकं च फलं श्रूयते। अत्राह—

व्याख्या

अनुवाद—यदि ऐसी बात है, तो लौकिक उपाय से भिन्न वेदबोधित स्वर्गादि साधन रूप जो यागादि वैदिक उपाय है, वह त्रिविध दुःखों के प्रतीकार में समर्थ हो सकता है। क्योंकि स्वर्ग में त्रिविध दुःखों का अभाव है। और यह उपाय ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक है, ऐसा (अनुश्रव) वेद में सुना जाता है। 'आनुश्रविक' शब्द का ही स्पष्टार्थ करते हैं—गुरु के द्वारा उच्चारित वेद को शिष्य सुनते हैं तत्पश्चात् उच्चारण करते हैं, इसीलिए वेद को अनुश्रव कहते हैं। उसमें बतलाये गये उपाय को आनुश्रविक कहते हैं। श्रुतिबोधित यज्ञादिरूप यह उपाय त्रिविध दुःखों के प्रतीकार के लिए उचित ही है, क्योंकि कहा भी है—मृत्यु को जीतता है, शोक को पार करता है, और पाप को भी नष्ट करता है, ब्रह्महत्या को भी पार करता है, जो अश्वमेध याग करता है, देवताओं ने तो इस विषय में और भी बहुत कुछ कहा है। "अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्, किं नूनमस्मांस्तृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य इति। वृत्तिकार स्वयं इस पद्य की व्याख्या भी कर रहे हैं।

मा० वृत्ति—कदाचित् किलेन्द्रो देवानुपस्थितान्निशम्य इत्यवोचत्। भो भो देवत्वादन्यदपि किमप्यस्ति सुखम्। ततस्ते देवा उचुः—नास्त्यन्यत्सुखम्। अतएवास्मन्निवासस्य नाक इत्यभिधानम्। कमिति सुखनाम तस्य निषेधः, अकम्, असुखम्, तन्न इति नाकम्। केवलं सुखमेव। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः। ततः प्राहेन्द्रः—कथमिति। ततस्ते उचुः—अनेन हेतुना अपाम पीतवन्तः। सोमं यज्ञे सोमरसं, तेन तत्पानेन अमृतां अमरा अभूम सम्पन्नाः। किञ्च अगन्म प्राप्तवन्तः, ज्योतिः स्वर्गम्। अन्यच्च अविदाम जानीमः, देवान्। अस्मिन् स्वर्गे इयन्तो देवा इति विद्मः। किमित्याक्षेपे। नूनं निश्चितम्। अस्मान् अस्माकम् विभक्तिविपरिणामः। तृणवत् कर्त्ता। अरातिः शत्रुर्मृत्युः। किं वा धूर्तिर्जरा अस्माकं करिष्यति। अमृतमर्त्यस्य अमृतपायिनां मर्त्यानाम् इति। बहुलं छन्दसीति वचनविपरिणामः। एवमन्योऽपि यः सोमं पास्यति तस्यैकान्तिकोऽवश्यमात्यन्तिकः सर्वथा दुःखत्रयाभिघातो भविष्यति। अतो ब्रूमः किं प्रव्रज्यया सांख्यज्ञानेन वा कार्यं वेदोक्तं करिष्यामः। दुःखप्रतीकारश्च स्वर्गो भावीति वेदान्तवादिनां वचनमुपश्रुत्य सांख्याचार्यस्तन्निवारणाय स्वमतप्रतिष्ठायै च द्वितीयामार्यामाह—

अनुवाद—किसी समय इन्द्र देवताओं को उपस्थित जानकर बोला—हे देवताओ! देवत्व से बढ़कर भी क्या कोई और सुख है? इस पर देवता बोले—

इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है। इसीलिए तो हमारे निवास स्थान का नाम "नाक" पड़ा है, 'क' का अर्थ सुख है उसका निषेध है "अकम्" अर्थात् सुखरहित। वह सुखाभाव जहाँ न हो 'नाकम्' कहेंगे। केवल सुख ही सुख। यहाँ समस्तपद इस 'नाकम्' में जो दो नञ् हैं वे प्रकृत सुख का ही बोध कराते हैं, इसके बाद इन्द्र ने कहा यह कैसे? तब देवताओं ने उत्तर दिया इस तरह— यज्ञ में सोम रस का पान किया, उसके पीने से वे अमर हो गये, और स्वर्ग को प्राप्त किया और देवताओं को जाना कि स्वर्ग में इतने देवता हैं। यहाँ किम् शब्द आक्षेप में है। निश्चय ही तृण की तरह शत्रु हमारा क्या कर लेगा। अथवा यह वृद्धावस्था भी अमृत पीने वाले हम लोगों का क्या कर लेगी। इस तरह और भी जो कोई सोमरस पान करेगा उसके त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति होगी। इसीलिए कहते हैं कि सन्यास अथवा सांख्यज्ञान में क्या रखा है। वैदिक उपाय का ही अवलम्बन क्यों न करें। दुःख प्रतीकार स्वर्ग तो मिलेगा ही। इस प्रकार के वेदवादियों (मीमांसकों) के वचनों को सुनकर सांख्याचार्य उनके मत के निरास और अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए द्वितीय आर्या (कारिका) को आरम्भ करते हैं।

कारिका

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

अनुवाद—वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के तुल्य ही हैं। क्योंकि वह वैदिक उपाय अविशुद्ध, क्षय तथा अतिशय से युक्त है। इससे विपरीत (प्रकृति पुरुष विवेक ज्ञानरूप) उपाय ही श्रेयस्कर है। वह व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के ज्ञान से होता है ॥२॥

मा० वृत्तिः—य एष आनुश्रविकः श्रौताऽग्निहोत्रादिकः स्वर्गसाधनतया तापत्रयप्रतीकारहेतुरुक्तः सोऽपि दृष्टवत् अनैकान्तिकः प्रतीकारः। तथा हि "मध्यमपिण्डं पुत्रकामा पत्नी प्राश्नीयात् "आधत्त पितरो गर्भम्" इति मन्त्रेण। तदेवं वेदवचसा 'बहून् पिण्डान् परःशतानश्नाति यावदेकोऽपि पुत्रो न जायते। तथा "पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्" इति श्रुतावास्ते। परं गर्भस्थो जातमात्रो बालो युवापि कुमारो म्रियते। किं चान्यत्—स श्रौतो हेतुः अविशुद्धः पशुहिंसात्मकत्वात्। क्षययुक्तः पुन पातात्। अतिशययुक्तः तत्रापि स्वामिभृत्यभावश्रवणात्।

अनुवाद—जो यह वैदिक, श्रुतिबोधित अग्निहोत्रादिक स्वर्ग के साधन होने से त्रिविध दुःखों के प्रतीकार का हेतु बताया है वह भी लौकिक उपाय के ही तुल्य होने से अनैकान्तिक है। "आधत्त पितरो गर्भम्" इस मन्त्र से मध्यम पिण्ड को पुत्रेच्छा वाली पत्नी खाये, ऐसा वेद में लिखा है इस प्रकार बहुत पिण्ड खाने पर एक भी पुत्र पैदा नहीं होता। और भी "पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्" इत्यादि वेदमन्त्रों के रहते हुए भी गर्भस्थ सद्यः समुत्पन्न युवा कुमार आदि मरते ही हैं। दूसरी बात यह कि यह वैदिक उपाय अविशुद्ध भी है यज्ञादि में पशुहिंसा के होने से। और क्षययुक्त भी है, स्वर्ग से भी पुनः पतन होने से। साथ ही साथ अतिशययुक्त भी है क्योंकि स्वर्ग में भी स्वामिभृत्यभाव सुना जाता है।

मा० वृत्तिः—उक्तं च—

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥

पशुवधोऽग्निष्टोमे मानुषवधः, गोसवव्यवस्था सौत्रामण्यां सुरापानं रण्डया सह स्वेच्छालापश्च ऋत्विजाम्। कल्पसूत्रेऽन्यदपि अकृत्यं भूरि कर्त्तव्यतयोपदिश्यते। ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे तस्करं नारकाय वीरहणम्" इत्यादिश्रवणात्। किञ्च—

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवेमां न यज्ञैर्माष्टुमर्हति॥
नहि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः।

"तद्यथाऽस्मिन् लोके मनुष्याः पशूनश्नन्ति तथाऽभियुञ्जत एवममुष्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति" इति श्रुतिशतश्रवणात्। अन्यच्च—

वृक्षान् छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यज्ञैश्चेद्गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते॥
इत्यविशुद्धयुक्तः सर्वथा श्रौतो दुःखप्रतीकारहेतुः।

अनुवाद—कहा भी है—तीन तीन कम छः सौ पशु दिन के दोपहर तक अश्वमेध यज्ञ में नियुक्त किये जाते हैं। इस तरह अग्निष्टोम याग में पशुवध, और सौत्रामणि याग में मानुषवध, गोसवव्यवस्था, सुरापान और वेश्या के साथ स्वेच्छालाप ऋत्विजों का बतलाया गया है। कल्पसूत्र में बहुत से अकृत्य का कर्त्तव्यत्वेन उपदेश दिया गया है। जैसे—ब्रह्मप्राप्ति के लिए ब्राह्मणवध, क्षात्र के लिए क्षत्रिय का, देवत्व के लिए वैश्य का, तापस के लिए तस्कर का, नारक के लिए वीरहण का वध करे, इत्यादि विधि सुनी गयी है और भी—

जैसे कीचड़ से कीचड़ नहीं धुलता और न सुरा से सुराजन्य मलिनता ही दूर होती है उसी प्रकार इस भूतहत्या को यज्ञ से भी शुद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि रुधिर से लिप्त हाथ रुधिर से ही साफ नहीं हो सकते। जैसे "इस लोक में मनुष्य पशुओं को मारते हैं, इसी तरह परलोक में पशु भी मनुष्यों को मारते हैं" ऐसे सैकड़ों वाक्य श्रुति में आये हैं। और भी कहा है कि "वृक्षों को काटकर, पशुओं को मारकर और खून की नदी बहाकर यदि स्वर्ग मिलता है तो फिर नरक किससे मिलेगा।" उक्तरीति से यह वैदिक उपाय भी अविशुद्धि युक्त होने से दुःखत्रय के प्रतीकार का हेतु नहीं है।

मा० वृत्ति—अथ 'अपाम सोमममृता अभूम' इति प्रागुक्तम्। तत्रेदं प्रत्युत्तरम्। सोमपायिनामपि नृगनहुषेन्द्रययातीनां वधबन्धनपरिक्लेशा बहुविधाः। कर्मण उपभोगादितरेषां पतनं च। एकाहादीनां सत्राणां दिनपरिमाणवतां कारणानां परिमाणवदेव स्वर्गादि कार्यं दृष्टम्। कारणानुगमत्वात् कार्यस्य। परिमाणवन्मृत्पिण्डात् परिमाणवानेव घटः स्यात्। एवमानुश्रविकाणां फलपरिमाणत्वात् पुनः क्षयः। अतिशययुक्तश्च, यथा आढ्यमवलोक्य दरिद्रस्य दुःखं स्यात्। सुरूपं च वीक्ष्य कुरूपस्य, प्राज्ञं दृष्ट्वा मूर्खस्य तथा शताप्सरसं स्वर्गिणं दृष्ट्वा पञ्चाप्सरसस्तं दृष्ट्वैकाप्सरसो दुःखमुत्पद्यते। एवमयं दृष्टवत्। तदेवमन्योन्यातिशयात् स्वर्गेऽपि दुःखमव्यावृत्तम्। तस्मात् तद्विपरीतः श्रेयान्। ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां हेतुभ्यां विपरीतो विसदृश ऐकान्तिक आत्यन्तिको विशुद्धः, अक्षयः, अनन्तफलः कैवल्यान्निरतिशयो हेतुः स श्रेयान् प्रशस्यः कथं पुनरसौ भवतीत्याह—

अनुवाद—पहिले जो "अपाम सोमममृता अभूम" इत्यादि वाक्य स्वर्ग की नित्यता दिखलाने के लिए कहे गये थे। उनका यह उत्तर है—कि सोमपान करने वाले नृग, नहुष, इन्द्र, ययाति इत्यादिकों का भी अनेक प्रकार का वध, बन्धन, क्लेश देखा गया है। और कर्मों के उपभोग होने पर औरों का पतन भी देखा गया है। क्योंकि एक दिन में समाप्त होने वाले केवल एक दिन परिमाण वाले यज्ञों का परिमाणवान् (सीमित) स्वर्गादि फल देखा गया है। क्योंकि कार्य कारण का अनुगमन करता है। जैसे परिमाण वाले मृत्पिण्ड से परिमाण वाला ही घट उत्पन्न होगा, इसी प्रकार वैदिक क्रियाकलापों का भी फल तथा परिमाणयुक्त होने से पुनः क्षय होना निश्चित ही है। और भी वैदिक उपाय अतिशययुक्त भी हैं। जैसे धनवान् को देखकर निर्धन दुःखी होता है, सुन्दर रूप वाले व्यक्ति को देखकर कुरूप को

दुःख होता है, बुद्धिमान् को देख कर मूर्ख को दुःख होता है, सौ अप्सरा वाले स्वर्गी को देखकर पाँच अप्सरा वाले को, और उसे देखकर एक अप्सरा वाले को दुःख होता है। इस प्रकार यह वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के तुल्य ही हैं। एक दूसरे के सुख में तारतम्य होने के कारण स्वर्ग में भी दुःख विद्यमान ही है। अतः उससे भिन्न (प्रकृति पुरुष विवेकात्मक) उपाय ही श्रेयस्कर हैं। उन दृष्ट तथा आनुश्रविक उपायों से भिन्न (प्रकृति-पुरुष विवेक साक्षात्कारात्मक) उपाय ऐकान्तिक, आत्यन्तिक, विशुद्ध, अक्षय, तथा अनन्त फलवाला होने से, और निरतिशय कैवल्यप्रद होने से प्रशस्य है। यह किस तरह प्राप्त होता है इसे आगे कहेंगे—

मा० वृत्ति—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च तेषां त्रयाणां विज्ञानादनुभवात्। भवति ह्यसौ अवश्यं फलदानादैकान्तिकः, यमनियमादिमत्वात् शुद्धः, शरीरभेदे पुनरनावेश्यत्वादक्षयफलः। कैवल्यादनुत्तरत्वाच्च निरतिशयफलमिति वाक्यशेषः। तत्र व्यक्तं बुद्ध्यहंकारेन्द्रियतन्मात्रभूतभेदात्त्रयोविंशतिकम्। अव्यक्तं प्रधानम्। व्यक्तोत्पत्तिकारणम्। न ह्यकारणं कार्यमित्यस्य सिद्धिः। सः पुरुषः। सन्निधिसत्तामात्रेण चुम्बक इव लोहस्य प्रवृत्तिहेतुरयमस्तीति सिद्धिः। एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञसंज्ञानि। यद्विज्ञानादवश्यं सर्वथा तापत्रयेण विमुच्यते ॥२॥

अनुवाद—व्यक्त, अव्यक्त व पुरुष के विज्ञान से, द्वन्द्व समास दिखलाते हुए कहते हैं कि इन तीनों के अनुभव से वह निरतिशय कैवल्य लाभ होता है। यह उपाय अवश्य फलदायक होने से ऐकान्तिक है और प्रकृतिविषयक-ज्ञान हो जाने से आत्यन्तिक है और यमनियमादियुक्त होने से शुद्ध है। शरीरान्त में पुनः प्रवेश न होने से अक्षयफल वाला है। व्यक्त—बुद्धि अहंकार पञ्चतन्मात्रायें, एकादशइन्द्रियां, पञ्चमहाभूत, यह सब मिलाकर तेईस प्रकार के हैं। प्रधान (प्रकृति) को अव्यक्त कहते हैं, जो कि व्यक्त के उत्पत्ति का कारण हैं। बिना कारण का कार्य नहीं होता, अतः इस (अव्यक्त) की भी सिद्धि हो जाती है। ज्ञः, पुरुष को कहते हैं। जैसे चुम्बक केवल स्व सत्ता मात्र से लौह के प्रवृत्ति में कारण है उसी तरह पुरुष भी सन्निधिसत्तामात्र से प्रधान जो कि जड़ है, उसके प्रवृत्ति में कारण माना जाता है। ये ही पचीस तत्त्व व्यक्त, अव्यक्त व ज्ञ के नाम से कहे जाते हैं जिनके सम्यक् ज्ञान से व्यक्ति तापत्रय से सर्वथा विमुक्त हो जाता है ॥२॥

प्रबोधिनी

पूर्व पक्ष के रूप में जो वैदिक उपाय यागादि कर्म कलाप सरल तथा सुसाध्य बतलाया गया था, उसी के उत्तर में कहा जा रहा है कि वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय की ही तरह हैं। जैसे लौकिक उपाय—औषधि, मणि, वस्त्रादियों से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं होती, वैसे ही वैदिक उपाय से भी वह असम्भव है, अतः वैदिक उपाय भी अनैकान्तिक हैं। यहाँ वृत्ति में आये हुए इस '**अनैकान्तिक**' शब्द का अर्थ अवश्यम्भावेन जो उपाय समर्थ न हों, ऐसा अर्थ ही करना होगा। क्योंकि—एकान्तमवश्यम् तत्र भव ऐकान्तिकः न ऐकान्तिक अनैकान्तिकः ऐसा व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही यहाँ उचित है, न कि न्यायशास्त्र का अनैकान्तिक' अर्थात् सव्यभिचार हेत्वाभास दोष। '**आनुश्रविक**' शब्द से वैदिक उपाय केवल यागादि कर्म कलाप ही समझना चाहिए, न कि वैदिकोपायमात्र, क्योंकि विवेकज्ञान भी वैदिकोपाय से ही साध्य है। जैसे कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है, "कथम् अमृता स्याम" इस मैत्रेयी के प्रश्न पर याज्ञवल्क्य ऋषि ने उत्तर दिया था—स हो वाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इत्यादि (२।४।५) इस प्रकार वैदिक उपाय भी दृष्ट तुल्य होने से तथा अविशुद्ध (हिंसादि दोष दूषित होने के कारण) है। और क्षययुक्त (नाशवान्फलजनक होने के कारण) भी है। साथ ही साथ फल में तारतम्य होने से अतिशययुक्त भी देखा गया है। क्योंकि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ स्वर्ग मात्र के साधन हैं और वाजपेयादि यज्ञ स्वाराज्य के साधन हैं। अतः स्वर्ग में भी स्वामिभृत्य भाव का होना निश्चित ही है। फिर "पररूपदुत्कर्षो हीनसम्पदं पुरुषं दुःखा करोति" इस न्याय से स्वाराज्य वाले व्यक्ति को देखता हुआ स्वर्गी के मन में इस प्रकार का विचार आना स्वाभाविक ही है कि "अहो दौर्भाग्यं मे नाहमस्मि राजा" इस तरह के निर्वेद से स्वर्ग भी अछूता नहीं है। श्रीमद्भागवत में भी इस बात का उल्लेख है—

एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम्॥
श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः।
बह्वन्तरायकत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम्॥

(स्क० ११।३।२४)

वैदिक उपायों की अपवित्रता का उल्लेख करते हुए वृत्तिकार ने विस्तार से समझाया है कि स्वर्ग के साधनीभूत यज्ञों में किस तरह हिंसा का साम्राज्य है। 'यथा पङ्केन पङ्काम्भः' वृक्षान् छित्वा पशून् हत्वा इत्यादि श्लोकों से इसकी पुष्टि भी की है कि वह वैदिक उपाय, पशुवधादि पाप कर्म से किस प्रकार अशुद्ध है—"**स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः**" इति। इसका अर्थ करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि—ज्योतिष्टोमादि यज्ञ मे उत्पन्न हुआ जो प्रधानापूर्व है, वह पशुहिंसादिजन्य अनर्थ हेतु अपूर्व से मिल जाता है। उसका परिहार प्रायश्चित्त के द्वारा ही हो सकता है। यदि प्रमादवश प्रायश्चित्त भी नहीं किया, तो प्रधानापूर्व के फलयोग के समय जब तक अनर्थ रहेगा तब तक सहना ही पड़ेगा। व्याख्या में कुछ शब्द मीमांसा दर्शन के पारिभाषिक हैं जैसे प्रधानापूर्व इत्यादि। अतः इनका सरलार्थ समझा देना आवश्यक है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व शब्द का अर्थ कोई गुण विशेष है जो यागादिजन्य है, तथा स्वर्गादिफल का जनक है। मीमांसक लोग इसी गुण विशेष को 'अपूर्व' कहते हैं और वेदान्ती लोग इसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। नैयायिक इसे धर्माधर्म कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में इसे अदृष्ट कहते हैं। पौराणिक पुण्यपाप कहते हैं। मीमांसा दर्शन के अनुसार वह अपूर्व तीन प्रकार का होता है। १—प्रधानापूर्व २—अङ्गापूर्व ३—अवान्तरापूर्व। दर्शपौर्णमास मे उत्पन्न होने वाला अपूर्व प्रधानापूर्व कहा जाता है। इसी को परमापूर्व भी कहते हैं। प्रयाजादि अङ्ग से उत्पन्न होने वाला अपूर्व अङ्गापूर्व कहा जाता है। अवान्तरक्रियाकलाप से जन्य अपूर्व अवान्तरापूर्व कहा जाता है। जैसे—व्रीहिप्रोक्षणाभ्युक्षणादिजन्य द्रव्य में रहने वाला अपूर्व। अङ्गापूर्व सहित परमापूर्व विशिष्टफलदायक होता है। उससे रहित स्वल्पफलदायक होता है। यज्ञ के आशु विनाशी होने के कारण स्वर्गोत्पत्ति के समय उसके न रहने से स्वर्गोपत्ति के सङ्गति के लिए मीमांसकों ने यागजन्य अपूर्व की कल्पना की है।

यहाँ प्रकृत में यही कहना है कि यज्ञों में जो पशुवधादिजन्य पाप है उसका प्रायश्चित्त करना ही पड़ेगा। प्रायश्चित्त का अर्थ शास्त्रकारों ने इस तरह किया है। "**यदुपचितमशुभं विनाशयति न तु फलान्तरं जनयति तत्कर्म प्रायश्चित्तम्।**" और भी—

प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम्।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः॥

यदि प्रमादवश प्रायश्चित्त भी नहीं किया तो पशुहिंसादिजन्य पाप का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। इसीलिए इसी आशय को लेकर '**सप्रत्यवमर्शः**' ऐसा कहा है। क्योंकि यह नियम है—"**नहि फलमदत्वा कृतं कर्म क्षीयत इति।**"

अब एक प्रश्न यह है कि सङ्करजन्य दुःख अवश्यमेव सोढव्य है तो फिर यज्ञ के लिए लोगों की प्रवृत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर पञ्चशिखाचार्य ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार दिया है—"**कुशलस्य नापकर्षायालं, कस्मात् कुशलं मे बह्वन्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेप्यपकर्षमल्पं करिष्यति।**" मतलब यह है—यज्ञ कर्त्ता सोचता है कि मेरा पुण्य बहुत है और अपुण्य अल्प, अतः पुण्य में अपुण्य विलीन होकर स्वर्ग में भी अनिष्ट नहीं कर सकता है, पर कितना ही पुण्यात्मा क्यों न हो, यदि उसमें पाप का सम्पर्क है तो उस पापजन्य दुःख को भी भोगना ही पड़ता है। इस विषय में मीमांसकों का यह भी कहना है कि वस्तुतः यज्ञ में हिंसा होती ही नहीं, फिर हिंसाजन्य पाप की चर्चा ही कहां। क्योंकि यज्ञ का नाम "अध्वर" है। निरुक्त में इसकी व्याख्या इस तरह की गई है "**ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधोऽध्वरः**" इति। अर्थात्—याग में पशु वध, तृण, वृक्षादिच्छेद की हिंसा नहीं होती। स्वयं कुमारिलभट्ट ने भी कहा है कि—द्वेषपूर्वकं प्राणिवध एवं हिंसा (मी० १।१।२) और जो यह सामान्य शास्त्र है "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इसको विशेषशास्त्र "अग्निषोमीय पशुमालभेत" यह बाध लेगा, क्योंकि विशेष शास्त्र सामान्य शास्त्र का बाधक होता है। जैसे—'**आद्गुणः**' इस सामान्य शास्त्र का '**वृद्धिरेचि**' यह विशेष शास्त्र बाधक है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि वैदिक हिंसा में पाप नहीं होता। यह पूर्वपक्ष है। इसके उत्तर में सांख्याचार्यों का कहना है कि "न हिंस्यात् सर्वाभूतानि" इसमें जो हिंसा का निषेध किया है उसका तात्पर्य इतना ही है कि हिंसा पुरुष के लिए अनर्थकरी है, न कि यज्ञोपकारिणी। और जो **अग्निषोमीयं पशुमालभेत** इत्यादि वाक्य हैं उनका भी तात्पर्य इतना ही है कि वैदिक हिंसा यज्ञोपकारिणी है, न कि अनर्थकरी। यहाँ भिन्न विषय होने के कारण यह कहना ही पड़ेगा कि भले ही हिंसा यज्ञ की उपकारिणी हो, पर उससे अनर्थ की सम्भावना तो है ही, क्योंकि प्राणवियोगानुकूलव्यापार तो वहां भी रहेगा ही। इसलिए किरातार्जुनीय महाकाव्य में भी अपने पुत्र अर्जुन के प्रति देवराज ने कहा हैं:—**यः करोति वधोदर्का निश्रेयसकरीः क्रियाः। ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः॥** महाभारत में भी इस बात का वर्णन है—**अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः। संशयात्मभिरव्यक्तै-**

हिंसा समनुवर्णिता ।। (म० भा० मोक्षधर्म) इस प्रकार वैदिक उपाय भी हिंसादि दोष से दूषित होने के कारण लौकिक उपाय के ही तुल्य हैं ।

वैदिक उपाय के वर्णन के प्रसङ्ग में यह दलील दी गई थी कि यदि स्वर्ग अनित्य, क्षयी होता तो फिर श्रुति में यह कैसे कहा जाता है कि **अपाम सोममृता अभूम** इत्यादि इसका उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि सोम पान करने वाले नृग, नहुष, इन्द्र, ययाति प्रभृतियों का भी अनेक प्रकार का वध, बन्धनादि क्लेश और पतन देखा गया है । तात्पर्य यह है कि यहाँ जो भी यज्ञ यागादि कर्म कलाप किए जायेंगे वे अवश्य ही परिमाण युक्त होंगे और इन परिमाण युक्त यागादि कारणों से परिमाण युक्त ही स्वर्गादि कार्य होंगे । कार्य-कारण का यह नियम है कि, जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा । अतः परिमित स्वर्गादिफल का अनित्य, क्षयी, पतनशील होने में कोई अत्युक्ति नहीं । इसीलिए **अपाम सोममृता अभूम** इत्यादि श्रुति में अमृतत्व का अर्थ केवल चिरकाल स्थायित्व ही करना होगा । **अमृता पद** में जो नञ् समास है, उसका अल्पत्व में ही पर्यवसान है । जैसे—**अनुदरा कन्या** इत्यादि स्थल में नञ् का अल्पार्थ किया जाता है । यागादि अमृतत्व के साधक नहीं है, इसमें यह श्रुति भी प्रमाण है **'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनाऽमृतत्वमानशुः । परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति ।'** अभिप्राय यह है कि न तो कर्मकलाप से, न सन्तान से, न धन से ही अमृतत्व को प्राप्त किया, अपितु केवल विवेकज्ञानसाध्य त्याग द्वारा ही योगी लोग अमृतत्व को प्राप्त कर सके । क्या यह अमृतत्व स्वर्ग है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह अमृतत्व (मोक्ष) स्वर्ग से परे (भिन्न) है और बुद्धिरूपी गुहा में चैतन्य से प्रकाशित होता है । **निहितम्** इस पद से यही द्योतित होता है कि वह लौकिक प्रमाणागोचर है । यत्नशील यति लोग ही उसको प्राप्त कर सकते हैं ।

इस प्रकार यह वैदिक कर्मकलाप भी अविशुद्धि, क्षय, तथा अतिशय युक्त है । इससे भिन्न प्रकृति पुरुष विवेकरूपी आत्मज्ञान से ही त्रिविध दुखों की आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्ति हो सकती है ।

(वस्तुतः विचार किया जाय तो वैदिक कर्म कलाप का भी परम्परया तात्पर्य मोक्ष में ही है, न कि स्वर्ग में । कर्म स्वरूपतः न तो किसी को बन्धन में डालते हैं और न मुक्ति ही देते हैं क्योंकि वह स्वयं जड़ हैं उनमें बन्ध, मोक्ष की शक्ति ही कहाँ ? फलाशा या आसक्ति से पुरुष बन्धन में पड़ता है ।

और फलाशा छोड़कर किया गया कर्म बन्धन के लिए नहीं होता। आध्यात्म रामायण में रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण के प्रति कहा भी है—**प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते। बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥)**

कारिका में आये हुए **व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्** इसका अर्थ केवल गुरुमुख से श्रवणमात्र नहीं है अपितु निदिध्यासनादि से आत्मसाक्षात्कार जनक भावना भी अपेक्षित है। इस बात को तत्त्वकौमुदीकार ने इस प्रकार कहा है—**श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा शास्त्र-युक्त्या च व्यवस्थाय दीर्घकालनैरन्तर्यादरसेविताद् भावनामयाद् विज्ञाना-दिति।**

संक्षेप में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्मा और अनात्मा के विवेक साक्षात्कार से कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अखिल अभिमान की निवृत्ति से उनके कार्य जो राग द्वेष धर्माधर्म की अनुत्पत्ति से वंचित कर्मों के सहकारी कारण अविद्या रागादि के नाश हो जाने से, फिर कर्मों का आरम्भ नहीं हो कता है और प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के बाद पुनर्जन्म के अभाव से त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ प्राप्त होता है। अतः ऐसे आत्मसाक्षा-त्कार का हेतु जो सांख्यशास्त्र है, उसमें बुद्धिमानों की प्रवृत्ति का होना उचित ही है ॥२॥

सङ्गति०—नन्वमीषां कतिधा प्रविभाग इत्यत्रोच्यते चतुर्धा। कथमिति-चेत्तदुच्यते—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त पदार्थों का वर्गीकरण चार तरह से किया जाता है, इसी को प्रकृत कारिका में दिखलाते हैं—मूल प्रकृति (प्रधान) अविकृति है। वह किसी अन्य का विकार नहीं है। इसीलिए इसे मूल कहा गया है। महदादि सात प्रकृति भी हैं और विकृति भी। अर्थात् बुद्धि अहंकार पञ्च तन्मात्रायें, ये सात किसी के कारण भी हैं और किसी के कार्य भी हैं। और अन्य सोलह पदार्थ विकृति ही हैं, वे किसी के प्रकृति नहीं हैं। पुरुष तो कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी होने से न प्रकृति ही है और न विकृति ही है ॥३॥

मा० वृत्ति—मूलप्रकृतिः प्रधानं मूलभूतत्वात्। मूलं सप्तानां प्रकृतिविकृती-नामादिरित्यर्थः। प्रकरणात् प्रकृतिः प्रसवधर्मकत्वात्सा प्रकृतिः। न विकृति-

रविकृतिरन्यस्मादनुत्पत्तेः । कारणमेव सा न कार्यमित्यर्थः । अनुत्पन्नत्वादुत्पादकत्वाच्च । महदाद्यास्तु सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च । महानहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि चेति सप्त प्रकृतयोऽन्येषां कारणतया, विकृतयश्च कार्यतया स्वयम् । तत्र व्यक्तिमाह—प्रधानात् बुद्धिरिति विकृतिः, सा च अहङ्कारं जनयतीति प्रकृतिः । अहङ्कारो महत उत्पन्न इति विकृतिः । तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पन्नानीति विकृतयः पञ्चापि, ततः पञ्च महाभूतानि जायन्त इति प्रकृतयः । उत्पन्नत्वादुत्पादकत्वाच्च सप्तेमाः प्रकृतयो विकृतयश्च । तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि ।

अनुवाद—मूल प्रकृति प्रधान को कहते हैं। वह सातों प्रकृति तथा विकृतियों का मूल है। प्रकृष्ट करण होने के कारण उसे प्रकृति कहते हैं और प्रसवधर्मा होने से भी उसे प्रकृति कहते हैं। अन्य किसी से अनुत्पन्न होने से उसे अविकृति कहते हैं अर्थात् वह कारण ही है कार्य नहीं, स्वयं किसी से अनुत्पन्न होने से तथा अन्य सात पदार्थों के उत्पादक होने से। यह महदादि सात प्रकृति भी हैं और विकृति भी। ये हैं—बुद्धि, अहंकार, पांच तन्मात्रायें, ये सब मिलकर सात पदार्थ हैं। वे अन्य के कारण होने से प्रकृति कहे जाते हैं, और स्वयं प्रकृति के कार्य होने से विकृति कहे जाते हैं। इसी को स्पष्ट कर रहे हैं—प्रधान से बुद्धि उत्पन्न होती हैं, वह प्रधान की विकृति हुई। और बुद्धि स्वयं अहंकार को पैदा करती है इसलिए प्रकृति हुई। अहंकार बुद्धि से उत्पन्न हुआ इसलिए विकृति हुआ, और स्वयं पञ्चतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है इसलिए प्रकृति हुआ। तन्मात्राएँ अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं इस लिए विकृति हुई और स्वयं पञ्चमहाभूतों को उत्पन्न करती हैं, इसलिए प्रकृति हुई। अर्थात् स्वयं किसी से उत्पन्न होने से और अन्य के उत्पादक होने से ये सात प्रकृति और विकृति कहे जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन्हें पञ्चतन्मात्रायें कहते हैं।

मा० वृत्ति—षोडशकस्तु पुनर्विकार एव कार्यत्वात् । न तु तस्य प्रकृतित्वमकारणत्वात् । तद्व्यक्तिमाह—वैकृतिकादहङ्कारादुत्पन्नान्येकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीति षोडशकोऽयं गणो विकारोऽन्यस्मादुत्पन्नो न हि ततोऽन्यदुत्पद्यत इत्यर्थः । उत्पन्नत्वादनुत्पादकत्वाच्च । पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वात् न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात् । नैवासौ कारणं न च कार्यमित्यर्थः । एवमेष प्रकृतिः, प्रकृतिविकृतिः, विकृतिः न प्रकृतिर्न च विकृतिरितिभेदाच्चतुर्धा प्रकृतिविकृतिविभागोऽभिहितः ॥३॥

अनुवादः—षोडश गण तो विकार ही हैं, कार्य होने से । किसी अन्य का कारण न होने से वह षोडश गण प्रकृति नहीं हो सकता है । इसी को स्पष्ट करते हैं कि वैकारिक अहंकार से एकादश इन्द्रियां उत्पन्न हुईं और पञ्च तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए । यही सोलह पदार्थ षोडशगण विकार कहे जाते हैं । क्योंकि वे स्वयं अन्य से उत्पन्न होते हैं और उनसे कोई अन्य पदार्थ उत्पन्न नहीं होते । इसलिए स्वयं उत्पन्न होने से और अनुत्पादक होने से वे विकार (विकृति) हैं । पुरुष तो न प्रकृति है अनुत्पादक होने से, नही विकृति ही है किसी से उत्पन्न न होने से । न यह कारण है और न कार्य ही । इस तरह कुछ पदार्थं प्रकृति, अन्य प्रकृति विकृति, और कुछ विकृति, अन्य न प्रकृति न विकृति, यह प्रकृति विकृतियों का चार प्रकार से विभाजन दिखला दिया है ।।३।।

प्रबोधिनी

सांख्यशास्त्रीय पदार्थों का पुनः अवान्तर विभाजन दिखलाते हुए कहते हैं कि सांख्य दर्शन में इन पदार्थों का चार तरह से विभाग किया जा सकता है । जैसे —कुछ पदार्थ तो केवल प्रकृति, और कुछ पदार्थ केवल विकृति, अन्य प्रकृति विकृति उभय, कुछ अनुभय न प्रकृति न विकृति । अर्थात्—मूल प्रकृति अविकृति है, वह किसी का विकार नहीं है । क्योंकि विश्व के कार्य-सङ्घात का वह मूल है । इसका कोई कारण नहीं है । यदि इसका भी कोई कारण माना जाय तो अनवस्थादोष आयेगा । इसीलिए सांख्यसूत्र में भी लिखा है, **मूले मूलाभावादमूलम्** (सां० १।६७) सांख्य दर्शन के अनुसार विश्व का उपादान कारण यही है । अन्यान्य दर्शनों में इसी को माया, अविद्या, शक्ति इत्यादि शब्दों से कहा जाता है । यह सत्त्व, रज, एवं तमो गुण की साम्यावस्था है । यह प्रकृति की अकार्यावस्था है । क्योंकि कार्यावस्था में गुणों का साम्य नहीं रहता । सत्वादियों में जो गुण शब्द का प्रयोग किया गया है वह पारिभाषिक है । वस्तुतः सत्वादि द्रव्य हैं, वैशेषिक दर्शन की तरहं गुण नहीं, क्योंकि ये सत्वादि संयोग-विभाग धर्म वाले हैं । यदि ये वैशेषिकोक्त गुण होतें तो संयोग-विभाग धर्म इनमें नहीं रहता । क्योंकि यह नियम है— **गुणे गुणानङ्गीकारादित्यर्थः** । **देवी भागवत** में प्रकृति शब्द की व्याख्या इस तरह की गई है ।

"प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ।।

चन्द्रिका व्याख्याकार ने प्रकृति का परिष्कृत लक्षण इस तरह किया है—**अजन्यत्वे सति जनकत्वं प्रकृतित्वम्**। सांख्यसूत्र में प्रकृति का लक्षण यह है—**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**। परन्तु प्रकृति का यह लक्षण केवल साम्यावस्थोपलक्षित मूल प्रकृति में ही घटता है और व्यवहार अन्यत्र भी होता है जैसे—**मृत्प्रकृतिको घटः, कनकप्रकृतिकं कटकम्** इत्यादि। ऐसे स्थलों में प्रकृतित्वं व्यवहारलाक्षणिक समझना चाहिए।

महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्रायें—ये सात प्रकृति भी हैं, और विकृति भी। वृत्ति में इनका विवरण विस्तार से दिया है। इनका परिष्कृत लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं—**तत्वान्तरोपादानत्वे सति तत्त्वान्तरोपादेयत्वं प्रकृतिविकृतित्वम्**। षोडशगण एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च-महाभूत, ये सब विकृति ही है। वैकारिक अहंकार से एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च महाभूत—ये षोडशगण किसी तत्त्वान्तर के जनक न होने से और स्वयं जन्य होने से इन्हें विकृति ही कहते हैं। क्योंकि—**तत्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वमिति** इस लक्षण के अनुसार इनमें प्रकृतित्व नहीं आता है। यद्यपि पृथिव्यादियों से भी गो घट वृक्षादि विकार उत्पन्न होते हैं और उनसे भी दूध, बीज आदि उत्पन्न होते हैं एवं दुग्धादि से दधि अङ्कुर आदि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार षोडशगण में भी तत्वान्तरोपादानत्व होने से प्रकृतिविकृतित्व आ सकता है। परन्तु गो घटादियों की स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता समान है। इसीलिए घटादियों को पृथिव्यादि से पृथक् तत्त्व नहीं माना है।

जहाँ तत्वान्तर माना जाता है वहाँ पर स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता में साम्य नहीं रहता। अतः पृथिव्यादियों का तत्त्वान्तर परिणाम न होने से, इन्हें केवल विकृति कहा है। योगभाष्य में भी भगवान् व्यास ने इस बात को स्पष्ट किया है—"**न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्ति इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः।**" (विशेष पद का अर्थ षोडशगण हैं)। पुरुष अनुभय है—न प्रकृति और न विकृति। इसका लक्षण इस तरह कर सकते हैं—**अजनकत्वे सत्यजन्यत्वम्**। इस प्रकार सांख्यशास्त्रीय पञ्चविंशति तत्त्वों का चार प्रकार से विभाजन हो जाता है।

सेश्वर सांख्य दर्शन में पुरुष से ही ईश्वर का भी ग्रहण हो जाता है। अविद्या, माया, जीव, अदृष्ट इत्यादि जो अन्य दार्शनिक मानते हैं, उनका ईश्वर संकल्प में ही अन्तर्भाव हो जायेगा। नैयायिकों की तरह सांख्य जाति को नित्य नहीं मानता। यहाँ दो तरह के पदार्थ माने जाते हैं—**सामान्य और**

विशेष। मृत्तिका सामान्य है और घट उसका विशेष। इन्हीं पच्चीस तत्त्वों में तत्तत् दर्शनाभिमत पदार्थों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उन पदार्थों के वर्णन न करने से इस दर्शन में किसी तरह की न्यूनता नहीं है ॥३॥

सङ्गतिः—एषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां प्रमेयाणां साधनाय प्रमाणान्याह। प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमिति क्रमेण हि सकलस्य सिद्धिर्दृष्टा।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अनुवाद—इन्हीं व्यक्ताव्यक्तादि प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों की व्याख्या करते हैं क्योंकि प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमा इत्यादि क्रम से ही सम्पूर्ण पदार्थों की सिद्धि देखी गई है।

दृष्ट (प्रत्यक्ष) अनुमान, और आप्तवचन (शब्द) ये तीन ही प्रमाण सांख्यशास्त्र में माने गये हैं क्योंकि अन्य प्रमाणों का भी इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमेय (पचीस तत्त्वों) की सिद्धि निरूपण भी आवश्यक है ॥४॥

मा० वृत्ति—दृष्टमिति प्रत्यक्षपर्यायः। अक्षमिन्द्रियं प्रतीत्य यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं दृष्टमुच्यते। यथा श्रोत्रादीनां शब्दादयः पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चानां दृष्टं प्रमाणम्। प्रथममिदं मुख्यं सकलप्रमाणानाम्। योऽर्थोऽमुना दृष्टेन साधयितुं न पार्यते तत्रानुमानस्यावकाशः। तच्च त्रिसाधनं पञ्चसाधनं वा। त्र्यवयवं पञ्चावयवमित्यपरे। तच्च त्रयस्त्रिंशदाभासरहितं प्रत्यक्षाभावे प्रतन्यतेऽनुमानम्। कमपि हेतुमन्वीक्ष्य तस्य हेतोः पश्चान्मीयत इत्यनुमानम्। यथा धूमं हेतुमन्वीक्ष्य महानस इव पूर्वं वह्निदर्शनादग्नेरस्तित्वं साध्यत इत्यनुमानम्। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां योऽर्थः साधयितुं न शक्यस्तत्राप्तवचनम्। यथा स्वर्गेऽप्सरसः सन्ति, नन्दनं वनं तत्र विशेषाः शब्दादयो विषया, विमानेऽधिवास-इति। आप्ता रागद्वेषादिरहिता ब्रह्मसनत्कुमारादयः, श्रुतिर्वेदः, ताभ्यामुपदिष्टं तथेति श्रद्धेयमाप्तवचनम्।

अनुवाद—"दृष्टम्" यह प्रत्यक्ष का पर्याय है। अक्ष इन्द्रिय के प्रति जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष (दृष्ट) कहते हैं। जैसे—श्रोत्रादि इन्द्रियों के शब्दादि पाँच विषय हैं। अतः पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जो तत्तत् विषय का ज्ञान है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रमुख है। जिस पदार्थ को प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं कर सकता है, वहाँ पर अनुमान प्रमाण का अवसर है। वह अनुमान तीन साधन वाला अथवा पाँच साधन

वाला होता है। कोई उसे त्रिअवयव अथवा पञ्चावयव भी कहते हैं। यह अनुमान तैंतीस आभास रहित, प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में प्रवृत्त होता है। किसी हेतु को देखकर बाद में उस हेतु से जहाँ साध्य का मान लगाया जाय उसे अनुमान कहते हैं। जैसे—पहिले महानस (रसोई) में धूम हेतु से वह्नि का दर्शन होता है। इसी प्रकार पर्वतादिपक्ष में भी धूम हेतु से वह्नि (साध्य) का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। इसी को अनुमान कहते हैं प्रत्यक्ष तथा अनुमान से जो पदार्थ सिद्ध न हो, वहाँ शब्द प्रमाण माना जाता है। जैसे—स्वर्ग में अप्सरायें हैं, नन्दन वन है, वहाँ शब्दादि विशेष भोग सामग्री है, विमान में निवास इत्यादि। आप्त का अर्थ है राग द्वेषादि रहित जैसे—ब्रह्म सनत्कुमारादि। श्रुति वेद को कहते हैं। उन्हीं दोनों आप्त तथा श्रुति द्वारा उपदिष्ट जो वचन, उनको यथावत् श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने को आप्तवचन अर्थात् शब्दप्रमाण कहते हैं।

मा० वृत्ति—नन्वर्थापत्तिः सम्भवोऽभावः प्रतिभा ऐतिह्यमुपमानं चेति प्रभृतीनि सन्ति बहूनि प्रमाणान्तराणि, कथमत्र त्रिविधं प्रमाणमिति सङ्गतिः। अत्रोच्यते—सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। सर्वाणि हि प्रमाणानि प्रमाणत्रयेऽविरुद्धानि। तत्र पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इत्युक्ते रात्रौ भुङ्क्त इत्यर्थः। साऽर्थापत्तिरनुमानमेव। प्रस्थ इत्युक्ते चत्वारः कुडवा इति बोधः सम्भवः सोऽप्यनुमानमेव। अभावश्च प्रागितरेतरप्रध्वंसात्यन्ताभावभेदाच्चतुर्द्धा। यथा व्रीहिशोषण दर्शनान्न वृष्टो देव इति वृष्टेरभावं साधयति। सोऽप्यनुमानभेदः। प्रतिभा यथा—

दक्षिणेन तु विन्ध्यस्य सह्यस्य तु यदुत्तरम्।
पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः॥

इत्युक्ते तत्र शोभना गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते। प्रतिभा जानतां ज्ञानम्। साऽप्यनुमानमेव। ऐतिह्यं यथा—अस्मिन् वटे यक्षिणी प्रतिवसति इति जना वदन्ति इत्युक्ते, सा विघ्नं करोति, धनादि यच्छतीति ज्ञानं, तदप्यनुमानमेव। उपमानम्—यथा गौस्तथा गवय इत्यप्यनुमानमेव।

अनुवाद—शङ्का है कि—अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, प्रतिभा ऐतिह्य, उपमान आदि बहुत से जब अन्यान्य प्रमाण है, तब आपने तीन गिनाये? प्रमाण कैसे उत्तर में कहते हैं कि "सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्" अर्थात् ये सारे प्रमाण इन तीन ही प्रमाणों में सन्निविष्ट हो जाते हैं। जैसे—स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता, ऐसा कहने से, रात्रि में भोजन करता है, यह कल्पनात्मक जो अर्थ है वही **अर्थापत्ति** है, यह अनुमान ही है। प्रस्थ कहने से, चार

कुडव हों ऐसा ज्ञान होता है—यह सम्भव प्रमाण है। यह भी अनुमान में ही गतार्थ हो जाता है। अभाव—प्रागभाव, इतरेतराभाव, प्रध्वंसाभाव, और अत्यन्ताभाव के भेद से यह चार प्रकार का होता है। जैसे—व्रीहि के शोषण से इन्द्रदेव नहीं बरसे, इस तरह वृष्टि का अभाव सिद्ध होता है। यह भी अनुमान का ही एक भेद है। प्रतिभा जैसे—विन्ध्य से दक्षिण की तरफ और सह्यपर्वत से उत्तर की ओर समुद्र पर्यन्त पृथिवी का जो प्रदेश है, वह मनोरम है—ऐसा कहने से यह मालूम हो जाता है कि वहाँ सुन्दर गुण हैं। इस तरह की प्रतिभा उत्पन्न होती है। ऐसा जो बुद्धिमानों का ज्ञान है वह भी अनुमान ही है। ऐतिह्य जैसे—इस वट में यक्षिणी रहती है, ऐसा लोग कहते हैं—इससे मालूम हो जाता है कि वह विघ्न करेगी, अथवा धनादि देगी, सद् ज्ञान भी अनुमान ही है। उपमान जैसे—जैसी गाय होती है वैसा ही गवय भी, यह अनुमान ही है।

मा० वृत्ति—किं च—(१) (कैश्चिन् प्रमाणतया परिगृहीतं चेष्टादिकं निरस्यति) तृषितस्याञ्जलिना, क्षुधितस्य पञ्चाङ्गुलियोगात्, पृथुलाक्षिप्रभृतिदर्शनात् दुर्बलस्य, तर्जनीपङ्कदर्शनात् ? ज्ञानमित्याद्यनुमानमेव। तस्मात्त्रिष्वेवान्यदन्तर्भवतीति युक्तमभिहितं त्रिविधं प्रमाणम्। इष्टमिति अभिप्रेतमित्यर्थः। तेन प्रमाणेन किं साध्यमित्याह—"प्रमेयं सकलं प्रमाणेन प्रमीयते, यथा तुलया चन्दनादि कर्षादिना घृतादि, प्रस्थादिना वा व्रीह्यादीत्यादिवत्। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। प्रमेया व्यक्ताव्यक्तज्ञाः प्रमाता, तत्र त्रयोविंशतिकं व्यक्तम्। अव्यक्तं प्रधानम्। ज्ञः क्षेत्रज्ञः। तदमीषां मध्ये किञ्चित्प्रत्यक्षेणान्यदमानेनेतरदाप्तानुमानाभ्यां प्रमीयते। तस्मादाचार्येण भगवता युक्तमभिहितम्—प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि इति ॥४॥

अनुवाद—और भी (किन्हीं के द्वारा माने गये चेष्टादिप्रमाणों का भी खण्डन करते हैं) प्यासे व्यक्ति का अञ्जलि के द्वारा, और भूखे व्यक्ति का पञ्चाङ्गुलि के संयोग से, बड़ी बड़ी आंखें दिखाने से तथा तर्जनी के उत्तोलन से दुर्बल व्यक्ति के क्रोध का जो ज्ञान होता है, वह सब अनुमान ही है। इसीलिए तीनों प्रमाणों में अन्य प्रमाण इष्ट हैं, यह ठीक ही कहा है। इन प्रमाणों के द्वारा किन वस्तुओं की सिद्धि होती है इसी को बतलाते हैं—"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" क्योंकि सम्पूर्ण प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से ही होती हैं। जैसे—तुला (तराजू) के द्वारा चन्दनादि की, कर्ष (प्रमाणविशेष) से घृतादि की, प्रस्थादियों से धान्यादि की प्रतीति होती है। प्रत्यक्ष अनुमान, और आगम ये तीन प्रमाण हैं। व्यक्त, अव्यक्त, और ज्ञ (आत्मा)

ये प्रमेय हैं। इनमें तेईस पदार्थ व्यक्त के अन्तर्गत आते हैं। प्रधान या प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं। आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। इन पदार्थों में से किन्हीं पदार्थों की प्रत्यक्षप्रमाण से प्रतीति होती है और किन्हीं पदार्थों की अनुमानसे, तदतिरिक्त किन्हीं की शब्द प्रमाण द्वारा प्रतीति होती है। इसी-लिए आचार्य भगवान् ईश्वरकृष्ण ने ठीक ही कहा है कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है ॥४॥

प्रबोधिनी

पूर्वोक्त तत्वों को प्रामाणिक करने के लिए प्रमाणों का निर्वचन करते है। क्योंकि यह नियम है कि--**लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः**। किसी भी प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के द्वारा ही हो सकती है और प्रमाण की सिद्धि लक्षण द्वारा। कहा भी है—**मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात्**। इसी न्याय से सर्वप्रथम प्रमाण का सामान्य लक्षण करते हैं—प्रमाणमिष्टं इत्यादि से। यहाँ **प्रमाणम्** यह यौगिक पद लक्ष्य है, और इसका निर्वचन ही लक्षण है। अर्थात्—प्रमीयतेऽनेनेति यह अंश लक्षण है, **प्रमाणम्** यह पद लक्ष्य लक्षण है। अभिप्राय यह है कि एक ही **प्रमाणम्** यह पद लक्ष्य लक्षण उभयपरक है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए लिखा है—**उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्या निर्वचनसामर्थ्याद्बोद्धव्यम्।" प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधातो हि प्रमाणशब्दः**। उपलब्धि का अर्थ है ज्ञान अथवा प्रमा, उसके साधन अर्थात् करण को प्रमाण कहते हैं। सांख्यतत्वकौमुदी में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इसका स्पष्टीकरण इस तरह किया है—**अत्र च प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं तन्निर्वचनं च लक्षणम्। प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते**। ठीक है प्रमाण का निर्वचन तो हो गया, पर प्रमा क्या चीज है ? तत्त्वकौमुदी में इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—**असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः प्रमा** अथवा—**बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा**। इस प्रकार प्रमा के दो लक्षण किये—निश्चित्त, यथार्थ और अननुभूत पदार्थ विषयक जो चित्तवृत्ति उसे प्रमा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि संशय, विपर्यय, विकल्प स्मृति रूप चित्तवृत्ति से भिन्न जो चित्तवृत्ति वही प्रमा है अर्थात् यथार्थ ज्ञान। दूसरे प्रमा का स्वरूप इस तरह है जो कि मुख्य प्रमा कही जाती है, वह है **पौरुषेय बोध** अर्थात् **घटमहं जानामि** इत्याकारक चित्तवृत्ति का

फलस्वरूप जो अनुभव, उसका पुरुष में उपचार रूप से भान होना। अथवा बुद्धि दर्पण में पुरुष का प्रतिबिम्ब रूप से संक्रान्त होना ही पौरुषेय बोध कहा जाता है।

प्रमाणसामान्य का लक्षण कर अब प्रमाणों के भेद दिखलाते है सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा शब्द, तीन ही प्रमाणों को मानते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण वृत्ति में आचार्य माठर संक्षेप में कर गये जो कि अधिकांशतः न्यायदर्शन के प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण से मिलता जुलता है। परन्तु सांख्य तथा योग विषयक अन्यान्य ग्रन्थों के परिशीलन से पता चलता है कि सांख्य दर्शन की प्रत्यक्षादि ज्ञान की प्रक्रिया न्यायदर्शन से भिन्न है। न्यायदर्शन अप्रत्यक्ष ज्ञान के लिए जहाँ केवल इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष मात्र की अपेक्षा रखता है, वहाँ सांख्य दर्शन में चित्त का अर्थाकार परिणत होना आवश्यक है, इसी को वृत्ति कहते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा चित्त अथवा मन का बाह्य घट पटादि वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होता है। उस सम्बन्ध से चित्त अर्थाकार में परिणत हो जाता है, चित्त की इस अर्थाकार परिणति का नाम ही चित्तवृत्ति है और इस चित्तवृत्ति में पुरुष (चैतन्य) का प्रतिविम्ब होने से पुरुष को उस अर्थ का बोध होता है। इसी बोध को पौरुषेय बोध कहते हैं। यहाँ पर चित्तवृत्ति प्रमाण हैं, और पौरुषेय बोध फल प्रमा है। व्यासभाष्य में भी इसका उल्लेख है— **इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणे प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।" फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः'** यही सांख्य दर्शन की प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया है।

जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं होते उन्हें अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया जाता है अर्थात् अतीन्द्रियादि पदार्थ जहाँ प्रत्यक्ष की पहुंच न हो। इस अनुमान को कोई त्र्यवयव तथा कोई पञ्चावयव मानते हैं। सांख्य दर्शन त्र्यवयव ही मानता है। प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त। वैशेषिक दर्शन में जहाँ परार्थानुमान का लक्षण किया है, वहाँ पञ्चावयवों का उल्लेख है **पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थ प्रतिपादनं परार्थानुमानम्**। तर्कभाषा में भी परार्थानुमान का लक्षण इसी तरह है। उन पाँचों अवयवों के नाम ये हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनयन, और निगमन।

पहिले धूम हेतु को देखकर महानसादि में वह्नि को भी देखता है। इस तरह से धूम और वह्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित हो जाता है फलतः यह व्याप्ति बन जाती है—"यत्र धूमस्तत्राग्निरिति"। फिर इस व्याप्ति बल

से यह निश्चय हो जाता है कि धूम अग्नि का हेतु (लिङ्ग) है। तत्पश्चात् पर्वतादि पक्ष में धूम हेतु से वह्नि साध्य का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमात् इत्यादि। प्रत्यक्ष तथा अनुमान से जो पदार्थ सिद्ध न हो उसे शब्द प्रमाण से सिद्ध किया जाता है। जैसे—स्वर्ग में अप्सरायें हैं, नन्दन वन है इत्यादि। इन स्थानों में इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्ष और हेतु के न होने से प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण से काम नहीं चलता। केवल शब्द प्रमाण की ही एक मात्र गति है। शब्द प्रमाण आप्तवचन को कहते हैं। आप्त का मतलब है यथार्थ वक्ता। साथ ही साथ श्रुति मोदित भी हो तभी वह प्रामाणिक माना जा सकता है यही शब्द प्रमाण है।

सांख्यदर्शन तीन ही प्रमाणों को मानता है। शेष प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन प्रमाणों में कर लिया जाता है। अन्यान्य दर्शनों में जिन प्रमाणों को माना गया है, उनमें प्रमुख ये हैं—अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, प्रतिभा, ऐतिह्य, उपमान आदि। प्रायः इन सबका अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थापत्ति प्रमाण मीमांसक तथा वेदान्ती लोग मानते हैं क्योंकि वे अनुमान के केवल व्यतिरेकी भेद को नहीं मानते। नैयायिक तथा सांख्य दर्शन इस भेद को मानता है अतः अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान के केवल व्यतिरेकी भेद में हो जाता है। अर्थापत्ति का स्वरूप इस तरह हैं—अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। **उपपादक-कल्पनाहेतुभूतोपपाद्यज्ञानमर्थापत्तिप्रमाणम्।** जैसे—देवदत्त दिन में नहीं खाता परन्तु मोटा है—ऐसा देखने या सुनने पर उसके रात्रि भोजन की कल्पना कर ली जाती है, क्योंकि दिन में न खाने वाले का मोटा होना रात्रि भोजन के बिना नहीं बन सकता है। इसीलिए अन्यथा पीनत्व की अनुपपत्ति ही रात्रिभोजन में प्रमाण है। यह प्रत्यक्षादि का विषय न होने से इसे अलग एक अर्थापत्ति प्रमाण माना है। परन्तु इसका अन्तर्भाव अनुमान में ही कर लिया जाता है, क्योंकि यह देवदत्त रात्रि में खाता है (यह प्रतिज्ञा वाक्य है) दिन में न खाने से भी मोटा होने से (यह हेतु है) जो रात्रि में नहीं खाता, वह दिन में न खाने से मोटा नहीं होता, जैसे—नवरात्रोपवासी पुरुष, दिन रात न खाने से दुबला हैं। (यह व्यतिरेक व्याप्ति और उदाहरण है।) यह देवदत्त वैसा नहीं है। (यह उपनय वाक्य है)। इसलिए रात्रि में भोजन करता है (यह निगमन हुआ) अतः केवल व्यतिरेकी अनुमान से रात्रि भोजन के प्रतीत हो जाने से अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण नहीं माना। इसी प्रकार सम्भव भी

पृथक् प्रमाण नहीं है । प्रस्थ कहने से चार कुडव का ज्ञान हो जाता है। यह भी व्याप्ति बल से अर्थावबोध करा देता है। यत्र यत्र कुडवः, तत्र तत्र प्रस्थः -- इस तरह व्याप्य व्यापक भाव मान लिया जाता है। अभाव भी पृथक् प्रमाण नहीं है । आचार्य माठर ने अनुमान में इसका अन्तर्भाव किया है । परन्तु वाचस्पति मिश्र ने अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना है। उन्होंने लिखा है,—**एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव, नहि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम** (सां० त० कौ०) मीमांसा दर्शन में आचार्य प्रभाकर भी अभाव को अधिकरणात्मक ही मानते हैं, अभाव ग्रहण के लिए पृथक् अनुपलब्धि प्रमाण को वे नहीं मानते । इसी तरह प्रतिभा भी पृथक् प्रमाण नहीं है । इसका लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार किया है— "नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा मता ।" यह बुद्धि की एक अभिनव स्फूर्ति ही कही जायेगी। फलतः इसका भी अनुमान में ही विलय हो सकता है ।

अनिर्दिष्ट प्रवक्ता के होने से ऐतिह्य भी पृथक् प्रमाण नहीं है । जैसे— इस वट वृक्ष में यक्षिणी रहती है, यह किसी निश्चित प्रवक्ता के न होने से संशयास्पद है अतः प्रमाण नहीं माना जाता। उपमान का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे—**यथा गौस्तथा गवय** ,इत्यादि में सादृश्य ज्ञान के आधार पर जो उपमान प्रमाण माना जाता है, वह ठीक नहीं है। इसका अनुमान में अन्तर्भाव इस तरह किया जा सकता है—"गवयशब्दो गोसदृशस्य पशो वाचकः, वृद्धै प्रयुक्तत्वात्, यो यदर्थे प्रयुज्यते सोऽसति वृत्यन्तरे तद्वाचकः, गोसदृशस्य गोवाचकत्ववत्, तस्मात् गवय शब्दो गोसदृश वाचकः" इस तरह पञ्चावयवन्याय से उपमान का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

किन्हीं (साहित्यिक आदि) लोगों के मत में चेष्टा भी एक प्रमाण है। जिसके द्वारा मनोऽनुकूल अभिप्राय का ज्ञान हो जाता है । व्यवहार में भी यह बात देखी जाती है । खासकर व्यापारी वर्ग में तो इसका काफी महत्त्व है । यदि क्रय-विक्रय व्यवहार में सेठ साहब एक अङ्गुली खड़ी करते हैं तो चतुर मुनीम उनके अभिमत अभिप्राय को निकाल ही लेते हैं। साहित्य ग्रन्थों में जगह जगह चेष्टा का वर्णन मिलता है । इसका एक रोचक उदाहरण काव्य प्रकाश में भी आया है—कोई विदग्धा कामिनी अपने उपपति को सम्मिलन काल की सुन्दर सूचना, हाथ में लिए हुए कमल के संकोच के द्वारा दे देती

है । यह पद्य इस तरह है 'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया । हसन्नेत्रार्पिता कूतं लीलापद्मं निमीलितम्, इस चेष्टा का अभिप्राय यह है कि जब कमल संकुचित हो जाय तब तुम चले आना अर्थात्—सूर्यास्त के बाद सायंकाल ही हम लोगों का मिलन होगा । इसका भी अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है । चेष्टा अलग से कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि चेष्टा एक तरह से कायिक व्यापार है, यह बिना अर्थ के सम्भव नहीं है । इससे किसी न किसी अर्थ विशेष का ज्ञान अवश्य होता है । अतः चेष्टा को हेतु मानकर अर्थ विशेष को साध्य माना जा सकता है । अनुमानाकार इस प्रकार बन सकता है—मुखाञ्जलि संयोगात् विशिष्टात् पिपासा प्रतिपत्तिः, तस्य तया पूर्वमविनाभावोपलब्धेः, तथा चायं पिपासान्वितो विशिष्टमुखाञ्जलि संयोगवत्वात् देवदत्तवत्, इत्यादि ।

इस प्रकार सांख्यदर्शन तीन ही प्रमाणों को युक्तिसंगत मानता है । साथ ही साथ प्रमाणों को उपादेय भी मानता है क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण द्वारा ही होती है । व्यक्त, अव्यक्त, ज्ञ अर्थात् महत्तत्वादि, प्रधान और पुरुष—ये सब प्रमेय कोटि में आ जाते हैं और प्रमाता है जीव ।

अभिप्राय यह है कि संसार में जितने पदार्थ हैं उनमें से कुछ तो प्रमाता है, कुछ प्रमेय हैं और कुछ प्रमिति तथा कुछ प्रमाण है । जैसे—**घटमहं जानामि** यहां पर अहम् पदार्थ प्रमाता है घट प्रमेय है, धात्वर्थ प्रमिति है और इस प्रमिति का जो जनक है वह प्रमाण है । इन चार पदार्थों के अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी नहीं है । इन्हीं की सिद्धि कहीं प्रत्यक्ष से और कहीं अनुमान से और कहीं शब्द के द्वारा होती है अतएव कारिका में लिखा है "प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि" ॥४॥

तत्र त्रिविधस्य प्रमाणस्य पृथक् लक्षणमुपन्यस्यते—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं, आप्तश्रुतिराप्तवचनं च ॥ ५ ॥

अनुवाद—अब उन तीन प्रकार के प्रमाणों का पृथक् पृथक् लक्षण प्रस्तुत करते हैं—

प्रत्येक (घट पटादि) विषय में नेत्रादि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न बुद्धि के व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । व्याप्यव्यापकभाव पूर्वक अर्थात् हेतु से जहां साध्य का ज्ञान किया जाय उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं । वह तीन

प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट। यथार्थ वाक्यजन्य ज्ञान को शब्दप्रमाण कहते हैं ॥५॥

मा० वृत्ति—विषयं विषयं प्रति योऽध्यवसायो नेत्रादीनामिन्द्रियाणां पञ्चानां रूपादिषु, तत् प्रत्यक्षं प्रतिपत्तिरूपं दृष्टाख्यम्। अनुमानं त्रिविधम्। त्रिसाधनं त्र्यवयवं पञ्चावयवमित्यपरे। तदाख्यातं कथितम्। पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयम्। पक्षः प्रतिज्ञापदम्। यथा—वह्निमानयं प्रदेशः साध्यवस्तूपन्यासः पक्षः, इतरे पक्षाभासाः प्रत्यक्षविरुद्धादयो नव। त्रिरूपो हेतुः त्रैरुप्यं पुनः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्वं विपक्षे चासत्वमिति। अत्रोदाहरणं यथा धूमवत्वादिति। अन्ये हेत्वाभासा चतुर्दश। असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विविधं निदर्शनम् यथा—महानसम्। इतरे निदर्शनाभासा दश। एवं त्रियस्त्रिंशदाभासरहितं त्र्यवयवमनुमानम्। पञ्चावयवमित्यपरे। तदाह—अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः। एवं पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थमनुमानम्।

अनुवाद—रूपरसादि पञ्च विषयों में नेत्रादि पञ्च इन्द्रियों के अधीन जो बुद्धि का व्यापारात्मक ज्ञान, उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं। (अर्थात् विषय और इन्द्रियों के सन्निकर्ष से जन्य बुद्धि के व्यापार को प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुमान तीन प्रकार का होता है। कोई इसे त्र्यवयव मानते हैं और कोई पञ्चावयव। पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, ये तीन अवयव हैं। पक्ष का अर्थ है प्रतिज्ञा वचन जैसे—यह प्रदेश वह्निवाला है अर्थात्—जिसमें साध्यवस्तु का उपन्यास किया जाय उसे पक्ष कहते हैं। तदतिरिक्त प्रत्यक्ष—विरुद्धादि नौ ये पक्षाभास हैं। हेतु त्रिरूप होना चाहिए जैसे—पक्ष (पर्वतादि) में रहना, सपक्ष महानसादि में रहना, विपक्ष जलह्रदादि से व्यावृत्त होना। ऐसा हेतु साध्य को सिद्ध कर सकता है जैसे—धूमवत्व हेतु "पर्वतो वह्निमान्, धूमात्—इसमें धूमवत्व हेतु है। और चौदह हेत्वाभास होते हैं—असिद्ध, अनैकान्तिक, विरुद्ध इत्यादि। उदाहरण साधर्म्य और वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है जैसे महानस। अन्य दश निदर्शनाभास होते हैं। इस तरह सब मिला कर तैंतीस आभास बनते हैं। इन तैंतीस आभासों से शून्य त्र्यवयव वाक्य को अनुमान कहते हैं। कोई लोग पञ्चावयव मानते हैं। वे ये हैं—प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान, प्रत्या म्नाय। इस प्रकार पञ्चावयव वाक्य के द्वारा स्वनिश्चित अर्थ को जहां दूसरे के लिए प्रतिपादन किया जाय उसे परार्थानुमान कहते हैं।

मा० वृत्ति—तच्च त्रिविधम् पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं च। तत्र

विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनात् भवित्रीं वृष्टिं सम्भावयति। पूर्वमियं दृष्टेति पूर्ववत् नदीपूरदर्शनादुपरि वृष्टो देव इति वा प्रतीतिः। शेषवद्यथा—समुद्रोदकबिन्दुं प्राश्य शेषस्य लवणभावोऽनुमीयते इति शेषवत्। सामान्यतो दृष्टम्—पुष्पिता म्रदर्शनात् अन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति। पुनर्यथा—बहिरुद्योत इति केना-प्युक्तं, तत्रापरेणाप्युक्तम् चन्द्र उदितो भविष्यतीत्यर्थसङ्गतिः। तल्लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकमिति लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेनादृष्टोऽपि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परिव्राडस्ति यस्येदं त्रिदण्डमिति। आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु तृतीयं प्रमाणम्। आप्ता ब्रह्मादय आचार्याः, श्रुतिर्वेद स्तदेतदुभयमाप्तवचनम् आप्तिः साक्षादर्थ-प्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः, तया वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थाप्त्या श्रुतार्थ-ग्राही तदुक्तमाप्तवचनम्। तत्रापि प्रसिद्धिलक्षणा गुणयोगात्तिस्त्रः शब्दवृत्तयः। तत्र लक्षणा त्रैविध्यम्। जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणाजहदजहल्लक्षणा चेत्यादि। प्रमाणशास्त्रेषु बहुतरः प्रपञ्च आस्ते तत्र प्रक्रान्तमेव तावदभिधीयते भगवतः कपिलस्य मतम्।

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥
तदेवमेतत्त्रिविधं प्रमाणम्॥५॥

अनुवाद—वह अनुमान तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट। जहाँ विशिष्ट मेघोन्नति से आगे होने वाली वृष्टि का अनुमान किया जाय उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं क्योंकि पहिले भी ऐसा देखा गया है, इसीलिए इसे पूर्ववत् कहते हैं अथवा नदी के प्रवाह को देखकर ऊपर प्रदेश में वृष्टि का अनुमान करना भी पूर्ववत् है। शेषवत्, जैसे—समुद्र से एक बूंद जल पीकर शेष जल भी नमकीन ही होगा ऐसा अनुमान जहाँ किया जाय वह शेषवत् है। सामान्यतोदृष्ट—एक जगह पुष्पित आम्र को देखकर अन्यत्र भी आम्र पुष्पित होंगे ऐसा अनुमान जहाँ किया जाय वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। अथवा किसी ने कहा बाहर प्रकाश है; दूसरे ने कहा—चन्द्रोदय हो गया होगा। यह अनुमान लिङ्गलिङ्गीपूर्वक होता है। अर्थात्—लिङ्ग (हेतु) त्रिदण्डादि के देखने से न देखा गया भी लिङ्गी (साध्य) जहां सिद्ध किया जाय कि निश्चय ही यह संन्यासी है, क्योंकि इसके पास त्रिदण्ड है। आप्तश्रुति को आप्तवचन कहते हैं—यह तीसरा प्रमाण है। आप्त कहते हैं ब्रह्मादि आचार्यों को, श्रुति का अर्थ है वेद। इन दोनों को आप्त वचन

कहा जाता है। आप्ति का अर्थ है, साक्षात् अर्थ प्राप्ति या यथार्थप्राप्ति। उससे जो व्यवहार करे उसे आप्त कहते हैं अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा अथवा यथार्थ रूप से श्रुतार्थ को ग्रहण करने वाला। इसीलिए इसे आप्तवचन कहा। इसमें भी प्रसिद्धि, (रुढ़ि अथवा अभिधा, लक्षणा, गुणयोग, (गौणीलक्षणा) ये तीन शब्द की वृत्तियाँ रहती हैं। इनमें भी लक्षणा तीन प्रकार की होती है--जहल्लक्षणा (लक्षणलक्षणा) अजहल्लक्षणा (उपादानलक्षणा) और जहदजहल्लक्षणा (भागावृत्ति लक्षणा)। इनका विस्तार से वर्णन प्रमाणशास्त्रों में किया गया है। अब हम प्रकृत सङ्गत भगवान् कपिल के मत को प्रस्तुत करेंगे—आगम को आप्तवचन कहते हैं। दोषों से जो शून्य हो उसे आप्त कहते हैं क्योंकि दोषशून्य व्यक्ति बिना किसी प्रयोजन के झूठ नहीं बोल सकता। जो अपने कर्म में तत्पर हो रागद्वेष रहित हो, ऐसे ही लोगों से सम्मानित हो उसे आप्त कहते हैं। इस प्रकार तीन प्रमाणों का निरुपण किया ॥५॥

प्रबोधिनी

प्रमाण सामान्य का परिचय देकर अब प्रत्येक प्रमाण का पृथक् पृथक् लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उन तीनों प्रमाणों में से प्रत्यक्ष प्रमाण के सबसे ज्येष्ठ होने से, और सभी प्रमाणों का उपजीव्य होने से उसी का लक्षण सर्वप्रथम आवश्यक है।

सांख्यदर्शन में प्रत्यक्षप्रमाण की प्रक्रिया इस प्रकार है। घट पटादि पदार्थों में चक्षु आदि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न बुद्धि के व्यापार को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। कारिका घटक "अध्यवसाय" शब्द का अर्थ है—बुद्धि का विषय देश में व्यापार। त्रिगुणात्मक प्रकृति के कार्य होने से बुद्धि तत्त्व भी त्रिगुणात्मक ही है। जिस समय इन्द्रियों का घट पटादि के साथ सम्बन्ध होता है, तो बुद्धितत्त्व के तमोगुण का आवरण भंग हो जाता है और सत्त्व गुण का उद्रेक हो जाता है, तब बुद्धि के निश्चयात्मिका वृत्ति का उदय होता है। यही वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमा का करण होने से प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। बुद्धि स्वतः जड़ होने पर भी चेतन के प्रतिविम्ब से चेतन सी मालूम पड़ती है। इस प्रकार विषयाकारवृत्तिसम्पन्न बुद्धि में प्रतिविम्बित पुरुष को भी घटपटादि का अनुभव होने लगता है। इसी को पौरुषेय बोध या प्रत्यक्षप्रमा कहते हैं।

अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्यतोदृष्ट। सामान्य अनुमान प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है—"**लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्**" अर्थात्—जहाँ पर लिङ्ग (व्याप्य) हेतु के द्वारा लिङ्गी (व्यापक) साध्य का अनुमान किया जाय अर्थात् धूमादि हेतु से पर्वतादि पक्ष में वह्निसाध्यक अनुमान किया जाय, वह व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानात्मक परामर्श को अनुमान कहते हैं। इस अनुमान के कोई आचार्य तीन अवयव मानते हैं और कोई आचार्य पाँच अवयव मानते हैं। वे तीन अवयव इस तरह हैं—पक्ष, हेतु और दृष्टान्त। जैसे—"**पर्वतो वह्निमान् धूमात् यथा महानसम्**" यहाँ पर्वत पक्ष है, धूम हेतु, और महानसम् यह दृष्टान्त है। धूमवत्व हेतु का पक्ष पर्वतादि में रहना और सपक्ष महानसादि में रहना तथा विपक्ष जलहृदादि से व्यावृत्त होना आवश्यक है। यदि हेतु इन तीनों में से किसी एकरूप से भी विफल हो तो वह सत् हेतु नहीं कहा जा सकता। वह अपने साध्य को सिद्ध करने में सफल नहीं होता। इसी को हेत्वाभास अर्थात् दुष्टहेतु कहते हैं। अतएव वृत्तिकार ने विस्तार के साथ आभासों की गणना की है। केवल हेतुगत दोष ही नहीं गिनाये अपितु पक्षगत, दृष्टान्तगत, आभासों की भी कल्पना की गई हैं। इनका विस्तृत विवरण वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में किया गया है, इन आभासों से शून्य अनुमान ही निर्दुष्ट समझा जाता है। जो लोग पञ्चावयव वाक्य को अनुमान मानते हैं, उनके मत में पांच अवयव ये हैं—१. प्रतिज्ञा, २. अपदेश, ३. निदर्शन, ४. अनुसन्धान ५. प्रत्याम्नाय। 'अपरे' कहकर शायद माठर का संकेत वैशेषिक की ओर है, क्योंकि प्रशस्तपादभाष्य में भी इसी प्रकार का वर्णन है। न्यायसूत्र में इन्हीं पांच अवयवों का उल्लेख इस प्रकार है—**प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः**। वृत्तिकार ने अनुमान के तीन भेदों को इस प्रकार दिखाया है। पूर्ववत् शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। शेषवत् विशिष्ट मेघोन्नति से जहाँ होने वाली वृष्टि का अनुमान किया जाय, वह पूर्ववत् है। अथवा नदी के वेग को देखकर जहाँ उपर प्रदेश में वृष्टि का अनुमान किया जाय वहाँ भी पूर्ववत् ही होगा। शेषवत्—जैसे समद्र से एक कर विन्दुजल पीके शेष भी नमकीन होगा, इस तरह अनुमान जहां किया जाय वह शेषवत् है। सामान्यतोदृष्ट एक जगह आम्र के पुष्प को देख लेने से अन्यत्र भी आम्र खिले होंगे ऐसा जहां अनुमान किया जाय उसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं।

आचार्य माठर के अनुमान का वर्गीकरण तथा दृष्टान्त अन्य आचार्यों से भिन्न मालूम पड़ता है। सांख्यकारिका की टीका चन्द्रिका में इससे कुछ

भिन्नता है। उन्होंने गौतम के सूत्रों को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्, पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति, तत् पूर्वकं, व्याप्त्यादिप्रत्यक्षपूर्वकं, पूर्ववत्—कारणेन कार्यानुमानम्, शेषवत्—कार्येण कारणानुमानम्, सामान्यतोदृष्टम्—कार्यकारणान्यलिङ्गकम् ।" इस प्रकार माठर का पूर्ववत् और इनका सामान्यतोदृष्ट मिलता जुलता है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार्य वाचस्पति मिश्र ने इसका विभाजन इस प्रकार किया है—पहिले अनुमान के बीत और अवीत दो भेद किये फिर वीत के भी दो भेद किये—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। अवीत शेषवत् है अर्थात्—केवल व्यतिरेकी अनुमान और पूर्ववत्—अन्वयव्यतिरेकी अनुमान। सामान्यतोदृष्ट उन दोनों से भिन्न है। जहाँ सामान्यतः प्रत्यक्षादि जातीय अर्थ को लेकर व्याप्तिग्रह और पक्षधर्मता के द्वारा तद्विजातीय अप्रत्यक्षादि इन्द्रिय विषयक अनुमान किया जाय वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है।

तीसरा प्रमाण शब्द प्रमाण है। कारिका में "आप्तवचनम्" यह लक्ष्य है, और "आप्तश्रुति" यह लक्षण है। आप्त—ब्रह्मादि आचार्य और श्रुति वेद—ये दोनों आप्त कहे जाते हैं।

अर्थात्—साक्षात्कृतधर्मा पुरुष, यथार्थ के ग्रहण कर्त्ता तथा उपदेष्टा को आप्त कहते हैं उन्हीं का वचन आप्त वचन है। सांख्यतत्त्व कौमुदी मिश्र जी ने भी ऐसा ही अभिप्राय व्यक्त किया है। **आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्, आप्ता चासौ श्रुतिश्चेत्याप्तश्रुतिः, श्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्।** यद्यपि कोष के अनुसार **श्रुतिः स्त्री वेद आम्नाय** इत्यादि से श्रुति पद का अर्थ वेद ही होता है पर यहाँ मिश्रजी ने वाक्यजनित वाक्यार्थज्ञान ही लिया है। तर्क भाषाकार ने शब्द प्रमाण का लक्षण इस प्रकार किया है। **आप्तवाक्यं शब्दः आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः ।** सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन में शब्द प्रमाण का विवेचन अनेक लक्षणों द्वारा शब्द प्रमाण को काफी स्पष्ट कर दिया है जैसे—१. **आप्तवचनजन्यज्ञानं शब्दप्रमा तत्करणं शब्दप्रमाणमित्येकं लक्षणम् २. आप्तवचनजन्यापदार्थसंसर्गाकारान्तः करणवृत्तिरिति द्वितीयं शब्दप्रमाणम्।" आप्तस्तु स्वकर्मण्यभियुक्तो रागद्वेषरहितो ज्ञानवान् शीलसम्पन्नः। इदन्तु ज्ञानोपदेष्टुरेवाप्तलक्षणम्। वस्तुतो यथाभूतस्योपदेष्टा पुरुष इत्येव।"** शब्द प्रमाण का विवेचन करते हुए आचार्य माठर ने शब्द की वृत्तियों की ओर भी संकेत किया है जो कि केवल प्रमाण शास्त्रों का ही विषय समझा जाता है। वे वृत्तियां तीन होती है—प्रसिद्धि, लक्षणा और गुणयोग। प्रसिद्धि का अर्थ रूढि, या अभिधा है। अन्यत्र साहित्यादिशास्त्रों में

इसके भी तीन भेद किये हैं, रूढि, योग, और योगरूढि। जहाँ केवल समुदाय से अर्थ प्रतीति हो उसे रुढि कहते हैं जैसे—मण्डप, लावण्य, इत्यादि। जहां केवल अवयव से ही अर्थ प्रतीति हो उसे योग कहते हैं जैसे—पाचक, पाठक, इत्यादि। जहाँ कुछ अर्थ अवयव द्वारा और कुछ अर्थ रूढि के द्वारा प्रतीत हो उसे योगरुढि कहते हैं जैसे—पङ्कज इत्यादि। पण्डितराज जगन्नाथ इसका एक और भेद मानते हैं जो यौगिकरुढि है। वे अश्वगन्धादि इसी का उदाहरण मानते हैं। मुख्यार्थ से जहाँ वाक्यार्थ की सङ्गति न हो, अतः वाक्यार्थ के अन्वय बोध के लिए वहां लक्षणा का सहारा लिया जाता है जैसे—गङ्गायां घोषः इत्यादि स्थल में। यहाँ पर मुख्यार्थ से गङ्गा शब्द घोषाधिकरण में बाधित होता हुआ, लक्षणा शक्ति के द्वारा गङ्गा शब्द सामीप्यादि सम्बन्ध से तट अर्थ को सूचित करता है, तब घोषाधार की उपपत्ति हो जाती है। लक्षणा के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं कोई अन्वयानुपपत्ति लक्षणा का बीज मानते हैं तो और कोई तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज मानते हैं तथा अन्य मुख्यार्थ बाध रुढि या प्रयोजन और मुख्यार्थयोग इन तीनों को लक्षणा का बीज मानते हैं आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणा का लक्षण इस प्रकार किया है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणा रोपिता क्रिया ॥९॥ द्वि० उ०

आचार्य माठर ने वृत्ति में लक्षणा के तीन भेद गिनाये हैं—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, और जहदजहल्लक्षणा। जहल्लक्षणा को लक्षणलक्षणा भी कहते हैं। जहां वाक्य दूसरे की अन्वय सिद्धि के लिए स्वार्थ को सर्वथा समपर्ण कर दें, उसे जहल्लक्षणा कहते हैं जैसे—गङ्गायां घोषः प्रतिवसति। यहां पर घोष के आधार की सिद्धि के लिए गङ्गा शब्द अपने जल प्रवाह रूप अर्थ को छोड़कर तटरूप अर्थ को बोध कराता है। दूसरी लक्षणा—अजहल्लक्षणा हैं जिसे उपादानलक्षणा भी कहते हैं। यहाँ पर वाक्य अपने अर्थ को ग्रहण करते हुए पदार्थ का भी आक्षेप करता है जैसे—**श्वेतो धावति**—इत्यादि स्थल में श्वेत गुण स्वयं अपना ग्रहण कराता हुआ गुणी द्रव्य (अश्वादि) का भी आक्षेप करता है। तीसरी लक्षणा जहदजहल्लक्षणा है, जिसे भागावृत्ति लक्षणा कहते है। यहाँ पर तात्पर्यानुरूप कुछ भाग का ग्रहण करके कुछ भाग को छोड़ दिया जाता है जैसे "**तत्त्वमसि**" इस महावाक्य में। इसी लक्षणा के द्वारा यहाँ तत् और त्वम् पद का अखण्ड चैतन्य

में तात्पर्य लिया जाता है। तत्त्वमसि इस महावाक्य में तत् पद का अर्थ परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य (ब्रह्म) है, और त्वम् पद का अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य (जीव) है। यहाँ चैतन्यांश में कोई विरोध नहीं, किन्तु परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशों में परस्पर विरोध है। इसीलिए इन विरुद्धांशों को त्याग कर (जहत्) और चैतन्यांश को न त्याग कर (अजहत्) तत् और त्वम् पद अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य मात्र को लक्षित करते हैं। अतः यहाँ पर भागावृत्तिलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) है।

तीसरी वृत्ति आचार्य ने "गुणयोग" माना है। यह भी एक प्रकार की लक्षणा ही है। यहाँ गुणों के द्वारा लक्षणा होने के कारण इसे "गुणयोग" कहते हैं। जैसे—"अग्निर्माणवकः" इत्यादि इसके उदाहरण हैं। इसमें गुणों का सादृश्य सम्बन्ध आपेक्षित है यहाँ—माणवक (बालक) के तेजस्त्व और अग्नि के तेजस्त्व में सादृश्य होने के कारण माणवक को अग्नि कहा गया है। साहित्यशास्त्र में इसे गौणीलक्षणा कहते हैं—**गुणादागता गौणी**। परवर्ती आलङ्कारिकों ने इसे पृथक् वृत्ति न मानकर लक्षणा का ही एक प्रकार माना है। लक्षणा यद्यपि प्रमाण शास्त्रों का विषय रहा है पर इधर प्रमेयशास्त्रों में भी इसका कम विवेचन नहीं हुआ। शब्द शक्ति के विवेचन के प्रसङ्ग में साहित्य में भी लक्षणा का मतमतान्तरों के साथ पर्याप्त विश्लेषण हुआ है। अभिनवगुप्त ने लक्षणा के पाँच भेद दिखाये हैं जो इस तरह हैं—

अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता॥

आगे चल कर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इसके ८० भेद किए हैं। इन वृत्तियों के अतिरिक्त साहित्यिकों ने व्यञ्जना नाम की एक अन्य वृत्ति भी मानी है जिससे व्यङ्ग्यार्थ (रसादि) का बोध होता है॥५॥

तदेवं व्यक्ताव्यक्तज्ञाख्यस्य प्रत्यक्षादित्रिविधप्रमाणेषु केन कस्य सिद्धिः स्यात्. इति अत्रोच्यते—

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रसिद्धिरनुमानात्[1]।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्[2]॥ ६॥

अनुवाद—इस प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष की प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से, किस प्रमाण से किसकी सिद्धि होती है, इसे कारिका द्वारा बतलाते हैं:—

अतीन्द्रिय प्रधान पुरुषादियों की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है और जिस परोक्ष वस्तु की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी नहीं होती, उसे आगम (शब्द) प्रमाण सिद्ध करता है ॥६॥

मा० वृत्ति—अत्र प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ तयोः सामान्यतोदृष्टादनुमानात् सिद्धिः। यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणं दृष्ट्वा कार्यं, तत् कारणमदृष्टमप्यस्ति त्रिगुणं चेति साध्यते प्रधानम्। नह्यसतः सदुत्पत्तिः स्यादिति, न च कारणासदृशं कार्यं स्यादिति। व्यक्तं तु प्रत्यक्षेणैव साधितमिति तदर्थे न प्रयत्नः। यस्माज्जडमपि प्रधानं प्रसूतिक्रियायां प्रवर्तते तस्मादस्ति लोहस्य चलनक्रियाशक्तिहेतुचुम्बकवदवश्यं पुरुष इति ज्ञसिद्धिः ॥६॥

अनुवाद—प्रधान तथा पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। उनकी सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है; क्योंकि महदादि (लिङ्ग) कार्य को त्रिगुण देखकर उसका कारण जो कि दिखाई नहीं देता, वह भी त्रिगुण है यह सिद्ध हो जाता है। क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती, और न कारण के विसदृश ही कार्य होता है। व्यक्त की सिद्धि तो प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही हो चुकी है इसलिए यहाँ उसके लिए कोई प्रयास नहीं करना है। चूंकि जड़ होता हुआ भी प्रधान प्रसवक्रिया में प्रवृत्त होता है, इसलिए लौह के चलनक्रियाशक्ति में कारणीभूत चुम्बक की तरह जड़ प्रधान की प्रसव क्रिया में प्रवर्तक पुरुष की भी सिद्धि हो जाती है ॥६॥

प्रबोधिनी

त्रिविध प्रमाणों का वर्णन करके अब किस प्रमाण के द्वारा किस प्रमेय की सिद्धि होती है, यह बतलाते हैं। प्रधान और पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उनकी सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है। कारिकागत तु शब्द से प्रत्यक्ष का व्यावर्तन करते हैं अर्थात्—प्रधान और पुरुष की सिद्धि प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होती, अपितु सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है। यहाँ सामान्यतोदृष्ट यह पद शेषवत् आदि अनुमान का भी उपलक्षक है। प्रधान के कार्य महदादि त्रिगुणात्मक हैं इससे अनुमान लगाया जाता है कि इसका कारण भी त्रिगुणात्मक ही होगा। वह त्रिगुणात्मक कारण प्रधान ही है; क्योंकि कारण के गुण अपने सदृश कार्यगुणों को निष्पन्न करते हैं। इस तरह प्रधान की सिद्धि हो जाती है।

सर्वजनवेद्य होने के कारण यहाँ पर व्यक्त की सिद्धि का प्रयास नहीं किया गया। इस बात को श्रीवाचस्पति मिश्र ने भी तत्त्व कौमुदी में इस प्रकार लिखा है—**तत्र व्यक्तं पृथिव्यादि स्वरूपतः पांसुलपादको हालिकोऽपि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते पूर्वमतर चानुमानेन धूमादिदर्शनाद् वह्न्यादीनि चेति तद्व्युत्पादनाय मन्दप्रयोजनं शास्त्रम् इति दुरधिगममनेन व्युत्पादनीयम् ।**

प्रधान स्वतः जड है, बिना चेतन के सान्निध्य से उसमें क्रिया सम्भव नहीं है। वह जो महदादि प्रसवक्रिया में प्रवृत्त होता है, उसमें पुरुष का सान्निध्य कारण है। अतः जैसे चुम्बक के सन्निधिमात्र से लौह में चलन क्रिया होती है, उसी तरह से पुरुष के सन्निधिमात्र से प्रधान में भी प्रसव-क्रिया होती है, इससे पुरुष की भी सिद्धि हो जाती है। जिन पदार्थों को अनुमान भी सिद्ध नहीं कर सकता है उनकी सिद्धि आगम (शब्द प्रमाण) से होती है, जैसे कि स्वर्ग, परलोक, अपूर्व (धर्माधर्म) इन्द्रादि देवता इत्यादिकों को अनुमान से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। साथ ही साथ ये पदार्थ अतीन्द्रिय हैं जैसे—**स्वर्ग कामो यजेत** इत्यादि। कहा भी है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

सांख्य कारिका के टीकाकार श्रीनारायणतीर्थ ने अपनी चन्द्रिका टीका में इस कारिका के **सामान्यतस्तु दृष्टात्** इस अंश की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है जो कि इस प्रकार है—सामान्यतस्त्विति। **सामान्यत इति षष्ठ्यन्तात् तसिः, तथा चेन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्याऽपेक्षितस्य च दृष्टात् प्रत्यक्षादेव सिद्धिः ; तेन पृथिव्यादीनां प्रत्यक्षादेव सिद्धिरिति भावः ।**

सांख्यकारिका के आधुनिक टीकाकार श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी ने भी इसी का अनुसरण किया है। उन्होंने अपनी हिन्दी टीका में लिखा है कि सांख्य दर्शन के पचीस तत्त्वों में से चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों की सिद्धि तो सामान्यतया प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है। वस्तुतः ये व्याख्यान माठरवृत्ति, तत्व कौमुदी तथा सांख्य प्रवचन भाष्य के विरुद्ध है। जब कि माठरवृत्ति में लिखते हैं कि **व्यक्तं तु प्रत्यक्षेणैव साधितमिति तदर्थं न प्रयत्नः** इसी भाव को वाचस्पति मिश्र ने भी तत्त्वकौमुदी में **तत्र व्यक्तम्** इत्यादि वाक्य से स्पष्ट किया है। सांख्य प्रवचन भाष्य में

विज्ञानभिक्षु ने **सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥१०३॥** इस सूत्र की व्याख्या में विस्तार से विवेचन किया है।

तत्र सामान्यतो दृष्टादनुमानाद् द्वयोः प्रकृतिपुरुषयोः सिद्धिरित्यर्थः। तत्र प्रकृतेः सामान्यतो दृष्टमनुमान यथा—महत्तत्वं सुखदुःखमोहधर्मकद्रव्योपादानकं कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहधर्मकत्वात्, सुवर्णादिजकुण्डलादिवदित्यादि। पुरुषे तु यद्यपि अनुमानापेक्षा नास्ति सर्वसम्मतत्वात् तथापि प्रकृत्यादि विवेके सामान्यतोदृष्टमेवापेक्षते। तद्यथा—प्रधानं परार्थं संहत्यकारित्वात् गृहादिवत्। अत्र हि प्रत्यक्षसिद्धं देहाद्यर्थकत्वं गृहीत्वा तद्विजातीयः पुरुषः प्रधानादि परत्वेनानुमीयते। देहादीनां च भोक्तृत्वमविवेकेन प्रागगृहीतमित्युभयसिद्धिः ॥६॥

ननु प्रत्यक्षेण योऽर्थो नोपलभ्यते स सर्वथा नास्तीति मतं सङ्गच्छते। यथा द्वितीयमनीश्वरशिरः, तृतीयो बाहुः, शशविषाणादयो वा। एवं प्रधानपुरुषौ नोपलभ्येते तस्मात्तावपि न स्त इत्याशङ्कानिरासायाह—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

प्रश्न—जो वस्तु प्रत्यक्ष न दिखाई दे उसे न मानना ही उचित है, जैसे—द्वितीय मनीश्वर का शिर, तृतीय बाहु, शशशृङ्ग, इत्यादि। इसी प्रकार प्रधान, पुरुष, भी प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं है, अतः उनका भी अस्तित्व मानना उचित नहीं, इस आशंका का समाधान कारिका में देते हैं कि—प्रत्यक्ष योग्य पदार्थों के प्रत्यक्ष न होने में आठ कारण हैं (१) अधिक दूर होने से भी कोई वस्तु नहीं दिखाई देती; (२) अत्यन्त समीप होने से भी कोई वस्तु नहीं दीखती (३) इन्द्रियों की खराबी से भी वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता है; (४) मन के सावधान न होने से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता; (५) अत्यन्त सूक्ष्म होने से भी बहुत सी चीजें नहीं दिखाई देतीं (६) व्यवधान हो जाने से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है (७) किसी दूसरी वस्तु के द्वारा अभिभूत हो जाने से भी बहुत सी चीजें नहीं दिखाई देतीं, (८) समान पदार्थों के मिल जाने से भी वस्तु पृथक् मालूम नहीं पड़ती है ॥७॥

मा० वृत्ति—इह लोके सतामप्यर्थानामष्टधा नोपलब्धिः, तथा हि दर्शयति—यथा सतामपि देवदत्तविष्णुमित्रयज्ञदत्तानां देशान्तरगतानामतिदूरान्नोपलब्धिः तत् किं ते न सन्ति? यथा वा चक्षुरतिसामीप्यात् कज्जलं

नोपलभते, तत् किमिदं नास्ति ? यथा बधिरान्धौ शब्दरूपे नोपलभेते, तत् किं ते न स्तः ? अनवस्थितचित्तो राजानमपि यान्तं न पश्यति तत् किमसौ न गतः ? धूमोष्मत्रुटिनी-हारपरमाणवो नोपलभ्यन्ते तत् किममीषामभावः? कुड्येन व्यवहितं नोपलभ्यते, तत् किं नास्ति ? सूर्यादितेजसाऽभिभूतानां ग्रहनक्षत्र-तारकादीना मनुपलम्भात् तेषां किमभावः शक्यते परिकल्पयितुम् ? मुद्गराशिकुवलयामलकमौक्तिक-कपोतादिनिकुरम्बे क्षिप्तं समानं यदि नोपलभ्यते तदेवेदमिति. तत् किं नास्ति ? एवमष्टधा सतामप्यनुपलभ्योऽभिहितः। इदानीमसतां चतुर्धा भवति, तत्रोच्यते—प्राक्ध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावभेदात्। तत्र मृत्पिण्डे घटः प्रागुत्पत्तेर्नोपलभ्यत इति प्रागभाव। प्रध्वंसाभावो यथा मुद्गराभिघातात् प्रध्वस्तो घटो नोपलभ्यते। इतरेतराभावो यथा-अश्वे गोत्वम्, गवि अश्वत्वम्। अत्यन्ताभावो यथा द्वितीयमनीश्वरशिरः, तृतीयो बाहुः, शशविषाणादयो वा। एवमियं द्वादशधा अनुपलब्धिः, सतामष्टधा ह्यसतां चतुर्धा, एवं प्रधानपुरुषावपि सन्तौ नोपलभ्येते ।।७।।

अनुवाद—इस लोक में विद्यमान पदार्थों की भी आठ प्रकार से अनुपलब्धि होती है। इसी को दिखलाते हैं—जैसे विदेश गए हुए विद्यमान देवदत्त विष्णुमित्र यज्ञदत्तादिओं की अत्यन्त दूर होने के कारण उपलब्धि (प्रत्यक्ष) नहीं होती, तो क्या वे नहीं हैं ? और भी— नेत्र अत्यन्त समीपस्थित काजल को नहीं देखता तो क्या वह नहीं है ? जैसे—बहिरा शब्द को और अन्धा रूप को नहीं देखता, तो क्या वे शब्द और रूप नहीं है ? अनवस्थित चित्त वाला जाते हुए राजा को भी नहीं देखता, तो क्या राजा नहीं गया ? धूम, अग्नि, जल आदि के परमाणु नहीं दिखाई देते तो क्या उनका अभाव है ? दीवाल से छिपी हुई वस्तु नहीं दिखाई देती, इसका मतलब क्या वह नहीं है ? सूर्य के तेज से अभिभूत ग्रह नक्षत्रादि नहीं दिखाई देते, एतावता उनका अभाव नहीं माना जा सकता। मुद्गराशि, कुवलय, आमलक, मौक्तिक, कपोतादि के समूह में समान वस्तु मिला दी जाय और बाद में उसका उसी रूप में प्रत्यक्ष न हो तो क्या कहा जा सकता है कि वह नहीं है ? इस प्रकार आठ तरह से विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। अब अविद्यमान वस्तु की चार तरह से अनुपलब्धि बताते हैं। अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव। मृत्पिण्ड में घट के उत्पत्ति से पहिले जो घटाभाव है वह प्रागभाव कहलाता है। मुदगर के अभिघात से नष्ट हुए घड़े का कपालमाला में जो घटाभाव है वह प्रध्वंसाभाव है। अश्व में गोत्व तथा गौ में अश्वत्व का जो अभाव है वह इतरेतराभाव या अन्योन्याभाव

है । मनीश्वर के दूसरे शिर का तथा तृतीय बाहु का और शश में शृङ्गादिओं का जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार यह सब मिलाकर बारह प्रकार की अनुपलब्धि बनती है । विद्यमान पदार्थों की आठ प्रकार से और अविद्यमान पदार्थों की चार प्रकार से अनुपलब्धि होती है । अतः यह कहा जा सकता है कि प्रधान व पुरुष भी विद्यमान हैं, पर किसी कारणवश उनकी उपलब्धि नहीं होती ॥७॥

प्रबोधिनी

यद्यपि प्रकृति व पुरुष की सिद्धि अनुमान प्रमाण द्वारा हो जाती है, फिर प्रत्यक्षोपलब्धि का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता । परन्तु चार्वाकदर्शन अनुमान प्रमाण को मानता ही नहीं । जब उनके मत में अनुमान ही मान्य नहीं तो पुनः उस प्रमाण के द्वारा सिद्ध किये गये प्रमेय (प्रकृति पुरुष) तो सुतरां असिद्ध हैं । चार्वाक की इसी शङ्का के समाधान में इस कारिका का उत्थान है । इस सन्दर्भ में प्रथम चार्वाकमत पूर्वपक्ष के रूप में जान लेना आवश्यक है । अतः संक्षेप में उसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष ही केवल एक प्रमाण माना जाता है । अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की सत्ता निराधार मानी जाती है । इनके मत में विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । अतः प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकती है । हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत् है उससे भिन्न पदार्थ नितरां असत् हैं । प्रकृति, पुरुष, ईश्वर, स्वर्ग, नरक, इत्यादि ये केवल कल्पना के विषय हैं वास्तविकता के नहीं । अस्पृष्ट, अनास्वादित, अनाघ्रात, अदृष्ट तथा अश्रुत पदार्थ की सत्ता किसी प्रकार भी स्वीकृत नहीं की जा सकती । अनुमानवादी यदि धूम अग्नि के कार्य-कारण भाव को मानकर उनके साहचर्य को न्याय सङ्गत स्वीकार करे, तो भी चार्वाक व्याप्ति मानने के लिए तैयार नहीं है । उसकी दृष्टि में जगत् में कार्यकारणभाव के लिए कोई स्थान नहीं है । संसार की विचित्रता कार्य-कारणभाव की विचित्रता से नहीं बल्कि स्वभाव के कारण है । चार्वाक का सिद्धान्त स्वभाववाद के लिए दार्शनिक जगत् में विख्यात है । महोत्पल की बृहत्संहिता की टीका में भी इसका उल्लेख किया है—"अपरे लोकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः, स्वभावादेव जगत् विचित्रमुत्पद्यते, स्वाभावतो

विलयं याति, अन्यत्र भी इसी बात को इस तरह कहा है—

शिखिनश्चित्रयेत् को वा, कोकिलान् कः प्रकूजयेत् ।
विद्यते नात्र स्वभावव्यतिरेकेण कारणम् ॥

चार्वाक की इन युक्तियों का मार्मिक खण्डन उदयनाचार्य ने न्याय-कुसुमाञ्जलि में किया है। "अकस्मात् भवति" वाक्य में विभिन्न विकल्पों की सम्भावना मानी जा सकती है और प्रत्येक सम्भावना का खण्डन उदयन ने ने इस कारिका में संक्षेपरीति से किया है—

हेतुभूतनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥

कार्य की स्थिति नियतकाल तक ही रहने वाली है अतः अवधि की नियतता के कारण कार्य कभी कभी होने वाला ही माना जाता है। ऐसी दशा में उसके कारण की कल्पना न करना तर्क विरुद्ध है।

इस प्रकार प्रकृति तथा पुरुष की भी प्रत्यक्ष उपलब्धि न होने से चार्वाक उनकी सत्ता मानने को तैयार नहीं है। इसी के उत्तर में प्रकृत कारिका की अवतारणा की गई है कि विद्यमान वस्तु की भी आठ प्रकार से उपलब्धि नहीं हो सकती जिनका उल्लेख कारिका में किया गया है तथा वृत्ति में जिनको उदाहरणपुरस्सर समझाया गया है, अतः उनका यहां पिष्टपेषण करना व्यर्थ है। सांख्यप्रवचन भाष्य में भी इसका उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है जो इस प्रकार है— **इन्द्रियानुपलभ्यमात्रतो घटाद्यभाववत् प्रत्यक्षेण चार्वाकैः प्रकृत्याद्यभावः साधयितुं न शक्यते, यतो विद्यमानोऽप्यर्थ इन्द्रियाणां कालभेदेन विषयोऽविषयश्च भवति, अतिदूरत्वादि दोषात् ॥७॥**

तदमीषां मध्ये केन हेतुनेमौ नोपलभ्येते । तदुच्यते—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धिः[1] ।
महदादि तच्च कार्यं, प्रकृतिविरूपं सरूपं च[2] ॥८॥

सङ्गति—पूर्वोक्त कारणों में से किस कारण से प्रधान व पुरुष की उपलब्धि नहीं होती ? इस पर कहते हैं कि—

सूक्ष्म होने से प्रधान की अनुपलब्धि होती है, न कि प्रधान का अभाव है क्योंकि कार्य के द्वारा प्रधान का अनुमान किया जाता (त्रिगुणात्मक महदादि कार्य को देखकर त्रिगुणात्मक प्रधान कारण का अनुमान किया

जाता है) और महदादि कार्य कुछ अंशों में प्रकृति के समान हैं और कुछ अंशों में असमान हैं ॥८॥

मा० वृत्ति—तस्य प्रधानस्यानुपलब्धिरनवगमः सौक्ष्म्यात हेतोर्नाभावात्। सूक्ष्मं प्रधानं शब्दाद्यलक्षणत्वात् परमाण्वादिवत्। न पुनरेवं, यन्नास्ति प्रधानमतो नोपलभ्यते। किं तु अस्ति प्रधानं नोपलभ्यते सौक्ष्म्यात् परिमाण्वादिवत्। तर्हि कथमुपलभ्यत इति? अत्राह—कार्यतस्तदुपलब्धिः। कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमेयं वटधान्यवत्। यथा वटधान्यं कारणं वटं कार्यमालोक्यानुमीयते एवं सदेव प्रधानं कारणं महदादे सत कार्यादनुमीयते। न ह्यसतः सदुत्पत्तिर्भवतीति। महदादि—महानहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि चेति त्रयोविंशतिकम्। एतन्महदादि कार्यं त्रिगुणं दृष्ट्वाऽनुमीयते, अस्ति प्रधानमपि त्रिगुणं कारणं यस्येदं त्रिगुणं कार्यमिति। किं चान्यत्—तच्च कार्यं प्रकृति विरुपं सरुपं च। प्रधानाद्विसदृशं सदृशं चेत्यर्थः। सन्ति ते हेतवो यैरेतत् प्रधानं विसदृशं सदृशं च। यथा लोके पुत्रः पितुः सदृशो विसदृशः स्यात् यदि रूपेण तदा न गुणैः, यदा गुणैस्तदा न रूपेणेति यावत् तांश्चहेतूनुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥८॥

अनुवाद—उस प्रधान की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) उसके सूक्ष्म होने से है इसलिए नहीं कि प्रधान का अभाव है, परमाणु की तरह। ऐसी बात नहीं कि प्रधान नहीं है, इसलिए उसकी उपलब्धि नहीं होती किन्तु प्रधान है पर परमाणु की तरह सूक्ष्म होने से उपलब्ध नहीं होता। तब प्रधान की उपलब्धि कैसे होती है? कहते हैं कि—कार्यतस्तदुपलब्धिः। अर्थात्—कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है वटधान्य की तरह। जैसे—वट कार्य को देखकर उसके कारण वटधान्य (बीज) का अनुमान किया जाता है इसी तरह सत् महदादि कार्य से सत् प्रधान कारण का अनुमान किया जाता है क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। महदादिकार्य महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रायें, एकादश इन्द्रियां, पञ्चमहाभूत ये सब २३ हैं। यह सब महदादि कार्य त्रिगुणात्मक है। इसे देखकर अनुमान किया जाता है कि कारण भी त्रिगुणात्मक ही होगा, जिसका कि यह त्रिगुणात्मक कार्य हैं। यह त्रिगुणात्मक कारण प्रधान ही है, और भी वह महदादि कार्य प्रधान के समान भी है तथा असमान भी। ऐसे बहुत से कारण हैं जिससे कि यह प्रधान अपने कार्य महदादियों के समान भी है तथा असमान भी है। जैसे—लोक में पुत्र कुछ अंशों में पिता के सदृश तथा कुछ

अंश में विसदृश भी होता है। यदि रूप में समान होगा तो गुणों में नहीं होगा, यदि गुणों में समान होगा तो रूप में नहीं होगा। इसी तरह किन्हीं कारणों से प्रधान अपने कार्यों के सदृश भी होता है और विसदृश भी होता है। उन कारणों को आगे कहेंगे ॥८॥

प्रबोधिनी

प्रत्यक्ष न होने से प्रधान का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सूक्ष्मतम होने के कारण प्रधान का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है इसलिए प्रधान के अभाव की कल्पना करना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ के प्रत्यक्ष न होने मात्र से उसके अभाव की कल्पना करना ठीक नहीं, अपितु प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ का प्रत्यक्ष न होना ही उस पदार्थ के अभाव का साधक प्रमाण है न केवलप्रत्याभावमात्र—यह सर्वदर्शनसम्मत सिद्धान्त है।

कहा भी है—**"योग्यानुपलब्धेरेवप्रमाणत्वं न त्वनुपलब्धिमात्रस्येति"**। वाचस्पति मिश्र ने **सांख्यतत्व कौमुदी** में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—**एतदुक्तं भवति न प्रत्यक्षनिवृत्तिमात्राद् वस्त्वभावो भवति, अतिप्रसङ्गात्। तथाहि—गृहाद्विनिर्गतो गृहजनमपश्यंस्तदभावं विनिश्चिनुयात् नत्वेवम्, अपि तु योग्यप्रत्यक्षनिवृत्ते रयमभावं विनश्चिनोदि, न प्रधानपुरुषादीनामस्ति प्रत्यक्षयोग्यता, इति न तन्निवृत्तिमात्रात् तदभावनिश्चयो युक्तः प्रमाणिकानामिति।**

यहां कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। महदादि कार्य जो कि त्रिगुणात्मक हैं "कारणगुणाः कार्यगुणान् रमन्ते" इस न्याय से इनका कारण भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिए और वह त्रिगुणात्मक कारण प्रधान ही है क्योंकि कहा है—**सत्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः** इस प्रकार अनुमान के द्वारा प्रकृति (प्रधान) की सिद्धि हो जाती है। वह प्रधान कुछ अंशों में अपने कार्य महदादियों के समान है और कुछ अंशों में असमान भी है। इसको वृत्तिकार ने पिता पुत्र का दृष्टान्त देकर समझाया हैं यहां पर प्रधान के प्रत्यक्ष न होने में उसकी अतिशय सूक्ष्मता है जैसे परमाणु सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि कार्य देखकर उसका अनुमान किया ज़ाता है, यही बात प्रधान के विषय में भी है। यहाँ परमाणु के

दृष्टान्त से प्रकृति में परमाणुवत् अणुत्व नहीं समझना चाहिए, अपितु उसमें व्यापकत्व है। क्योंकि प्रकृति विश्व में व्याप्त है और उसमें इतनी दुरूहता भी नहीं है बल्कि उसकी अतिशयसूक्ष्मता ही प्रत्यक्षप्रमा में प्रतिबन्धिका है। दैशिक या कालिक अवयव न होना ही सूक्ष्मता का साधक है। व्यासभाष्य में भी कहा है—**सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिरिति** (३।१३) ॥८॥

तिष्ठतु तावदेतत्, अन्यत्पृच्छामः—किमेतन्महदादि प्रागुत्पत्तेः प्रधाने सत् जायते उतासत् सम्भवति। अत्राचार्याणां विप्रतिपत्तिरतः संशयः। अत्र वैशेषिका विप्रतिपन्ना असतः सद्भवतीति मन्यन्ते। मृत्पिण्डे हि प्रागुत्पत्तेर्घटो नास्तीति व्यवसितास्ते। अस्ति नास्तीति वराका जीवकाः। नैवास्ति न च नास्ति एष बौद्धानां पक्षः। एवमन्योन्यविरोधवादिषु दर्शिषु को नाम निश्चयः! तदुच्यते—तत्र तावत् सदसद्वादिनो जीवकाः स्ववचनविरोधेनैव निरस्ताः। यदि सत्तदाऽसन्न भवति उतासत्तदा सद्भावो न यतः सदसतोरेकत्र विरोधात्। अत्र दृष्टान्तो यथा—देवदत्तो मृतो जीवति चेतिवत्। बौद्धानान्तु नास्ति न च नास्तीति पक्षपरिग्रहाभावात्तैः सह सञ्जल्प एव न युज्यते। वैशेषिकाणां तु असतः सद्भवतीति मतप्रतिषेधाय उच्यते—

असदकरणादुपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च, सत्कार्यम्॥ ९॥

सङ्गति—यह सब ठीक है, इसके विषय में एक बात हमें और पूछनी है—क्या महदादि कार्य उत्पत्ति से पहिले प्रधान में सत् रूप से विद्यमान रहता है, अथवा असत् रूप से। इसमें आचार्यों के विभिन्न मत हैं अतः संशय होता है। इस विषय में वैशेषिकों का मत है कि कारण में पूर्व अविद्यमान् (असत्) कार्य की अपने (सत्) कारण में उत्पत्ति होती है क्योंकि उनके मतानुसार मिट्टी के पिण्ड में उत्पत्ति से पहिले घट का अभाव रहता है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि पदार्थ सत् भी है और नहीं भी है। (अर्थात् वह नित्यानित्य होता है।) बौद्धों का कहना है कि बाह्यपदार्थ न सत् है और न असत् है। (प्रत्युत वह अनिर्वचनीय तत्व का द्योतक है अर्थात् शून्य ही परमार्थ है)। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दृष्टि होने से क्या निश्चय किया जाय? उत्तर में हमारा यही कहना है कि—सदसत्वादी जैन तो स्ववचनविरोध से ही परास्त हैं। यदि वस्तु सत् है तो असत् नहीं हो सकती, यदि वह असत् है तो सत् नहीं हो सकती, क्योंकि सदसत् का एकाधिकरण में विरोध है। यहाँ यह दृष्टान्त दिया जाता है जैसे—देवदत्त मर गया पर जीवित है। इसी तरह

बौद्धों का जो सदसत् वाद है उसका पर्यवसान शून्य में होने के कारण उसमें कोई पक्ष ही नहीं बनता। ऐसी स्थिति में उनके साथ विवाद करना ही व्यर्थ है। वैशेषिकों का जो असत्कार्यवाद पक्ष है, उसी के प्रत्याख्यान के लिए सांख्याचार्यों की ओर से यह कारिका उपस्थित की जाती है—

कार्य अपने कारण प्रधानादि में सत् है, यह प्रतिज्ञावाक्य है। क्योंकि असत् (शशश्रृङ्गादि) कार्य का कोई करण नहीं होता है इसलिए कार्य सत् है। इसलिए भी कि उपादान कारण का ही कार्य के लिए ग्रहण होता है न कि अन्य वस्तु का और भी जो जिसमें विद्यमान रहता है वही उससे पैदा होता है न कि असत् वस्तु। यदि ऐसा होता तो फिर सभी कार्यों से सभी कुछ उत्पन्न हो जायें, पर ऐसा होता नहीं। समर्थ तन्तु आदि ही शक्य पटादि कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं। कारण और कार्य में अभेद होने से भी, कार्य सत् है क्योंकि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य भी होता है अतः सत्कार्यवाद में कोई बाधा नहीं ॥९॥

मा० वृत्ति—इह लोके सदेव सद्भवति, असतः करणं नास्ति। यदि स्यात्तदा सिकताभ्यस्तैलं, कूर्मरोमभ्यः पटप्रावरणम्, वन्ध्यादुहितृभ्रूविलासः, शशविषाणं, खपुष्पं च स्यात्। न चास्ति तस्मादनुमीयते प्रधाने प्रागुत्पत्तेर्महदादिकमस्त्येव ; उपादानग्रहणात्। इह लोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति तन्निमित्तमुपादत्ते तद्यथा दध्यर्थी क्षीरस्योपादानं कुरुते। यदि चासत्कार्यं स्यात्तदा दध्यर्थी उदकस्याप्युपादानं कुर्यात्, न च कुरुते, तस्मात् प्रधाने महदादि कार्यमस्तीति। किं च सर्वसम्भवाभावात्। इहलोके यत् यस्मिन् विद्यते तस्मादेव तदुत्पद्यते यथा तिलेभ्यस्तैलं, दध्नो घृतम्। यदि चासत् कार्यं स्यात्तदा सर्वं सर्वतः सम्भवेत्ततश्च तृणपांसुवालुकादिभ्यो रजतसुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादयो जायेरन् न च जायन्ते। तस्मात्पश्यामः सर्वसम्भवाभावादपि महदादिकार्यं प्रधाने सदेव सद्भवतीति। अतश्चास्ति—शक्तस्य शक्यकरणात्। इह लोके शक्तः शिल्पी करणादि कारणोपादानकालोपायसम्पन्नः शक्यादेव शक्यं कर्म आरभते नाशक्यमशक्यात्। तद्यथा—शक्तः कुम्भकारः शक्यादेव मृतपिण्डात् शक्यदण्डचक्रसूत्रोदकविदलतलादिभिः सम्पन्नो घटशरावोदञ्चनादीन्यारभमाणो दृष्टः। न च मणिकादि, अशक्यत्वात्तावता पिण्डेन तस्य यदि पुनः करणनियमो न स्यात् अशक्यादप्यशक्यमारभ्येत तस्मात् सत् कार्यं स्यान्नासत्। किं च—कारणभावाच्च कार्यं सदेव स्यात् यथा—कोडवेभ्यः कोद्रवा, व्रीहियो व्रीहभ्यः स्युः। यदि चासत् कार्यं स्यात् तदा कोद्रवेभ्यः शालीनामपि निष्पत्तिः स्यात्, न च भवति। तस्मात् कारण-

भावादपि पश्यामः प्रधाने महदादि कार्यमस्तीति । साधितमेवमेतैः पञ्चभिर्हेतुभिः सत् कार्यम् । "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" इत्यारभ्य सदेव सोम्येदग्र आसीत् (छां अ० ६ खं० १) इति श्रुतेः ॥६॥

अनुवाद—इस संसार में सत् ही सत् होता है अर्थात् सत् कार्य का ही सत् करण होता है । असत् वस्तु का कोई करण नहीं होता । यदि ऐसा होता तो फिर बालू से भी तैल, कूर्म रोम से भी वस्त्र की तरह आच्छादन कार्य, और वन्ध्या पुत्री का भी भ्रूविलास; शशशृङ्ग तथा आकाश का फूल होता; पर होता नहीं । इसलिए यह अनुमान लगाया जाता है कि उत्पत्ति से पहिले ही महदादि कार्य अपने कारण प्रधान में विद्यमान हैं । उपादान कारण का ग्रहण होने से भी कार्य सत् है । लोक में जो जिस वस्तु का अर्थी होता है, वह उसके उपादान का ग्रहण करता है अर्थात् तन्निमित्त ही उपादान का ग्रहण करता है जैसे—दही को चाहने वाला दूध को ग्रहण करता है । यदि दूध में दही न होता तो दही को चाहने वाला जल का भी ग्रहण करता, पर वह दही के लिए जल ग्रहण नहीं करता इससे यह मानना पड़ेगा कि प्रधान में ही महदादि कार्य हैं । और भी—सभी वस्तुओं से सब कुछ नहीं उत्पन्न होता; क्योंकि यह नियम है कि जिसमें जो वस्तु विद्यमान् रहती है उसी से वह उत्पन्न होती है जैसे तिल से तेल, दही से घी, इत्यादि । यदि कार्य असत् होता तो सबसे सब कुछ बन सकता । घास, धूलि तथा वालुका से भी रजत, सुवर्ण, मणि, प्रवालादि उत्पन्न हो जाते पर होते नहीं । इसलिए भी मानना पड़ता है कि महदादि कार्य प्रधान में सत् रूप से पहिले से ही विद्यमान हैं । और भी—समर्थ वस्तु ही अपने योग्य समर्थ कार्य को उत्पन्न कर सकती है । लोक में देखा जाता है कि समर्थ शिल्पी ही उपादानादि कालोपाय साधन सम्पन्न समर्थ सामग्री से ही समर्थ कार्य को प्रारम्भ करता है न कि असमर्थ सामग्री से, जैसे कुम्भकार समर्थ मृत्पिण्ड से समर्थ सामग्री दण्डचक्रचीवरादिसम्पन्न होकर घट शरावादि को बनाता हुआ देखा गया है न कि मणिकादि (कुण्डा आदि महाभाण्ड) क्योंकि उतना मृत्पिण्ड इसके लिए समर्थ नहीं है । यदि यह योग्यकरण नियम न होता तो अशक्य कारण सामग्री से भी असम्भावित कार्य उत्पन्न हो जाता, इसलिए भी मानना पड़ेगा कि कार्य सत् है, न कि असत् । और—कार्यकारणभाव होने से भी यह निश्चय किया जाता है कि कार्य सत् है क्योंकि लोक में देखा गया है कि जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य भी होगा जैसे—कोदों से कोदों ही उत्पन्न होंगे और धान से धान ही । यदि कार्य असत् होता तो कोदों

से भी धान की उत्पत्ति होती, पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए कार्यकारण-भाव से भी यह मानना पड़ता है कि महदादि कार्य अपने कारण प्रधान में विद्यमान हैं। उक्त पाँच हेतुओं से सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है। पुनः अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए श्रुति से प्रमाण भी उपस्थित करते हैं—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि ॥९॥

प्रबोधिनी

प्रधान की सिद्धि के बाद महदादि, जो कि प्रधान के कार्य हैं, उन्हीं के विषय में विवेचन आवश्यक था, जैसा कि पूर्व कारिका में संकेत भी किया है "महदादि तत्त्र कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च" इत्यादि। ये महदादि कार्य अपने कारण प्रधान में सत् रूप से विद्यमान रहते हैं या असत् रूप से? इस विषय में विभिन्न दार्शनिकों में बड़ा विवाद है। सांख्यदर्शन अपने सत्कार्यवाद के लिए दार्शनिक जगत् में प्रख्यात है, साथ ही साथ लोक तथा शास्त्रानुमोदित इस परिष्कृत तथा दृढ़ सिद्धान्त के द्वारा सांख्यदर्शन ने दर्शन गोष्ठी में अपनी धाक जमा ली है। वृत्तिकार ने विरोधियों के मतों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर "असदकरणात्" इत्यादि कारिका को सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत किया है जिसमें पूर्वपक्ष में वैशेषिक दर्शन, जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन की ओर से विरोध दिखलाया गया है। ये तीनों दर्शन सत्कार्यवाद के विरोधी हैं। इनमें से अन्तिम दो दर्शनों के विरोध (जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन) में कोई प्रबल तर्क न होने के कारण वृत्तिकार का कहना है कि उनके साथ विवाद करना ही ठीक नहीं मालूम पड़ता है क्योंकि उनके सिद्धान्त स्वयं में अपूर्ण तथा स्ववचन विरोध से ही अपास्त हैं। अतः उनके साथ व्यर्थ के विवाद में समय नष्ट करना उचित नहीं है।

हाँ वैशेषिकों ने "असतः सद्भवति" इस मत को बड़े ऊहापोह के साथ उपस्थित किया है अतः विशेषकर उन्हीं के मत को निरस्त करने के लिए प्रकृत कारिका का उदय है। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ संक्षेप रूप से पूर्वमतों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

"सत् के विषय में जैन दर्शन का मत"

प्रत्येक पदार्थ के दो अंश हुआ करते हैं—शाश्वत अंश और अशाश्वत अंश। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु नित्य है और अशाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति तथा विनाशशील (उत्पाद-व्ययात्मक) अर्थात्

अनित्य है। यदि केवल एक अंश पर दृष्टिपात करते हैं तो वस्तु स्थिर प्रतीत होती है तथा दूसरे अंश पर विचार करते हैं तो वह अस्थिर प्रतीत होती है। परन्तु एकांश पर दृष्टि डालना एकाङ्गी सत्य हो सकता है सर्वाङ्गीण सत्यता उभयांशों के निरीक्षण पर अवलम्बित है। अतः इन दोनों दृष्टियों का अनुसरण कर जैन शास्त्र प्रत्येक वस्तु को उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्त मानता है अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होने वाला है, तथा नाश होने वाला है साथ ही साथ वह स्थिर भी है अतः वह नित्यानित्य हैं। अभिप्राय यह है कि वस्तु में परिणाम होने पर भी जातिगत एकता विघटित नहीं होती अतः वह नित्य और वस्तुगत परिणाम के कारण अनित्य है। संक्षेप में यही जैन दर्शन का सत् स्वरूप विवेचन है।

"बौद्धों का मत"—(शून्यवाद)

बौद्ध दर्शन में माध्यमिक लोग न तो वाह्यार्थ को मानते हैं, और न विज्ञान को ही। उनकी दृष्टि में "शून्य" ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द नहीं है प्रत्युत यह अनिर्वचनीय तत्त्व का द्योतक हैं जो न सत् है, न असत् है न सदसत् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चारों कोटियों से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण यह परमार्थ "शून्य" नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में निःस्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण आदि शब्दों के द्वारा निरूपित "शून्य" ही परमतत्त्व है। इस स्थान पर पहुँचना ही बौद्ध साधना का अन्तिम फल है।

"वैशेषिक मत"

वैशेषिकों का कहना है कि उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में असत् कार्य की कारण सामग्री के द्वारा बाद में उत्पत्ति होती है। अतः अपने कारण मिट्टी में पूर्व असत् कार्य की दण्ड, चक्र, चीवरादि द्वारा मृदादि कारण से भिन्न घटादि कार्य की उत्पत्ति होती है अतः कार्य कारण में भिन्नता भी रहती है। "सतोऽसज्जायते" यह वैशेषिकों का मत है। सत् भावरूप परमाणु आदि से असत् पूर्व अविद्यमान द्वयणुकादि उत्पन्न होते हैं। इसी मत के निराकरण के लिए सांख्याचार्य उक्त कारिका द्वारा अपना सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि "असदकरणात्" अर्थात् वैशेपिक लोग जो पूर्व अविद्यमान (असत्) कार्य की उत्पति मानते हैं, इस पर हमारा कहना है कि "असत्' का इस संसार में कोई भी करण नहीं देखा गया है। यदि होता तो बालु से भी तेल

निकाला जाता, पर ऐसा होता नहीं। क्योंकि सत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है जैसे कि पूर्व (सत्) विद्यमान तिलों से ही तेल निकलता है न कि अविद्यमान। इसीलिए तो उपादान कारण का ग्रहण किया जाता है। यदि ऐसा न होता तो दध्यर्थी भी उदक का ग्रहण कर लेता। दूसरी बात यह है कि समर्थ कारण ही समर्थ कार्य को उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह है कि उस कार्य की जननशक्ति उस कारण में पहिले से ही विद्यमान रहती है। जैसे—समर्थ कुम्भकार शक्य मृत्पिण्ड से ही समर्थ घड़ आदि को बनाता है न कि वस्त्रादि। और भी जैसा कारण है, तदनुरूप ही कार्य भी होता है। क्योंकि यह नियम है "कारणगुणाः कार्यगुणान्नारभन्ते" जैसे गेहूँ के बीज से गेहूँ ही पैदा होंगे नहीं धान। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि कार्य सत् है अर्थात् अभिव्यक्ति के पहिले भी निज कारण में सूक्ष्मावस्था रूप में विद्यमान रहता है। यदि कारणव्यापार से पहिले कार्य असत् होता तो किसी के द्वारा भी उसका सम्भव होना मुश्किल होता। हजारों कारीगरों के प्रयत्न से भी नील (गुण) पीत नहीं हो सकता। इसीलिए सांख्यसूत्र में भी कहा है—"नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत्" गीता में भी भगवान् ने कहा है—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभिः॥ (२।१६)

अन्यत्र भी कहा है—

असत्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणे सत्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः (स० द०)

यदि कोई यह पूछे कि कारण में यदि कार्य (घटादि) पहिले से ही विद्यमान रहते हैं तो फिर "घड़ा बनेगा" "उत्पन्न होगा" "घड़ा नष्ट हो गया" इत्यादि व्यवहार नहीं बनेंगे क्योंकि घटादि (कार्य) तो अपने कारण में विद्यमान हैं ही। पर लोक में ऐसा व्यवहार होता है कि अमुक घड़ा नष्ट हुआ, यह घड़ा उत्पन्न हुआ। इसका उत्तर सांख्यसूत्र की अनिरुद्ध वृत्ति में इस प्रकार दिया है, कि यह जो आप (नैयायिकादि) घड़े के विषय में उत्पत्ति और नाश का व्यवहार करते हैं वस्तुतः वह तो घट की अभिव्यक्तावस्था और तिरोभावावस्था ही है। ये सब अपने कारणसामग्री के समवधान के कारण हैं। नाश का मतलब कारण में लय होना है जैसे घट का मुद्गरादि प्रहार से नाश होता है वह घट का अभाव नहीं अपितु अपने कारण में लय होना ही है। इस प्रकार मतान्तरों का खण्डन करते हुए

सांख्याचार्यों ने पुष्कल प्रमाणों से अपने सत्कार्यवाद सिद्धान्त की स्थापना की है ॥९॥

तत्र यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां "प्रकृतिसरूपं विरूपं च" इति। तत्साधर्म्य-वैधर्म्यप्रतिपादनाय इदमारभ्यते—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

सङ्गति—पूर्व आर्या में कहा था कि महदादि कार्य किसी अंश में प्रकृति के समान तथा किसी अंश में प्रकृति के असमान होते है। इसी साधर्म्य तथा वैधर्म्य के प्रतिपादन से लिए प्रकृत कारिका को प्रस्तुत करते हैं। इस कारिका में प्रधान तथा उसके कार्य महदादियों का वैधर्म्य दिखाते हुए कहते हैं कि—व्यक्त (महदादि) हेतुमान्, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेकाश्रित, लिङ्ग (ज्ञापक) तथा सावयव और परतन्त्र हैं। ठीक इसके विपरीत अव्यक्त (प्रधान) अहेतुमान्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव, तथा स्वतन्त्र है ॥१०॥

मा० वृत्ति—हेतुमदिति यस्योत्पत्तिकारणमस्ति तद्धेतुमत्। हेतुरपदेशो-निमित्तं प्रकृतिः कारणमित्यनर्थान्तरम्। प्रधानस्यैते पर्यायशब्दाः। तस्मा-त्प्रधानेन हेतुना सकारणमिदं महदादिभूतपर्यन्तं त्रयोविंशतिकं लिङ्गम्। तथा हि—महत् बुद्धितत्त्वं तत्प्रधानेन हेतुमत्। तेनाहङ्कारोऽमुना एकादशेन्द्रियाणि तन्मात्राणि च। तैश्च भूतानीति सर्वमेवेदं परस्परहेतुमत्। अथ च द्विविधो हेतुः कारको ज्ञापकश्च। तत्र प्रधानबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रलक्षणश्चतुर्विधः कारकः। विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्यनुग्रहभेदात् पञ्चधा ज्ञापकः। तत् द्विविधेनापि हेतुना युक्तं हेतुमदिदं सिद्धम्। किं च—अनित्यम् प्रलयं गच्छति। यस्मादु-त्पत्तिमत्तस्माद् नित्यम्। अकारणवत् नित्यमिति नित्यस्य लक्षणम्। तद्विपरी-तमिदमतोऽनित्यम्। तद्यथा—मृत्पिण्डादुत्पन्नो घटः सचानित्यो दृष्टः। एवं महदादि प्रधानादुत्पन्नं तस्मादनित्यं तस्मिन्नेव च लीयते। तथा हि—प्रधाने बुद्धिस्तस्यामहङ्कारस्तस्मिन्निन्द्रियाणि तन्मात्राणि च तेषु भूतानि प्रलयकाले लीयन्ते तस्मादनित्यम्। किञ्च—अव्यापि असर्वगतम्। यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ न तथेदमित्यर्थः। इदं हि यस्मिन्नेव प्रदेशेऽवस्थितं तस्मिन्नेव वर्तते।

अनुवाद—जिसका उत्पन्न करने वाला कारण हो उसे हेतुमत् कहते हैं। हेतु, अपदेश, निमित्त, प्रकृति, कारण, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं।

इसलिए प्रधान होने के कारण ये सब महदादि भूतपर्यन्त जितने भी २३ तत्त्व हैं, वे सब सकारण (हेतुमत्) कहे जाते हैं जैसे—महत्=बुद्धितत्व प्रधान के द्वारा हेतुमत् है और बुद्धि से अहङ्कार भी हेतुमत् है। अहङ्कार के द्वारा एकादश इन्द्रियां और पञ्चतन्मात्रायें हेतुमती हैं। उन पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत हेतुमत् हैं इस प्रकार ये सब परस्पर हेतुमत् हैं। हेतु दो प्रकार का होता है—कारक हेतु और ज्ञापक हेतु। उसमें प्रधान, बुद्धि, अहंकार तन्मात्रायें ये सब कारक हेतु कहे जाते हैं और विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि अनुग्रह ये पाँच ज्ञापक हेतु कहे जाते हैं। दोनों तरह से ये महदादि कार्य हेतुमत् हैं, यह सिद्ध हुआ। अनित्य भी हैं—अनित्य का अर्थ है प्रलय वाले (अर्थात् अपने कारण में लीन होने वाले) क्योंकि ये उत्पत्तिमान् है इसलिए अनित्य है। जो अहेतु हो उसे नित्य कहते हैं महदादि कार्य इसके विपरीत हैं अतः अनित्य हैं जैसे मृत् पिण्ड से उत्पन्न हुआ घड़ा अनित्य देखा गया है। इसी तरह महदादि प्रधान से उत्पन्न हुए है, अतः अनित्य हैं और प्रधान में ही इनका लय भी होता है। जैसे—प्रधान में बुद्धि और उसमें अहङ्कार, फिर उसमें इन्द्रियां और तन्मात्रायें, उनमें पञ्चमहाभूत प्रलयकाल में लीन होते हैं इसलिए अनित्य हैं। और भी अव्यापी—सर्वत्र न रहने वाले भी हैं जैसे—प्रधान और पुरुष सर्वगत हैं वैसे महदादि नहीं। ये महदादि जिस प्रदेश में अवस्थित होंगे, वहीं विद्यमान रहेंगे।

मा० वृत्ति—किं च—सक्रियम्। यस्मात् संसरणकाले महदादिकार्यं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति तस्मात् सक्रियम्। किञ्च—अनेकम्, बहुविधं त्रयोविंशतिप्रकारम्। इतरच्च आश्रितम्, यत् यस्मादुत्पद्यते तत्तदाश्रितम्। बुद्धिः प्रधानमाश्रिता, तां चाहङ्कारः, तं चेन्द्रियाणि तन्मात्राणि च, तानि महाभूतान्याश्रितानि। एवमाश्रितम्। लयं गच्छतीति लिङ्गम्। सावयवमिति—प्रवयन्तीत्यवयवा यथा पिण्डस्य हस्तपादाद्याः। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाद्यवयवसम्पन्नं व्यक्तम्। किं च—परतन्त्रम्, पराधीनम्। यथा पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्र एवं व्यक्तम्। प्रधानतन्त्रा बुद्धिः बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः, अहङ्कारतन्त्राणि इन्द्रियाणि तन्मात्राणि च, तन्मात्रतन्त्राणि महाभूतानीति। एवं परतन्त्रम्, व्यक्तमुक्तम्। एतद्विपरीतलक्षणमव्यक्तम्। अहेतुमत् अनुत्पन्नत्वात्। नित्यम् अकारणवत्त्वात्। व्यापी सर्वगतत्वात् आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं पुरुषवत् व्याप्य प्रधानमवस्थितम्। निष्क्रियम्, सर्वव्यापकत्वात्। एकं सर्वकारणत्वात्। अनाश्रितं प्रभविष्णुत्वात्। अलिङ्गमनुत्पत्तिकत्वात्। निरवयवममूर्तत्वात्। स्वतन्त्रं सर्वोत्पत्तिकारणत्वात्॥१०॥

अनुवाद—और भी व्यक्त सक्रिय है क्योंकि वह संसरण काल में महदादि सूक्ष्म शरीर का आश्रय लेकर संसरण करता है इसीलिए इसे सक्रिय कहते हैं। और अनेक भी है—अनेक का मतलब बहुत प्रकार का तेईस प्रकार का व्यक्त है। आश्रित भी है क्योंकि यह नियम है कि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसके आश्रित समझा जाता है। बुद्धि प्रधान के आश्रित है और अहङ्कार बुद्धि के आश्रित और इन्द्रियां व तन्मात्रायें अहङ्कार के आश्रित है। पञ्चमहाभूत तन्मात्राओं के आश्रित हैं। इस तरह से व्यक्त (महदादि) आश्रित कहा जाता है। व्यक्त अपने कारण में लीन होता है इसीलिए इसे लिङ्ग भी कहते हैं और यह सावयव भी है—आपस में सम्मिलित होने वाला। जैसे—शरीर के हस्तपादादि अवयव आपस में सम्मिलित रहते हैं वैसे ही यह व्यक्त भी शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि अवयव से सम्मिलित हैं। परतन्त्र भी है अर्थात् पराधीन, जैसे पिता के जीवित रहते पुत्र स्वतन्त्र नहीं हो सकता उसी तरह अव्यक्त से उत्पन्न हुआ व्यक्त भी स्वतन्त्र नहीं है। क्योंकि प्रधान के अधीन बुद्धि है, और बुद्धि के अधीन अहङ्कार, अहङ्कार के अधीन इन्द्रिय और तन्मात्रायें इनके अधीन पञ्चमहाभूत, इस तरह एक दूसरे परतन्त्र हैं। इसके ठीक विपरीतलक्षण वाला अव्यक्त है। वह अहेतुमान् है अनुत्पन्न होने से। नित्य है कारण रहित होने से। व्यापक है, सर्वगत होने से। क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड में वह भी पुरुष की तरह व्याप्त है। सर्वव्यापक होने से निष्क्रिय भी है। एक है सबका कारण होने से, और स्वयं प्रभु होने से किसी के आश्रित भी नहीं है। अलिङ्ग है अनुत्पत्ति धर्मा होने से। अमूर्त होने से निरवयव भी है। सब के उत्पत्ति में कारण होने से स्वतन्त्र भी है ॥१०॥

प्रबोधिनो

प्रधान और उसके कार्यों का साधर्म्य का और वैधर्म्य का ज्ञान विवेकज्ञान में उपयोगी हैं। इसीलिए उसका और उसके कार्यों का सारूप्य और वैरूप्य बताने के लिए यह कारिका उपस्थित की गई है। प्रधान के सभी कार्य महत्तत्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त तेईस हैं जिन्हें सांख्यशास्त्र में व्यक्त कहते हैं। ये सभी हेतुमान्, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, आश्रित, तथा लिङ्ग (ज्ञापक) सावयव तथा परतन्त्र हैं। प्रधान ठीक इनके विपरीत हैं।

प्रधान महत्तत्व का हेतु है, इसलिए महतत्व प्रधान के द्वारा हेतुमान्

हुआ। इसी प्रकार महत् से अहंकार और उससे एकादश इन्द्रियां और पञ्च तन्मात्रायें उत्पन्न होते हैं इसीलिए ये सब महत्तत्व से लेकर भूतपर्यन्त परस्पर हेतुमान् (कारणयुक्त) हैं। हेतु दो प्रकार का होता है—एक कारक जैसे—घट के प्रति दण्ड, चक्र, चीवरादि कारक हेतु कहे जाते हैं। दूसरा ज्ञापक हेतु—जैसे—अन्धेरे में दीपक घट का ज्ञान करा देता है। दीपक यहाँ ज्ञापक हेतु हैं। वृत्तिकार का कहना है कि यहाँ महत् से लेकर तन्मात्रा तक जितने हेतु हैं, वे सब कारक हेतु हैं। क्योंकि ये सब तत्तत् तत्वों के उत्पादक हैं अतः इन्हें कारण हेतु कहते हैं। आगे स्वयं ग्रन्थकार जिनका वर्णन करेंगे वे विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि, अनुग्रह के भेद से पांच प्रकार के जो हेतु हैं वे ज्ञापक हेतु हैं। क्योंकि ये हेतु कार्य विशेष का प्रकाशन या ज्ञापन कराते हैं। अनित्य का अर्थ है, अपने कारणतत्व में सूक्ष्मरूप से अवस्थान न कि विनाश। सांख्यसूत्र में भी कहा है—"**नाशः कारणलयः**" इति। तत्व-कौमुदी में भी वाचस्पति मिश्र ने ऐसी ही व्याख्या की है—**अनित्यम्=विनाशि, तिरोभावीति यावत्।**" अव्यापी का अर्थ है जो सर्वत्र न रहे, जितने भी परिणामी हैं उन सब में जो व्याप्त न हो। कारण के द्वारा कार्यव्याप्त रहता है, न कि कार्य के द्वारा कारण, बुद्धचादियों से प्रधान व्याप्त नहीं हैं, इसलिए ये अव्यापक कहे जाते हैं। महत्तत्वादि प्रधान व पुरुष की तरह सर्वगत नहीं। सक्रिय का अर्थ है स्पन्दनशील, वृत्ति में कहा है कि संसरण काल में महदादि सूक्ष्म शरीर का अवलम्बन करके संसरण करते हैं। अभिप्राय यह है कि जब बुद्धचादि तत्त्व एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हैं तो उस समय उन्हें सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता होती है क्योंकि स्थूल शरीर तो यहीं रह जाता है, अतः उसमें स्पन्दनक्रिया नहीं हो सकती। तत्वकौमुदी में भी कहा है "**तथा हि बुद्धचादय उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति देहान्तरं चोपाददते इति तेषां परिस्पन्दः**" अनेक से तात्पर्य है अनेक संख्यावाला, जैसे संख्या में व्यक्त तेईस प्रकार का है। अथवा अनेक प्रकार वाला, क्योंकि प्रतिपुरुष में बुद्धि का भी भेद रहता है और पृथिव्यादि तत्व भी घटादि भेद से अनेक हैं आश्रित का अर्थ है अपने अपने कारण के अधीन जैसा कि वृत्ति में बतलाया है। लिङ्ग का अर्थ अपने कारण में लीन होने वाला है अथवा ज्ञापक, क्योंकि महत्त्वादि प्रधान के ज्ञापक (अनुमापक) है। सावयव का अर्थ है, सम्मिलन-मिश्रण अथवा संयोग। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्युत्पत्ति इस तरह दिखाई है—"**अवयवनम्—अवयवः—मिश्रः—संश्लेषः—मिश्रणं संयोग** इति **यावत्**। संयोग शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "अप्राप्तिपूर्विका

प्राप्ति संयोगः तेन सह वर्तत इति सावयवम् ।" यहां 'अव' पूर्वक यु मिश्रणे इस धातु से ल्युत प्रत्यय करने से अवयवनम् यह रूप बनेगा इसमें जिसका संयोग होगा वह प्रतियोगी होगा, और जिसके साथ संयोग होगा वह अनुयोगी होगा। इस प्रकार पृथिव्यादि ही परस्पर संयुक्त तथा वियुक्त होंगे न कि प्रधान। प्रधान संयोग का न तो प्रतियोगी है, और न अनुयोगी ही क्योंकि संयोग का अर्थ अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति है। प्रधान से बुद्धयादियों का संयोग नहीं अपितु तादात्म्य है और तादात्म्य स्थल में तो नित्यप्राप्ति ही रहती है, वहां कभी भी अप्राप्ति पूर्वक प्राप्ति नहीं है। इस प्रकार व्यक्त में ही संमिश्रण या संयोग होने से वह सावयव है। साथ ही साथ परतन्त्र भी है। जब बुद्धि (महत्तत्व) को अपने कार्य अहङ्कार को उत्पन्न करना होता है तो उसे प्रकृति (प्रधान) की सहायता अपेक्षित होती है। इसी को "प्रकृत्यापूर" कहते हैं। इसी तरह सभी तत्त्वों को अपने अपने कार्य उत्पन्न करने के लिए "प्रकृत्यापूर की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार नैयायिकों के मत में दो परमाणुओं से एक द्वयणुक, और तीन द्वयणुकों के द्वारा एक त्र्यणुक, इस तरह स्थूल पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इसमें जैसे अपने कारणीभूत अवयव की आवश्यकता होती है, वैसे ही यहाँ भी तत्तव् कार्योत्पत्ति के लिए प्रकृति की सहायता अपेक्षित है। अतः व्यक्त अपने कार्यजनन में अव्यक्त के परतन्त्र ही है। इसके ठीक विपरीत धर्मवाला अव्यक्त है, जिसका विवेचन वृत्ति में किया गया है ॥१०॥

एवमनया आर्यया व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमभिहितम्। साधर्म्यमुच्यते—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

सङ्गति पूर्व कारिका द्वारा व्यक्ताव्यक्त का वैधर्म्य दिखलाकर इस कारिका से साधर्म्य दिखा रहे हैं।

व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों त्रिगुण हैं। (सत्व, रज एवं तमो गुण युक्त) अविवेकी, (अभिन्न) विषय (भोग्य), और सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मी (परिणामशील) हैं। किन्तु पुरुष इनसे विपरीत, निर्गुण, विवेकी, अविषय, असाधारण, चेतन, एवं अप्रसवधर्मी हैं। साथ ही साथ पूर्वोक्त कारिका में जो "हेतुमदनित्यम्" इत्यादि कहा है इसके विपरीत जैसे प्रधान हैं, वैसे ही पुरुष भी अहेतुमान् इत्यादि है।

मा० वृत्ति—त्रिगुणं व्यक्तं महदादि। प्रधानमपि त्रिगुणम् कारण-

नुगतत्वात्कार्यस्य यथा कृष्णतन्तुः कारणं पटः कार्यमपि कृष्णमेव भवति। त्रिगुणेन कार्येणास्य कारणमपि त्रिगुणं भवतीति प्रधानं साध्यते। किं चान्यत्—अविवेकि व्यक्तम्। अमी गुणा इदं व्यक्तमिति विवेक्तुं न पार्यंते, तथा प्रधानमपि इदं प्रधानं अमी गुणा इति न शक्यते पृथक् कर्तुम्। किं च—विषयो व्यक्तं महदादि। सुखदुःखमोहतया भोग्यं तत् पुरुषस्य। स हि तस्य भोक्ता। तथा प्रधानमपि सर्वपुरुषाणां क्षेत्रज्ञानां भोग्यम्। सामान्यं व्यक्तम् गणिकावत् सर्वपुरुषाणाम् तथा प्रधानमपि। अचेतनं व्यक्तम्। सुखदुःखमोहान्न चेतयति तथा प्रधानमपि। (?) कथम् ? अनुमीयते। इहाचेतनान्मृतपिण्डादचेतन एव घट उत्पद्यते) प्रसवधर्मि व्यक्तम्। बुद्धेरहङ्कारस्तत इन्द्रियाणि तन्मात्राणि च तेभ्यो भूतानि जायन्ते। एवं प्रधानमपि बुद्धि प्रसूयते। उक्तमिदं व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यम्। इदानीं "तद्विपरीतस्तथा च पुमान्" इत्युक्तं, तत् प्रतिपादयति। ताभ्यां व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः। तयोर्यत् साधर्म्यं "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि" इत्युक्तम् ततोऽसौ विपरीतो विधर्मी, अगुणो विवेकी, अविषयोऽसामान्यः चेतनोऽप्रसवधर्मी चेति। वैधर्म्यमभिधाय साधर्म्यमाह—तथा च पुमानिति।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकताश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

इत्युक्तम्। तत् यथा व्यक्ताद्विसदृशं प्रधानं तथा प्रधानसधर्मा पुरुषः। तथा हि अहेतुमान्नित्यो व्यापी निष्क्रिय एकोऽनाश्रितोऽलिङ्गो निरवयवः परतन्त्र इति ॥११॥

अनुवाद—व्यक्त महदादि जैसे त्रिगुण हैं इसी तरह प्रधान भी त्रिगुण है क्योंकि यह नियम है कि कारण के अनुगत कार्य रहता है। जैसे—काले तन्तु कारण से पट रूप कार्य भी काला ही होगा। इस प्रकार यह सिद्ध है कि जब महदादि कार्य त्रिगुण हैं तो इसका कारण भी त्रिगुण ही होगा। और भी—व्यक्त अविवेकी (अभिन्न) है, क्योंकि ये गुण हैं और यह व्यक्त है जिस तरह इनमें पार्थक्य नहीं किया जा सकता, इसी तरह यह प्रधान है और ये गुण हैं, इनमें भी पार्थक्य नहीं किया जा सकता। व्यक्त महदादि विषय है क्योंकि सुखदुःखमोह स्वरूप होने से पुरुष का वह भोग्य है और पुरुष उसका भोक्ता है इसी तरह प्रधान भी सभी पुरुषों का भोग्य है। जिस तरह व्यक्त सामान्य हैं, गणिका की तरह सभी पुरुषों के लिए, इसी तरह प्रधान भी है। व्यक्त अचेतन होने से जिस तरह सुखदुःख मोह का अनुभव नहीं करता, उसी तरह प्रधान भी। व्यक्त प्रसवधर्मी हैं—बुद्धि से अहंकार, उससे इन्द्रियां और पञ्चतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं, और उन पञ्चतन्मात्राओं

से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं इसी तरह प्रधान भी प्रसवधर्मी है। वह बुद्धि को पैदा करता है। यह व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य हैं।

अब "तद्विपरीतस्तथा च पुमान्" इसकी व्याख्या करते हैं। उन व्यक्त और अव्यक्त से विपरीत पुरुष हैं। अभी त्रिगुणादि से व्यक्त और अव्यक्त का जो साधर्म्य बतलाया है पुरुष उससे विपरीत है। वह निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन, अप्रसवधर्मी, है। वैधर्म्य बतलाकर अब पुरुष का प्रधान के साथ साधर्म्य भी बतलाते हैं—"तथा च पुमान्" इस अंश से। "हेतुमदनित्यम्" इत्यादि कारिका में जिस तरह व्यक्त से प्रधान का वैधर्म्य भी है उस प्रकार प्रधान और पुरुष भी अहेतुमान्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव, तथा स्वतन्त्र है ॥११॥

प्रबोधिनी

अष्टम कारिका में जो कहा था कि "प्रकृति सरूपं च" इसी की व्याख्या के लिए इस कारिका का प्रारम्भ करते हैं। प्रकृत कारिका में व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य दिखलाकर पुरुष से उनका वैधर्म्य भी दिखलाया है। साथ ही साथ अहेतुमत्वादि सम्बन्ध से अव्यक्त (प्रधान) तथा पुरुष का साधर्म्य भी दिखलाया है। माठरवृत्ति में विस्तार से जिसका उल्लेख हैं यहाँ उसका पिष्ट पेषण करना व्यर्थ है। कारिका के प्रारम्भ में "त्रिगुणम्" यह पद आया है, इसका अर्थ सुखदुःखमोह परक लगाना पड़ेगा जो कि सत्वादि गुणों के कार्य हैं। यदि इसका अर्थ सत्व रज और तमोगुण किया जायेगा तो प्रकृत में यह अर्थ होगा कि जैसे सत्वादिगुणत्रयाधारभूत व्यक्त हैं, वैसे ही अव्यक्त भी है। परन्तु यह बात सांख्यसूत्र के विरुद्ध पड़ती है जो इस तरह है—**सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्" इति। "सत्वादिगुणानां प्रकृतिधर्मत्वं नास्ति तेषां गुणानां प्रकृतिस्वरूपत्वात्" इति सूत्रार्थः।** इस प्रकार प्रधान गुणत्रयात्मक होने से उसमें गुणत्रयनिरूपित आधारता नहीं रहेगी। अतः गुणपद से यहां सुखादि का ग्रहण करने से प्रधान में कोई दोष नहीं आता। इसी अभिप्राय से वाचस्पति मिश्र ने भी तत्त्वकौमुदी में **"त्रिगुणम्"** इस प्रतीक को लेकर **त्रयो गुणाः=सुखदुःखमोहा अस्येति त्रिगुणम्** ऐसी व्याख्या की है। साथ ही साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि ये सुखदुःखमोह धर्म व्यक्ताव्यक्त के ही हैं न कि आत्मा के—**तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वं पराभिमतमपास्तम्** यह संकेत उनका नैय्यायिकों की ओर है। न्याय दर्शन सुख-दुःख-इच्छा आदि को आत्मा के गुण मानता है। न्यायसूत्र में कहा भी

है—**इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्**। विषय पद की व्याख्या करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—**विषयः=ग्राहयः—विज्ञानाद् बहिरिति यावत्**। अर्थात् विज्ञान से भिन्न बाह्यशब्दादि प्रपञ्च, सुखदुःखादि धर्मवाला है। सामान्यम्—का अर्थ किया है, अनेक पुरुषों के द्वारा गृहीत। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य ने विज्ञानवाद का भी निराकरण कर दिया। यदि क्षणिक विज्ञान ही एक वस्तु मानी जाय तो घटादि के विज्ञान स्वरूप होने से और वृत्तिस्वरूप विज्ञानों के असाधारण होने से वे विषय भी सर्वसाधारण न हो सकेंगे। इस प्रसङ्ग में उन्होंने एक रोचक दृष्टान्त उपस्थित किया है—**तथा च नर्तकी भ्रूलताभङ्ग एकस्मिन् बहूनां प्रतिसन्धानं युक्तम्, अन्यथा तन्नस्यादिति भावः**।

अभिप्राय यह है कि किसी रङ्गमञ्च में किसी नर्तकी के हावभावपूर्व अभिनय को देखने वालों का सबका प्रतिसन्धान (भावनारूपज्ञान) एक सा रहता है, यदि पदार्थमात्र को विज्ञानाकार मान लिया जाय तो एक ही समय अनेक पुरुषों के द्वारा गृहीत पदार्थ सर्वसाधारण नहीं होगा। क्योंकि विज्ञान के चित्तवृत्तिस्वरूप होने से अन्य के विज्ञान अन्य नहीं ग्रहण कर सकता जैसे चैत्र के स्वप्न विज्ञान को मैत्र नहीं ग्रहण कर सकता। इस प्रकार विज्ञानवादी को भी अगत्या विज्ञान के अतिरिक्त विषय की सत्ता माननी होगी।

संक्षेप में विज्ञानवाद का मत इस प्रकार है—

योगाचार मतानुसारी विज्ञानवादियों का मत है कि बाह्य पदार्थ चित्त की ही अभिव्यक्ति है। चित्त की ही एकमात्र सत्ता है, और यह चित्त विज्ञान के प्रवाह का ही दूसरा नाम है। विज्ञानवादी का कहना है कि स्वप्न दशा में हमें मालूम पड़ता है कि देखी गई वस्तुयें बाहर विद्यमान हैं, परन्तु ऐसी बात तो नहीं होती, सब चित्त के भीतर ही वर्तमान रहती हैं। जागरित दशा की भी यही अवस्था है। घट तथा घटज्ञान में कोई भी अन्तर नहीं है। दृष्टि विकार से यदि कोई व्यक्ति आकाश में दो चन्द्रमा को देखता है, तो क्या हमें दो चन्द्रमा मानना चाहिए? बाह्य वस्तु को पृथक् मानना मतिभ्रम है। धर्मकीर्ति ने बड़े आग्रह के साथ कहा है कि नीलरंग और नील रंग का ज्ञान एक ही वस्तु है उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है।

विज्ञानवादी की दृष्टि में बाह्यवस्तु को मानने में अनेक दोष दीखते हैं। उनका पूछना है कि बाहरी वस्तु एक अणु की बनी या अनेक की? यदि एक अणु की बनी होती तो अणु के सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अणुओं के संघात से वस्तुओं के बनने पर भी यह बड़ा दोष

जाता है कि हम समस्त वस्तु को पूरी तरह नहीं देख सकते। दूसरी कठिनाई यह है कि वस्तु तो क्षणिक होती है एक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है, तब उसका ज्ञान कैसे हो सकता है। सत्तात्मक वस्तु का ही तो प्रत्यक्ष होता है। नष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है? फलतः बाह्य वस्तु को मानना सर्वथा असम्भव है अतः विज्ञान ही एकमात्र तथ्य है ॥११।

तत्र त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च निर्गुणः पुरुष इत्युक्तम्, क्रियात्मकागुणा इत्यत्रोच्यते—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ १२॥

सङ्गति—पूर्व कारिका में व्यक्त और अव्यक्त को त्रिगुण तथा पुरुष को निर्गुण कहा था, अब उन गुणों के स्वरूप को इस कारिका में प्रस्तुत करते हैं।

ये सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण क्रमशः सुख, दुःख व मोह स्वभाव वाले हैं साथ ही साथ प्रकाशक, प्रवर्तक व नियामक भी हैं। इनमें प्रत्येक गुण अन्य गुण को दबाकर अपना कार्य करता है इसलिए परस्पर अभिभववृत्ति वाले हैं और प्रत्येक गुण अपने कार्य के लिए अन्य गुण का सहारा लेता है इसलिए परस्पराश्रय वृत्ति वाले हैं। तीनों गुण परस्पर मिलकर संसार रूपी कार्य उत्पन्न करते हैं, इसलिए जननवृत्ति वाले है, और परस्पर सम्मिलित रहने से मिथुन (संयोग) वृत्ति वाले भी हैं ॥१२॥

मा० वृत्ति—तत्रायं समासः, प्रीतिश्चाप्रीतिश्च विषादश्च ते आत्मा स्वरूपं येषां गुणानां ते भवन्ति प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः। तेषां लक्षणमुच्यते तत्र प्रीत्यात्मकं सत्वम्, आत्मशब्दः स्वभावे वर्तते, कस्मात् सुखलक्षणत्वात्। यो हि कश्चित् क्वचित् प्रीतिं लभते तत्र आर्जवमार्दवसत्यशौचह्रीबुद्धिक्षमानुकम्पाज्ञानादि च, तत् सत्वं प्रत्येतव्यम्। अप्रीत्यात्मकं रजः। कस्मात्, दुःखलक्षणत्वात। यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् अप्रीतिमुपलभते तत्र द्वेषद्रोहमत्सरनिन्दास्तम्भोत्कण्ठानिकृतिवञ्चनाबन्धवधच्छेदनानि च तद्रजः प्रत्येतव्यम्। विषादात्मकं तमः कस्मात्? मोहलक्षणत्वाद्। यो हि कश्चित् कदाचित् क्वचित् मोहमुपलभते तत्र अज्ञानमदालस्यभयदैन्याऽकर्मण्यतानास्तिक्यविषादस्वप्नादि च, तत्तमः प्रत्येतव्यम्। किं चान्यत्—प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। प्रकाशश्च प्रवृत्तिश्च नियमश्च ते अर्था येषां तथोक्ताः। तत्र प्रकाशितव्यमिति सत्वस्य प्रवर्तितव्यमिति रजसः। नियन्तव्यं संहर्तव्यमिति तमसः।

अनुवाद—समास दिखलाते हैं, प्रीति, अप्रीति, विषाद जिन गुणों का स्वरूप हो, वे प्रीत्यप्रीतिविषादात्मक कहे जाते हैं। अब इनका लक्षण करते हैं। सत्वगुण प्रीत्यात्मक है। यहाँ आत्म शब्द स्वभाववाची है क्योंकि सत्व सुखवर्धक है। जो कोई भी कहीं यदि प्रीति करता है तो वहाँ सरलता, कोमलता, सत्यता, शौच, लज्जा, बुद्धि, क्षमा, दया, ज्ञान, इत्यादि सत्वगुण के कार्य देखे जाते हैं, वहाँ सत्व गुण जानना चाहिए। रजोगुण अप्रीत्यात्मक है क्योंकि वह दुःख धर्मक है। जो कोई भी कभी कहीं यदि अप्रीति प्राप्त करता है, तो वहाँ द्वेष, द्रोह, मत्सर, निन्दा, स्तब्धता, उत्कण्ठा, शठता, वञ्चकता, बन्ध, वध इत्यादि देखे जाते हैं इसे रजोगुण समझना चाहिए। तमोगुण विषादात्मक होता है क्योंकि तमोगुण मोह धर्म वाला है। जो कोई भी कभी कहीं यदि मोह को प्राप्त करता है तो वहाँ अज्ञान, आलस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिकता, विषाद, स्वप्न, इत्यादि देखे जाते हैं इसे तमोगुण समझना चाहिए। और भी—ये गुण क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थिति शील होते हैं। इसमें प्रकाश करना सत्वगुण का कार्य है और प्रवर्तन करना रजोगुण का कार्य है तथा नियमन करना तमोगुण का कार्य है।

मा० वृत्ति—किं चान्यत्—अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः। तत्रापि समासः। अन्योन्यभिभवाश्च अन्योन्याश्रयाश्च अन्योन्यजननाश्च अन्योन्यमिथुनाश्च येषां गुणानामन्योन्यवृत्तयश्च विद्यन्ते तथोक्ताः। च शब्दः समुच्चये दृष्टव्यः। प्रीत्यादयश्च तावत् प्रागभिहिताः। अन्योन्यभिभवाश्चेति रजस्तमसोरभिभवात् शान्ता वृत्तिरुत्पद्यते सत्वस्य धर्माद्या, सत्वतमसोरभिभवात् रजसो घोरा वृत्तिरुत्पद्यते अधर्माद्या, सत्वरजसोरभिभवात् तमसो मूढा वृत्तिरुत्पद्यते अज्ञानाद्या। किं चान्यत्—अन्योन्याश्रयाश्चगुणाः। सत्वं हि प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य प्रकाशयति। रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवर्तयति। तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमयति। त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति। किं चान्यत्—अन्योन्यजननाश्च गुणाः। अन्योन्यं जनयन्ति, कदाचित् सत्वं रजस्तमसी जनयति, कदाचित्तमः सत्वरजसी जनयति। यथा सपरिकरकुम्भकाराधिष्ठितो मृत्पिण्डो घटं जनयति तद्वज्जनयन्ति। अन्योन्यं बोधयन्तीत्येतत् प्रतिगृह्यते यथा देवदत्तयज्ञदत्तौ परस्परं बोधयत एवं बुद्धिस्था गुणाः सत्वरजस्तमाँसि परस्परं बोधयन्ति। एवमन्योन्यजनका गुणाः। किं चान्यत्—अन्योन्यमिथुनाश्च गुणाः अवियोगकधर्मत्वात्। एवं ह्याहुः—

रजसो मिथुनं सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः ।
उभयोः सत्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥

किं चान्यत्—अन्योन्यवृत्तयश्च गुणाः । अन्योन्यस्य वृत्तिं जनयन्ति यथा काचित् स्त्री नयविनयविलासलीलावती भर्तुरात्मनो बन्धुवर्गस्य च प्रीतिं जनयति सैव सपत्नीषु दुःखमोहौ जनयति । एवं सत्वेन स्त्रीभूतेन रजसस्तमसश्च वृत्तिर्जनिता । एवमन्येष्वपि योज्यम् ॥१२॥

अनुवाद—और भी—ये गुण परस्पर अभिभव, आश्रय, जनन और मिथुन वृत्ति वाले हैं । यहाँ भी पूर्ववत् समास है । वृत्तिशब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, चकार समुच्चय में है । प्रीत्यादियों का विवेचन पहिले कर चुके हैं । अन्योन्याभिभवाश्चेति—जैसे सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दबा कर शान्त वृत्ति को उत्पन्न करता है, धर्मादि जिसके कार्य हैं । इसी तरह रजोगुण सत्व और तमोगुण को दबाकर घोर वृत्ति को उत्पन्न करता है जिसके कार्य अधर्मादि हैं । इसी प्रकार तमोगुण सत्व और रजोगुण को दबाकर मूढवृत्ति को उत्पन्न करता है, अज्ञानादि जिसके कार्य हैं । और भी—ये गुण अन्योन्याश्रय भी हैं । सत्वगुण प्रवृत्ति और नियमन का आश्रय लेकर प्रकाशरूप कार्य करता है और रजोगुण प्रकाश और नियमन का आश्रय लेकर प्रवृत्तिरूप कार्य करता है तथा तमोगुण प्रकाश और प्रवृत्ति का आश्रय लेकर नियमनरूप कार्य करता है । इस प्रकार ये गुण अपने कार्य में त्रिदण्ड (तिपाई) की तरह परस्पर आश्रित हैं । ये गुण अन्योन्यजननरूप कार्य भी करते हैं । कभी सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण को उत्पन्न करता है और कभी तमोगुण सत्व और रज को उत्पन्न करता है । जैसे सामग्री सहित कुम्भकाराधिष्ठित मृत्पिण्ड घट को उत्पन्न करता है इसी तरह ये गुण भी जननरूप कार्य करते हैं । (अर्थात् प्रत्येक कार्य के त्रिगुणात्मक होने से ये तीनों सम्मिलित होकर ही कार्यों के जनक होते हैं ।) ये एक दूसरे का बोधन भी करते हैं जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त आपस में एक दूसरे को बतलाते हैं । इसी तरह बुद्धिस्थ गुण भी सत्व, रज और तम परस्पर बोधन रूप कार्य करता हैं । इस तरह से इनकी अन्योन्यजनकता है । ये गुण अन्योन्य मिथुन भी हैं अर्थात् परस्पर सहचर हैं, अवियुक्त धर्मक होने से । कहा भी है—रजोगुण की मिश्रितावस्था सत्वगुण है और सत्वगुण की मिश्रितावस्था रजोगुण हैं तथा दोनों सत्व और रजोगुण की मिश्रितावस्था तमोगुण है । ये गुण अन्योन्यवृत्ति वाले भी हैं अर्थात् एक दूसरे की क्रिया को उत्पन्न करने वाले हैं । जैसे—कोई स्त्री नयविनयविलासलीला से अपने भर्ता

को तथा बन्धु वर्ग को सुख देती है, वही स्त्री सपत्नियों के लिए दुःख और मोह भी उत्पन्न करती है। इस तरह सत्वस्वरूप उस स्त्री ने रजोगुण और तमोगुण की वृत्ति दुःख तथा मोह को भी उत्पन्न किया। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए ॥१२॥

प्रबोधिनी

उक्त कारिका द्वारा पूर्वोक्त तीनों के स्वरूप का विवेचन करते हुए प्रत्येक गुणों की विशेषता दिखला रहे हैं। "त्रिगुणम्" का अभिप्राय है—सत्वगुण, रजोगुण व तमोगुण। ये गुण क्रमशः प्रीत्यात्मक, अप्रीत्यात्मक तथा विषादा-हैं अर्थात् सुख, दुःख, मोह स्वभाव वाले हैं। साथ ही साथ प्रकाश, प्रवृत्ति व नियमन कार्य करने वाले भी हैं। इस प्रसङ्ग में विस्तृत व्याख्यान है—गुण शब्द से यहाँ वैशेषिकोक्त **कर्मभिन्नत्वे सति द्रव्योपादानकत्वं गुणत्वम्** यह नहीं समझना चाहिए। बल्कि गुण शब्द से यहाँ संयोग विभाग कार्य सापेक्ष द्रव्य ही अभीष्ट हैं। सांख्यप्रवचन भाष्य में कहा भी है। **"सत्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणाः संयोगविभागक्त्वात्।**

प्रश्न—जब ये गुण नहीं हैं, तो फिर इन्हें गुण क्यों कहते हैं?

उत्तर—"परार्थ" होने के कारण इन्हें गुण कहा जाता है अर्थात् ये प्रधान के उपकारक होने से गुण हैं। जैसे—मीमांसा दर्शन में प्रधान याग के उपकारक अङ्ग को गुण कहते हैं इसी तरह सत्वादि भी प्रधान के उपकारक होने से गुण कहे जाते हैं। अथवा इनमें रज्जु की तरह बन्धन-योग्यता होने से भी सादृश्य सम्बन्ध से इनमें गुण शब्द का व्यवहार होता है।

कारिका में प्रीति, अप्रीति, और विषाद के अन्त में आत्मा शब्द को भी जोड़ा है जिसका अन्वय प्रत्येक के साथ होता है। फलतः ऐसा वाक्य बनेगा—**प्रीत्यात्मकः सत्वगुणः, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः, विषादात्मकस्तमोगुणः।** आत्म शब्द स्वभाववाची है। इसको माठर ने भी वृत्ति में साफ स्पष्ट किया है। यद्यपि पहिले समास में **'प्रीतिश्च, अप्रीतिश्च, विषादश्च ते आत्मा स्वरूपं येषां गुणानां ते भवन्ति'** इत्यादि से आत्मशब्द का स्पष्टीकरण कर चुके थे फिर भी जोर देकर उनको आत्म शब्द का अर्थ इसलिए समझाना पड़ा कि कहीं कोई प्रीति का अभाव अप्रीति तथा अप्रीति का अभाव प्रीति न समझ ले। इसीलिए लिखा कि "आत्मशब्दः स्वभावे वर्तते" अर्थात् सत्व प्रीत्यात्मक

प्रीतिस्वभाव वाला है, न कि अभावस्वरूप। इसीतरह रजोगुण अप्रीत्यात्मक अप्रीतिस्वभाव वाला है न कि प्रीत्यभावस्वरूप। यदि इनको अन्योन्याभाव मान लिया जाय तो, अभाव के अवस्तुस्वरूप होने से वास्तविकस्वरूप सत्वादि के स्वरूप की हीं अनुपपत्ति हो जायेगी। इस प्रसङ्ग में वाचस्पति मिश्र ने तत्व कौमुदी में स्पष्ट लिखा है—**ये तु मन्यन्ते—"न प्रीतिर्दुःखाभावादतिरिच्यते एवं दुःखमपि न प्रीत्यभावादन्यत् इति तान् प्रति आत्मग्रहणम्, नेतरेतराभावाः सुखादयोऽपि तु भावाः। आत्मशब्दस्य भाववचनत्वात्।**

गुणों का विवेचन करने के बाद अब उनकी क्रियाओं का भी विवेचन करते हैं। ये गुण परस्पर अभिभववृत्ति वाले हैं अर्थात् एक गुण दूसरे गुण को दबाकर अपना कार्य करता है। जैसे सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दबाकर शान्त वृत्ति को उत्पन्न करता है। इसी तरह रजोगुण और तमोगुण अन्योन्य को दबाकर घोर तथा मूढ़ वृत्ति को उत्पन्न करते हैं जिनका फल क्रमशः धर्म, अधर्म तथा अज्ञान है। साथ ही साथ ये गुण परस्पर सापेक्ष्य तथा सम्मिलित भी हैं अर्थात् एक गुण अपने प्रकाशादि कार्य के लिए अन्य के सापेक्ष्य है तथा घटादि कार्य जनन में भी एक दूसरे का आश्रय लेकर ही परिणाम धारण करते हैं। स्त्री पुरुषवत् परस्पर सहचर भी हैं तथा एक दूसरे की प्रीत्यादिक वृत्ति को भी उत्पन्न करते हैं। वृत्तिकार ने इस प्रसङ्ग में स्त्री का रोचक दृष्टान्त भी दिया है। इस तरह इस कारिका में गुणों का लक्षण, प्रयोजन और क्रिया का विवेचन सुन्दर ढंग से किया गया है॥१२॥

मा० वृत्ति—अत्राह न खलु सत्वरजस्तमांसि जात्यन्तराणि। कुतः? स्वभावेष्ववस्थानात्। इह खलु रूपयौवनदाक्षिण्यमतिसाधुत्वस्मृत्युग्रभावाभाव-लिलाविलाससम्पन्ना स्त्री सत्वस्य रूपमुपदिश्यते। सा च भर्तुः सुखावहा भवति, सपत्नीनां दुःखाय, रागिणां मोहाय च। तथा क्षत्रिया दुःखप्रहरण-कृतापराधां दस्युसेनामभिघ्नती रजसो रूपमित्युपदिश्यते। तेन च दस्युभि-रूपद्रुतानां दार्यमाणानां सुखावहा भवति, दस्यूनां दुःखाय मोहाय च। तथा धनाद्यनो महाकृष्णो मेघ स्तोयाध्मातोऽवलम्बी ग्रसमान इव नभो भूमिं चाभिवर्धमानः सबलाकः सविद्युद्गभीरस्तनितस्तमसो रूपमित्युपदिश्यते। स च कर्षकाणां सज्जीकृतबीजोपकरणानां सुखो भवति। स एवानाच्छादितशरणा-नामनुपार्जितभक्तस्नेहलवणानामप्रगुणिततृणकाष्ठानां प्रोषितवधूनां च दुःखो मूढश्च। तदेवमत्रस्थितस्वभावत्वादेकं सत्वरजस्तमांसि।

अनुवाद—यहाँ सत्व, रजोगुण और तमोगुण में विभिन्न जातियाँ स्वीकार

नहीं की जा सकती है अर्थात् यदि सत्वगुण की सत्व जाति ही स्वीकार करेंगे तो इसकी सम्मिलितावस्था नहीं बनेगी जैसा कि देखा जाता है, संसार की प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है । जैसे—एक ही स्त्री रूपयौवन उदारता, कोमलस्वभाव, लीलाविलासादि से सम्पन्न होने से सत्वस्वरूप समझी जाती है । वह भर्त्ता के लिए सुखस्वरूप हैं और सपत्नी के लिए दुःख-स्वरूप है और उसे न प्राप्त कर सकने वाले रागियों के लिए मोह स्वरूप बनी हुई है। इसी तरह एक सेना, दुःखपूर्वकप्रहार करने वाली सापराध दस्युसेना को जब मारती है, तो वह रजःस्वरूप समझी जाती है । परन्तु जिसको दस्युओं ने तंग कर रखा है, उसके लिए वह सेना सुखदायक है और दस्युओं के लिए दुःखदायक और मोहदायक है । इसी तरह काला बादल जो कि जल से भरा हुआ है, नीचे को लटक रहा है मानो आकाश को निगल जायेगा, जमीन की ओर बढ़ता हुआ बलाका युक्त और बिजली सहित गम्भीर ध्वनि करता हुआ तम स्वरूप कहा जाता है। पर वही बादल बीजादि सामग्री ठीक कर ली है जिसने, ऐसे किसानों के लिए सुखस्वरूप है । और जिन्हों ने अभी मकानों का भी आच्छादन नहीं किया हैं, और न चावल दाल नमक तेल ही इकट्ठा किया है और न तृणकाष्ठादि सामग्री ही सञ्चित की है, ऐसे लोगों के लिए तथा प्रोषितपतिकाओं के लिए दुःख और मूढ स्वरूप है। इस तरह इन गुणों का स्वरूप परस्पर सम्मिलित होने से एक मानना होगा न कि विभिन्न ।

अत्रोच्यते जात्यन्तरममूनि त्रीणि । लक्षणपृथक्त्वव्यवस्थानात् । कथमिति चेत्तदुच्यते—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

सङ्गति—उत्तर में कहते हैं कि इन गुणों में पृथक् पृथक् जाति स्वीकार की जाती हैं, क्योंकि इनका पृथक् पृथक् लक्षण किया है, जैसा कि कारिका में है—सत्वगुण लघु तथा प्रकाशक है । (सांख्याचार्यों को यही अभिमत है।) रजोगुण प्रेरक तथा चञ्चल है और तमोगुण गुरू तथा आवरक है। (परस्पर विरोध होने पर भी) ये आपस में (भोगापवर्ग) पुरुषार्थ के लिए दीपक की तरह मिलकर कार्य करते है ॥१३॥

मा० वृत्ति—अत्र यत् पूर्वस्यार्यायामभिहितं सत्वलक्षणं तल्लघुत्व-प्रकाशकलक्षणं च । यदा सत्वमुत्कटं भवति देवदत्ते तदा लघून्यङ्गानि,

विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणसमर्थानि भवन्ति । तदा मन्तव्यमद्य मे सत्त्वमुत्कटत्वेन वर्तते । इष्टं च स्वरूपसाधनहेतुत्वात् । उपष्टम्भकं चलं च रजः । उपष्टम्भकं प्रेरकमुन्नाहिरित्यर्थः । यथा मत्तवृषो वृषं दृष्ट्वा उद्धतो भवति तद्वत् अथवा गर्वश्चला क्रियेत्यर्थः, एवं यस्मिन् देवदत्ते यज्ञदत्ते वा रज उत्कटं भवति स कलहं मृगयते किं चान्यत् चलचित्तश्च भवति-ग्रामं गच्छामि स्त्रियं कामये तपः करोमि इत्यादि । एवं नित्यमुत्सुकमना भवति, एतत् रजोलक्षणम् । तम आह— गुरूवरणकमेव तमः । यद् गुरुत्वमावरणत्वं चास्ति तत्तमः यदा गुरूण्यङ्गानि भवन्ति । इन्द्रियाण्यलसानि स्वविषयग्रहणासमर्थानि भवन्ति तदानीं यन्तव्यमेतत्तम उत्कटत्वेन वर्तत इति । तस्माज्जात्यन्तराण्येव सत्वरजस्तमांसि । यत् पुनरभ्यधायि—स्त्री, क्षत्रिया मेघश्चेति । अत्र त्रयेऽपि ब्रूमः । सत्वं रजस्तमसी, आश्रित्य स्वेन रूपेणाङ्गाङ्गिभावं गच्छति । तस्यापकाराद्दुःखमुत्पद्यते । एवं रजस्तमसी योज्ये । परस्परविरुद्धानां गुणानां कथमेका वृत्तिर्भवतीत्यत्राह—परस्पर विरुद्धाः शत्रवो न ह्येकमर्थं कुर्वन्ति । कुतः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः । प्रदीपेन तुल्यं प्रदीपवत्, अर्थतः कार्यवशात् । परस्परविरुद्धानामप्यमीषां वृत्तिर्दृष्टा यथा तैलाग्निवर्तिकासंयोगात् परस्परविरुद्धा अपि पदार्थाः संहत्य एकमर्थं प्रकाशरूपं निष्पादयन्त्येवं गुणा अपि परस्परविरुद्धाः संहत्य पुरुषार्थं कुर्वन्ति ॥१३॥

अनुवाद—पूर्व आर्या में जो सत्व का लक्षण किया है इसके साथ ही साथ लघुत्व और प्रकाशत्व भी इसका लक्षण है । जब सत्व गुण उत्कट होता है, तब देवदत्त के अङ्ग हलके हो जाते हैं इन्द्रियां निर्मल अपने अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ हो जाती है । तब समझ लेना चाहिए कि आज मुझ में सत्व गुण की अधिकता है । सत्व का यही लक्षण साख्याचार्यों को इष्ट है क्योंकि यही अपने स्वरूप सत्व का साधक है । रजोगुण प्रेरक होता है अर्थात् इसमें नाडियों की गति तेज रहती है । जैसे कोई उन्मत्त बैल दूसरे बैल को देखकर उद्धत हो जाता है अथवा इसमें अभिमान व चञ्चलता रहती है । जैसे देवदत्त या यज्ञदत्त में जब रजोगुण उत्कट हो जाता है, तो वह लड़ाई वगैरह करना चाहता है और चलचित्त हो जाता है । वह गांव चलूं, स्त्री से प्यार करूं, अथवा तपस्या करूंगा इत्यादि बातें सोचता है । इस तरह नित्य उन्मना रहता है । यह सब रजोगुण का लक्षण है । भारीपन का आ जाना व आवरण का आ जाना ही तम हैं । जब अङ्ग भारी हो जाते हैं, इन्द्रियां आलस्ययुक्त होकर अपने अपने विषयों को ग्रहण

करने में असमर्थ हो जाती हैं तब समझ लेना चाहिए कि तमोगुण की अधिकता है। इस तरह यह कहना पड़ेगा कि सत्व, रज और तमोगुण जात्यन्तर ही हैं। पहिले जो स्त्री, सेना व मेघ का दृष्टान्त देकर एकरूपता वतलायी थी उसका अभिप्राय यह है कि सत्वगुण रजोगुण व तमोगुण का आश्रय लेकर अपने में अङ्गाङ्गिभाव प्राप्त करता है। इस प्रकार जिस सपत्नी का अपकार होता है, उसके प्रति रजोगुण का कार्य 'दुःख' उत्पन्न होता है। इसी तरह रजोगुण व तमोगुण के विषय में भी जानना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि परस्पर विरुद्ध गुणों का एक व्यापार कैसे होता है क्योंकि परस्पर विरुद्ध शत्रु एक कार्य नहीं करते परन्तु ये गुण परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक पुरुषार्थ रूपी कार्य को करते हैं। यह कैसे ? उत्तर में कहते हैं कि—प्रदीप की तरह। अर्थात्—प्रदीप के तुल्य कार्यवशात् परस्पर विरुद्ध होते हुए भी ये एक व्यापार में प्रवृत्त होते हैं। जैसे—तेल, अग्नि, वत्तो, परस्पर विरुद्ध पदार्थ भी आपस में मिलकर एक प्रकाशरूप कार्य का निष्पादन करते हैं इसी तरह ये गुण भी परस्पर विरुद्ध होते हुए भी मिलकर एक (भोगापवर्ग रूप) पुरुषार्थ को निष्पन्न करते हैं ॥१३॥

प्रबोधिनी

पूर्व कारिका में प्रीत्यप्रीति इत्यादि से गुणों का सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है। सम्प्रति तत्तद् गुणों का विशेष लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि १. लघुत्वादि धर्म से अनेक सत्व व्यक्तियों में साधर्म्य है। इसी तरह २. चलत्वादि धर्म से अनेक रजो व्यक्तियों का साधर्म्य हैं और ३. गुरूत्वादि धर्म से अनेक तमो व्यक्तियों का साधर्म्य है। ये सत्वादि व्यक्ति उत्कटसत्व, मध्यसत्व और निकृष्टसत्व हो सकते हैं। इसी तरह अन्य गुणों में भी जानना चाहिए। इस बात को सांख्य प्रवचन भाष्य में इस प्रकार कहा है "लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्" अर्थात् लघुत्वादि धर्म सभी सत्वव्यक्तियों का साधर्म्यं है, तथा रजोगुण और तमोगुण से वैधर्म्य है। लघुत्व व प्रकाशकत्व सत्वगुण का लक्षण है। किसी वस्तु के उपर जाने में उसका लघुत्व ही कारण है क्योंकि गुरू (भारी) वस्तु का तो अधोगमन ही सिद्ध है। जैसा कि न्याय दर्शन में भी कहा है—**आद्यपतनासमवायि कारणं गुरुत्वम्**—आजकल जिसे लोग पाश्चत्य विद्वान् न्यूटन का देन मानते हैं पर भारत के मनीषी इस गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त को हजारों वर्ष पहिले ही लिख चुके थे। प्रकृत में

यही कहना है कि सत्व गुण लघु धर्म वाला है, और लघु (हलकी) वस्तु जैसे अग्नि इत्यादियों का उपर जाना ही प्रसिद्ध है। गीता का यह श्लोक भी इसमें प्रमाण है—"**उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था**" इत्यादि। प्रेरकत्व व चलत्व रजोगुण का लक्षण है। रजोगुण चञ्चल होने के कारण तीनों गुणों का सञ्चालन करता हुआ कभी कभी तमोगुण से रोका भी जाता है। गुरुत्व व आवरकत्व धर्म वाला तमोगुण है अर्थात्—तत्तत् इन्द्रिय व्यापार की निवृत्ति द्वारा तत्तत् कार्य की प्रतिवन्धकता का रहना ही तमोगुण का लक्षण है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध इन गुणों में प्रदीप की तरह एक कार्यकारिता है। जैसे—प्रदीप में तेल, अग्नि, वर्त्ति, परस्पर विरुद्ध होते हुए भी पदार्थ-दर्शन रूपी एक कार्य करते हैं इसी तरह ये गुण भी। अथवा बात पित्त, कफ, परस्पर विरोधी होते हुए भी जैसे देहधारण रूप एक कार्य को करते हैं तद्वत् ये गुण भी परस्पर विरोध छोड़ कर भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के लिए एक साथ मिलकर कार्य करते हैं ॥१३॥

अत्राह—अयमन्तरः प्रश्नो हि। यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तम्"—तत्कथमेवं ज्ञायतेऽव्यक्तमपि त्रिगुणत्वादियुक्तम्। अत्रोच्यते—

अविवेक्यादिः सिद्धः[1] त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

सङ्गति—इस बीच में एक प्रश्न यह होता है, कि जो पूर्व कारिका में "त्रिगुणमविवेकि विषय" इत्यादि व्यक्त के विषय में कहा है तब यह कैसे समझें कि अव्यक्त भी त्रिगुणत्वादि धर्म वाला ही होगा? इसके उत्तर में कहते हैं—

त्रिगुणात्मक होने के कारण अव्यक्त (प्रधान) के अविवेकत्वादि गुणों की सिद्धि हो जाती है। जहाँ अविवेकित्वादि धर्मों का अभाव है वहाँ त्रैगुण्य का भी अभाव है जैसे आत्मा। कार्य सदा कारणगुणात्मक देखा जाता है, इसीलिए त्रिगुणात्मक अव्यक्त के सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं ॥१४॥

मा० वृत्ति—योऽयमविवेक्यादिर्गुणः प्रसवधर्मान्तः स व्यक्तेऽपि सिद्धः। कथं गम्यते, त्रैगुण्यात्। यस्त्रिगुणं तदविविक्तम्, यत् अविविक्तं तद्विषयं, यद्विषयं तत्सामान्यं, यत्सामान्यं तदचेतनम्, यदचेतनं, तत् प्रसवधर्मि। तस्माद-

विवेक्यादिगुणस्त्रैगुण्यादेव सिद्धः। तद्विपर्ययाभावात् (तस्य अविवेकित्वादेर्विपर्ययो विवेकित्वादिकम्, तस्य अभावात्। एतदेव दर्शयति यत्र तन्तव इत्यादिना।) इह हि यत्र तन्तव स्तत्रैव पटः, यत्र पटस्तत्रैव तन्तवः। यस्तन्तन् पश्यति स पटं पश्यति, यो वा पटं पश्यति स तन्तून् पश्यति। एवमेव तन्तुपटयोरिव व्यक्ताव्यक्तयोः सम्बन्धः। दूरे हि प्रधानं सन्निकृष्टे व्यक्तम्। यो हि व्यक्तं पश्यति स चाव्यक्तमपि पश्यति। यो वा योगी प्रधानं पश्यति स व्यक्तमपि पश्यति। तस्याद्विपर्ययाभावादविवेक्यादिगणेन सिद्धमव्यक्तम्। इतश्च सिद्धम् कारण गुणात्मकत्वात्कार्यस्याऽव्यक्तमपि सिद्धम्। कारणस्य गुणाः कारणगुणास्ते आत्मा स्वभावो यस्य तद्भावः कारणगुणात्मकत्वम्। आत्मशब्दः स्वभावे वर्तते कारणगुणस्वभावत्वात् कार्यस्य। इह लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकमेव कार्यमपि भवति कारणानुगतत्वात् कार्यस्य। यथा कटुनिम्बवृक्षात् कटुरेव रसो भवति, मधुराच्च मधुरो द्राक्षादि रसः, तस्मादविवेक्यादिगणेन सिद्धमव्यक्तम्। तत्र यदुक्तं भवता तत् कथमेवं ज्ञायते अव्यक्तमविवेक्यादिगणेन युक्तमिति तदेवमेव त्रिभिर्हेतुभिः प्रतिपादितम् अत्राह—इह लोके यन्न विद्यते तन्नास्ति यथा द्वितीय मनीश्वर शिरः, तृतीयः पाणिः, शशविषाणं, वन्ध्यापुत्रिकाभ्रू विलासादयो वा। नैव तावत् प्रधानपुरुषावुपलभ्येते, तौ कथं हि स्त इति गम्यते। हिमवत उपलगणपरिमाणं नोपलभ्यते किं तन्नास्ति। एवं प्रधानपुरुषावनुपलभ्यमानावप्युपलभ्येते हेतुभिः। तांश्च हेतूनुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥१४॥

अनुवादः—जो यह अविवेक्यादि गुण प्रसवधर्मान्त है वह जैसे व्यक्त में है वैसे ही अव्यक्त में भी सिद्ध है। क्योंकि त्रिगुणात्मक होने से। जो अविविक्त होगा, वह विषय होगा, जो विषय होगा वह सामान्य होगा, और जो सामान्य होगा वह अचेतन होगा, जो अचेतन होगा वह प्रसवधर्मा होगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि त्रिगुणात्मक होने से अव्यक्त भी अविवेकी हैं। दूसरा भी हेतु है—तद्विपर्ययाभावात्। उस अविवेक्यादि का विपर्यय (अभाव) विवेक्यादि, उसका अभाव होने से भी। इस संसार में जहाँ तन्तु रहेंगे वहीं पट भी होगा, और जहाँ पट रहेगा वहीं तन्तु भी। जो तन्तु को देखता है, वह पट को भी देखता है और जो पट को देखता है वह तन्तु को भी देखता है। इसी तन्तु पट की तरह व्यक्त तथा अव्यक्त का भी सम्बन्ध है। प्रधान दूर है और अव्यक्त सन्निकृष्ट है। जो व्यक्त को देखता है वह अव्यक्त को भी देखता है अथवा जो योगी प्रधान को देखता है वह व्यक्त

को भी देखता है। इसलिए जैसा कि अविवेकित्वादि का विपर्यय विवेकित्वादि-(आत्मा में हैं) उसका अभाव होने से अव्यक्त की सिद्धि हो जाती है। एक और भी हेतु है कि कार्य कारणगुणात्मक होने से भी अव्यक्त की सिद्धि हो जाती है। समास दिखलाते हुए कहते है कि कारण गुणों का जैसा स्वभाव जिसका है, उसके भाव को कारणात्मक कहेंगे। यहाँ आत्मशब्द स्वभाववाची है। अर्थात्—कारणों का स्वभाव कार्य में आ जाता है। लोक में भी देखा जाता है कि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य भी होता है, कार्य के कारणानुगत होने से। जैसे कटुनिम्बवृक्ष से कटु ही रस होता है, मधुर से मधुर ही, जैसे द्राक्षारस। इस तरह अविवेक्यादि गण से अव्यक्त के भी अविवेकादि की सिद्धि हो जाती है। जो पहिले प्रश्न किया था कि अव्यक्त अविवेकित्वादिगण से युक्त है, इसको कैसे जाना जाय इत्यादि—इसको हमने तीन हेतुओं से समझा दिया।

इस प्रसंग में किसी का कहना है कि जगत् में जो चीज नहीं दिखाई देती है, वह नहीं है, जैसे द्वितीय मनीश्वर शिर, तृतीय हाथ, शशश्रृङ्ग, बन्ध्यापुत्री के भ्रू विलासादि। इसी तरह प्रधान व पुरुष भी नहीं दिखाई देते हैं, उन दोनों की सत्ता है इस बात को हम कैसे मानें? उत्तर देते हैं—यदि हिमालय पर्वत में वर्फ से ढके रहने के कारण प्रस्तर गण न उपलब्ध हो सके तो क्या यह कहना उचित है कि वह है ही नहीं? इसीतरह प्रधान व पुरुष की प्रत्यक्षतः उपलब्धि न होने पर भी हेतु द्वारा उपलब्धि हो जाती है। उन हेतुओं को आगे बतायेंगे ॥१४॥

प्रबोधिनी

पदार्थ मात्र की त्रिगुणात्मकता सिद्ध करके, अब त्रिगुणात्मक हेतु के द्वारा प्रधानादियों का अविवेकित्वादि धर्म सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत कारिका का अवतरण करते हैं कि त्रिगुणात्मक होने से महत्तत्वादि की तरह अव्यक्त भी अविवेकित्वादि धर्म वाले है जहाँ अविवेकित्वादि धर्मों का अभाव है, वहां गुणत्रय का भी अभाव हैं। जैसे—आत्मा। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान से प्रधान एवं महत्तत्वादिकों में अविवेकित्वादि धर्मों की सिद्धि होती है। वृत्तिकार ने वृत्ति में तन्तु-पट के दृष्टान्त से इसी बात को समझाया है। यहाँ सांख्यदर्शन के अनुसार कार्यकारण में तादात्म्य मानकर ही प्रसङ्गसङ्गति बन सकती है। अन्यथा ता पट के

अतिरिक्त प्रदेश में भी तन्तुओं का सम्भव है या न्यायदर्शन की तरह पट के प्रागभावावस्था में तो केवल तन्तुओं की स्थिति भी रहेगी ही। अतः कार्य-कारण में अभेद मानकर अनुभूयमान व्यक्त-कार्य के धर्मों को देखकर अव्यक्त कारण में भी उनकी सिद्धि हो जाती हैं। एक बात यहां विचारणीय है कि इन धर्मों की सिद्धि तो तब हो सकती है, जब कि अव्यक्त धर्मी की सिद्धि हो जाय। क्योंकि बिना धर्मी के धर्मों की सत्ता कहीं भी नहीं देखी गई है और न उसमें विवाद ही देखा गया है, क्योंकि विप्रतिपत्ति का विषय कोई असत् (खपुष्प कल्प) पदार्थ नहीं होता। जैसे—धर्मी शब्दादि की सत्ता में ही नित्यत्वानित्यत्व धर्मों का विचार होता है। इसी तरह जब यहां धर्मी अव्यक्त ही सिद्ध नहीं हुआ तो फिर उसमें आधारित धर्मों की कल्पना करना व्यर्थ ही है। इसके उतर में कहते हैं कि—यद्यपि अव्यक्त की सिद्धि प्रत्यक्षतः नहीं हो सकती, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है और इस बात को पहिले भी कह चुके हैं कि प्रधान की प्रत्यक्षता में उसकी सूक्ष्मता ही बाधक है परन्तु कार्य को देखकर उसके कारण का अनुमान कर लिया जाता है कि सुखदुःखमोहधर्मक महदादि निश्चय ही सुखदुःखमोहधर्मक कारणजन्य होंगे, क्योंकि ये सुखदुःखमोहात्मक कार्य हैं, जैसे—इतर भोग्य पदार्थ। ऐसा सुखदुःखमोहधर्मक कारण प्रधान ही हो सकता है। इस तरह अव्यक्त (प्रधान) की भी सिद्धि हो जाती है।

एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने की यह है कि यहाँ जो कारण शब्द का प्रयोग किया है उसका अभिप्राय कारणसामान्य से नहीं, अपितु उपादान (समवायि) कारण से है क्योंकि उपादान कारण के ही गुण कार्य में देखे जाते हैं और वही कार्य में वर्तमान भी रहते हैं न कि निमित्तकारण या असमवायि कारण के॥१४॥

त उच्यन्ते—

भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागात्, अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५॥

उन प्रधान के साधक हेतुओं को ही इस कारिका में बतलाते हैं कि महदादि कार्यों का कारण अव्यक्त (प्रधान) है कार्यकारण में विभाग होने से। जैसे घट कार्य का कारण मृत्पिण्ड में विभाग है। इसी तरह अव्यक्त कारण तथा महदादि कार्य में भी विभाग है और विश्वरूप (सम्पूर्ण जगत्) के संहारकाल में अपने कारण (अव्यक्त) में लीन होने से भी (ये कार्य महदादि जहाँ विलीन होते हैं वह अव्यक्त ही है।) कारण

शक्ति के अनुसार कार्य की प्रवृत्ति होने से, कार्यों के परिमित होने से भी और अनेक सुखदुःखादिक कार्य का समन्वय होने से भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका कारण भी सुखदुःखमोहधर्मक ही होगा—ऐसा सुख-दुःखमोहधर्मक कारण अव्यक्त ही है ।।१५।।

मा० वृत्ति—अस्ति प्रधानम् । कुतः, भेदानां परिमाणात् । लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टम् यथा कुलालः परिमितात् मृत्पिण्डात् परिमितमेव घटं कुरुते प्रस्थग्राहकमाठकग्राहकं वा । एवं व्यक्तं परिमितम् । एका बुद्धि-रेकोऽहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि इति त्रयोविंशतिकम् । एवमेतद् परिमितं व्यक्तं दृष्ट्वाऽनुमानेन साधयायोऽस्त्यस्य कारणं प्रधानं यद् व्यक्तं परिमितमुत्पादयति । यदि च प्रधानं कारणं न स्यान्निष्परिमाणमिदं व्यक्तं स्यात् । अस्ति चास्य परिमाणं तस्मादस्ति प्रधानम् । इतश्चास्ति समन्वयदर्शनात् । कस्य समन्वयात् भेदानामेव । अस्मा-देव कारणात् शकलकपालमात्रसमस्तसमन्वयः भूषणादीन् दृष्ट्वा तत्त्वेन दर्शयति । सामान्य—प्रकरणाल्लोकभेदानामेकैकजातिसमन्वयो दृष्टः । तेषां धर्मोऽन्वयः तस्मात्समन्वयदर्शनात् पश्यामोऽस्ति प्रधानं कारणमिति । इतश्चास्ति—शक्तितः प्रवृत्तेश्च । इह यो यस्मिन्नर्थे शक्तः स तस्मिन्नेव प्रवर्तते । तद्यथा कुम्भकारो घटघटिकाशरावोदञ्चनादिकरणे शक्तः । अतः साधयामः प्रधानस्याप्यस्ति शक्तिर्यथा शक्त्या व्यक्तमुत्पादयति । सा च शक्ति निराश्रया न भवति तस्मादस्ति प्रधानं यत्र शक्तिरवतिष्ठते । इतश्चास्ति—कारणकार्यविभागात् । करोतीति कारणम्, क्रियत इति कार्यं तयोर्विभागस्तस्मात् । तद्यथा मृत्पिण्डः कारणं घटः कार्यम् । स एव हि मधूदकपयःप्रभृतीनां धारणे समर्थो न तु मृत्पिण्डः एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्विभागः । अन्यत् व्यक्तं महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतपर्यन्तम्, तच्च कार्यम् । अन्यच्च अव्यक्तं प्रधानं विपरीतं कारणमिति । तस्मादस्ति प्रधानम् । इतश्चास्ति—अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य । न विभागोऽविभागः विश्वरूपस्य भावे वैश्वरूप्यम् बहुरूपमित्यर्थः तस्य त्रैलोक्यं पञ्चसु महाभूतेष्वविभागं गच्छति । पञ्च-महाभूतानि तन्मात्रेष्वविभागं गच्छन्ति । पञ्चतन्मात्राणि एकादेशन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, सा च प्रधाने । इत्थं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रधानेऽविभक्ताः । प्रकर्षेण धीयते स्थाप्यते अत्राखिलमिति प्रधानम् । ततो हि सृष्टौ सदेवाविर्भवति । न ह्यसत उत्पत्ति, न च सतोऽभावः ।

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इति गीतासु । "सदेव सोम्येदमग्र आसीद्" इति श्रुतेश्च । तद्यथा—दध्यादयः प्राक् प्रसूतेः क्षीरेऽवि-

भक्ताः सन्त्येव। यद्यसत उत्पत्तिस्तदा काष्ठखण्डादपि घटाद्युत्पत्तिः स्याद् यतो न भवति, तस्मान्मृत्पिण्डे कारणे घटादेः सतएवोत्पत्तिरिति समीचीनम्। यथा जलभूम्योरेतद्रसगन्धादिवैश्वरूप्यमविभक्तमस्त्येव स्थावराणां जङ्गमानां स्थावरेषु। एवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति ॥१५॥

अनुवाद— अब प्रतिज्ञा करते हैं कि प्रधान है। क्योंकि कार्यों का परिमाण देखा जाता है। लोक में जिसका कर्त्ता है उसका परिमाण भी देखा गया है जैसे कुलाल परिमित मिट्टी के पिण्ड से परिमित घट को ही बनाता है प्रस्थपरिमित अथवा आटकपरिमित। इसी तरह व्यक्त भी परिमित है— एक बुद्धि, एक अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रायें, एकादशइन्द्रियां, और पञ्च महाभूत ये तेईस तत्व। इस प्रकार परिमित व्यक्त को देखकर अनुमान किया जाता है कि इसका ऐसा ही कारण प्रधान हैं जो परिमित व्यक्त को उत्पन्न करता है। यदि प्रधान (अव्यक्त) कारण न होता तो यह व्यक्त भी निष्परिमाण ही होता। परिमाणयुक्त व्यक्त के होने से यह सिद्ध होता है कि इसका कारण प्रधान है। समन्वय देखने से भी मालूम पड़ता है कि प्रधान हैं क्योंकि कार्यों में भी परस्पर समन्वय देखा गया है। यही कारण है कि कपालिका (लघुखण्ड) और कपाल आदि का समस्त घट में समन्वय देखा गया है। परस्पर आभूषणों का भी समन्वय देखा जाता है। इस सामान्य प्रकरण से यह स्पष्ट है कि लोक से प्रत्येक कार्यों की निजी जातिगत समानधर्मता है। इस प्रकार उन कार्यों में समानधर्म (समन्वय) (त्रिगुणादि) देखने से मालूम पड़ता है कि इसका कारण प्रधान ही होगा। और भी— शक्तितः प्रवृत्ति होने से भी— क्योंकि जो जिस कार्य में समर्थ होता है, वह उसी कार्य में प्रवृत्त होता है जैसे— कुम्भकार, घट, शकोरा, दीपकादि के बनाने में समर्थ है। इसी तरह यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रधान की भी अपनी ऐसी शक्ति है, जिससे वह व्यक्त को उत्पन्न करता है। शक्ति निराश्रय नहीं होती, फलतः वह शक्ति जहाँ रहती है वही प्रधान है। और कारण में विभाग होने से भी (प्रधान की सिद्धि होती है)। कार्य के सम्पादन करने वाले को कारण कहते हैं और जिसका सम्पादन किया जाता है उसे कार्य कहते हैं जैसे मृत्पिण्ड कारण है, और घट कार्य है। परस्पर विभाग इस प्रकार है कि—घट ही मधु, जल, व दूध के धारण करने में समर्थ है, न कि मृत्पिण्ड। इसी तरह व्यक्त व अव्यक्त का विभाग है। व्यक्त—महत्, अहङ्कार, तन्मात्रा, इन्द्रियां, पञ्चमहाभूत पर्यन्त कहा जाता है और वह कार्य है। इसके विपरीत प्रधान (अव्यक्त) कारण है। इस तरह प्रधान की सत्ता सिद्ध है। विश्वरूप का प्रधान में अविभाग (लय) होने से भी

(प्रधान की सत्ता सिद्ध होती है)। अविभाग पद में नञ् समास है। अविभाग का अर्थ है अविभक्त, विश्वरूप के भाव को वैश्वरूप्य कहते हैं अर्थात् बहुरूप, (अखिल ब्रह्माण्ड) उसी विश्वरूप का लय पञ्चमहाभूतों में होता है और पञ्चमहाभूतों का पञ्चतन्मात्राओं में, और तन्मात्राओं व एकादश-इन्द्रियों का अहकार में, अहंकार का बुद्धि में और बुद्धि का प्रधान में लय होता है। इस प्रकार तीनों लोक प्रलय काल में प्रधान में अविभक्त रहते हैं। सम्यक्रूप से सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों की जहाँ स्थिति हो, उसे प्रधान कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टिकाल में भी पूर्व सत् (जगत्) की ही अभिव्यक्ति होती है।

असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का अभाव नहीं होता। गीता में भी कहा है कि असत् पदार्थ की सत्ता नहीं होती और सत् पदार्थ का अभाव नहीं होता। श्रुति भी कहती है—हे सोम्य, यह जगत् सृष्टि के पूर्व भी सत् रूप ही था। वह इस प्रकार है, जैसे—दही इत्यादि उत्पत्ति से पहिले दूध में अविभक्त रहते हैं। यदि असत् की उत्पत्ति होती, तब तो काष्ठखण्ड से भी घड़े की उत्पत्ति हो जानी चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध है कि मिट्टी रूप कारण में पूर्व विद्यमान घट का ही आविर्भाव होता है, यही ठीक भी है। जैसे—जल व भूमि में रस व गन्धादि अविभाग रूप से हैं उसी तरह स्थावर व जङ्गमों में भी परस्पर अविभाग है। अतः जात्यनुच्छेद से भी सभी वस्तु सर्वात्मक होती है ॥१५॥

प्रबोधिनी

अनुमान से सिद्ध होने पर भी अव्यक्त का प्रत्यक्ष नहीं, होता अतः उसे क्यों माना जाय ? इस आशङ्का पर उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार पाषाण में गन्ध होने पर भी उत्कट गन्ध के न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी प्रकार सूक्ष्म होने के कारण प्रधान का प्रत्यक्ष नहीं हौता, किन्तु व्यक्त का कारण वह अवश्य हैं। यह बात पाँच हेतुओं से सिद्ध की जा सकती है। संसार के सभी कार्य अपने उपादान कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान रहते हैं, सृष्टिकाल में उससे बाहर निकलते हैं और प्रलयकाल में उसी अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार कारण और कार्य के विभाग और अविभाग से यह सिद्ध होता है कि महत्तत्व से पृथिवी पर्यन्त कार्यों का जिस मूल कारण से आविर्भाव और जिसमें तिरोभाव होता है, वह मूल कारण अव्यक्त ही प्रधान है। और भी— घट को उत्पन्न करने की

शक्ति मिट्टी में ही है न कि तन्तुओं में, इसी तरह समस्त व्यक्त को उत्पन्न करने की शक्ति का जो आधार है वही प्रधान है। महदादि कार्य परिमित हैं अर्थात् सभी परिणामी पदार्थों में व्याप्त नहीं है, कार्य होने से। कार्य से कारण व्याप्त नहीं होता, अपितु कारण से ही कार्य व्याप्त होता है। अतः महदादि कार्यों का कोई व्यापक कारण होना चाहिए, ऐसा जो कारण है वही अव्यक्त है। इसके अतिरिक्त और किसी को कारण मानने में अव्यवस्था होती है और प्रत्येक कार्य में समन्वय देखने से भी अव्यक्त की सिद्धि हो जाती है। भिन्न भिन्न पदार्थों की किसी धर्म से समानरूपता को समन्वय कहते हैं। जैसे—बुद्ध्यादि तत्वों में सुखदुःखमोह रूप से समन्वय है। अतः ये सब किसी सुखदुःखमोहधर्मक पदार्थ से ही समुत्पन्न हैं। ऐसा सुखदुःखमोहधर्मक पदार्थ प्रधान ही है। जैसे—कङ्कण केयूर इत्यादि सोने के आभूषण परस्पर भिन्न होने पर भी सुवर्ण पिण्ड से अनुगत हैं, इसी तरह ये महदादि कार्य भी भिन्न भिन्न वृत्ति वाले होने पर भी सुखदुःखमोहात्मक धर्म से अनुगत हैं अतः सुखदुःखमोह धर्म वाला त्रिगुणात्मक प्रधान ही है ॥१५॥

अस्ति प्रधानं यत्र महदादिलिङ्गमविभागं गच्छति, इत्येवमवश्यम्भावी अविभागः पश्चाद्विभागश्चाविर्भवति तत्प्रधानम्। अत्रोच्यते—

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्॥ १६॥

सङ्गति—वह प्रधान है जहाँ ये महदादिलिङ्ग विलीन होते हैं। इस तरह अवश्यम्भावी अविभाग है और पश्चात् जहाँ से अभिव्यक्त होते हैं वह प्रधान ही है। अब इसी पर विचार करते हैं कि पूर्वोक्त हेतुओं से सिद्ध अव्यक्त कारण है। वह परस्पर सम्मिलित तीन गुणों से प्रवृत्त होता है और जल की तरह तत्तत् गुणों के आश्रय विशेष से विभिन्न रूप में परिणत होता है ॥१६॥

मा० वृत्ति—कारणमस्त्यव्यक्तमिति, तदेवं पञ्चभिर्हेतुभिर्ज्ञायते अस्ति तत्कारणमेकमस्य जगतोऽव्यक्तं मूलमिति। अत्राह— यद्येकं प्रधानं कथं तर्हि अनेकं कार्यमुत्पादयति। तथा हि नैकस्तन्तुः पटाख्यं कार्यं जनयति। इत्थं प्रधानमेकमनेकं कार्यं जनयतीति न जाघटीति। अत्र समाधीयते—प्रवर्तते त्रिगुणतः। प्रधाने हि सत्वरजस्तमसामवस्थानात् बहुत्वसम्भवः। तस्मात्त्रिगुणतः प्रवर्तते त्रिधा व्यवहारः। समुदयाच्च, यथा गङ्गायां स्रोतांसि समुदितानि गङ्गामारभन्ते, यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं कुर्वन्ति एवं सत्वरजस्तमांसि

त्रयो गुणाः समुदिताः प्रधानस्थाव्यक्तं कुर्वन्ति। अत्राह—इह लोके द्विविधं कारणं परिणामकत्वादपरिणामकत्वाच्च। तत्रापरिणामकत्वात् मृत्पिण्डदण्ड-सूत्रोदकविदलान् पश्यामः, परिणामतश्च क्षीरं दधीति। तत्र प्रधानं कथं कारणमित्यत्रोच्यते—परिणामतः। यथा क्षीरं दधिभावेन परिणमति, यदेव क्षीरं तदेव दधि। एवं प्रधानं व्यक्तभावेन परिणमति, दधिवत् व्यक्तं क्षीरवत् प्रधानमित्यर्थः। यदेवाव्यक्तं तदेव व्यक्तमिति। तस्मादुच्यते—परिणामतः प्रधानं कारणमिति। अत्राह को दृष्टान्तः? तदुच्यते—सलिलवत्। यथा सलिलमेकं हिमवत् हिमभावेन परिणमति, यथा च इक्षुरसोरसिकाखण्ड-मत्सरिकाशर्कराफाणितगुडभावेन परिणमति, यथा वा क्षीरं द्रप्स्यदधिमस्तु-नवनीतघृतारिष्टाकिलाटकूर्चिकादिभावेन परिणमति। एवमेवाव्यक्तम्, आध्यात्मिकेन बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतभावेन परिणमति, आधिदैविकेन शीतोष्णवातवर्षादिभावेन परिणमति। अत्राह—एकस्मात् प्रधानात् उत्पन्ना-स्त्रयो लोकाः कथं विषमाः। इह ये देवास्ते सुखिनो मनुष्यास्ते दुःखिनस्तिर्यञ्चो मूढाः। एकस्मात् प्रधानादुत्पन्नानां त्रयाणां लोकानां कथं वैषम्यमूढत्वादि-नेत्यत्रोच्यते—प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्। तद्यथा एकरसमन्तरिक्षात् जलं पतितम्, तच्च मेदिनीं प्राप्य नानारसतां याति पृथग्भाजनविशेषात्। एवमिमे त्रयो लोका एकस्मादपि प्रधानादुत्पन्ना गुणवैषम्यात् पृथग्भावं गताः। यथा देवेषु सत्वमुत्कटं ततस्ते सुखिनः, तत्रापि रजस्तमसी गौणतया स्तः। मनुष्येषु रज उत्कटं ततस्ते दुखिताः, तेष्वपि सत्वतमसी स्तः। तिर्यग्योनिगतेषु तम उत्कटं ततस्ते मूढाः, तेष्वपि सत्वरजसी स्तः। एवमेकस्यादुत्पन्नानां त्रयाणां लोकानां वैषम्यं भवति ॥१६॥

अनुवाद—इस प्रकार पांच हेतुओं से मालूम पड़ता है कि इस जगत् का मूल रूप में एक कारण है जिसका नाम प्रधान है। इस पर फिर आशंका करते हैं कि यदि प्रधान एक है तो वह अनेक कार्यों को कैसे उत्पन्न करता है क्योंकि यह देखा जाता है कि अकेला सूत पटरूपी कार्य को नहीं उत्पन्न करता है इसी तरह एक प्रधान अनेक कार्यों को उत्पन्न करता है, यह संगत नहीं मालूम पड़ता। इस पर समाधान करते हैं कि तीनों गुणों से प्रधान की प्रवृत्ति होती है। क्योंकि प्रधान में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की अवस्थिति होने से उसमें बहुत्व कार्योत्पादन सम्भव है, इसीलिए इन तीनों गुणों से तीनों तरह का प्रधान का व्यवहार है। और समुदाय होने से भी, जैसे—गङ्गाजी में बहुत से स्रोत मिलकर गङ्गा को सम्पन्न करते हैं, इसी तरह प्रधान में विद्यमान सत्वरजस्तमोगुण भी मिलकर

व्यक्त को उत्पन्न करते हैं। लोक में दो प्रकार का ही कारण देखा जाता है—परिणामी, तथा अपरिणामी। इसमें अपरिणामी कारण मृत्पिण्ड, दण्ड, सूत्र, उदक, कपाल इत्यादि हैं, और परिणामी कारण है—क्षीर जैसे दधि रूप में परिणत होता है। दही की तरह व्यक्त है, और दूध की तरह प्रधान है, जो अव्यक्त है वही व्यक्त है, एतस्मात् यह कहा जा सकता है कि प्रधान परिणाम कारण है, इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जल की तरह। जैसे एक ही जल हिम व करका रूप में परिणत होता है। जैसे एक ही इक्षुरस रस, राव, चीनी, बूरा, गुड़ आदि रूप में परिणत होता है। अथवा जैसे—एक ही दूध मट्ठा, मक्खन, घी, मलाई इत्यादि रूप से परिणत होता है, इसी तरह अव्यक्त (प्रधान) भी आध्यात्मिक रूप से महत्त्व से भूत पर्यन्त, और आधिदैविक रूप से शीत, उष्ण व ताप, वर्षा आदि भाव से परिणत होता है। फिर आशंका करते हैं कि एक प्रधान से उत्पन्न हुए तीनों लोकों में विषमता क्यों है ? देवता सुखी हैं, मनुष्य दुःखी हैं, पशु पक्षी मूढ़ हैं, इस तरह एक प्रधान से उत्पन्न हुए तीनों लोकों में मूढ़त्वादि भेद से विषमता क्यों है, इस पर उत्तर देते हैं कि यह सब विषमता तत्तद् गुणों के आधार विशेष से हैं। जैसे—आकाश से गिरा एक ही जल पृथिवी में आकर अनेक रास्तों को धारण करता है, इसी तरह तत्तत् पात्र विशेष से। इसी तरह ये तीनों लोक भी एक प्रधान से उत्पन्न होने पर भी विभिन्न गुणों के आश्रय से विभिन्न भाव को प्राप्त हुए। जैसे देवताओं में सत्व गुण के उत्कट होने से वे सुखी हैं। परन्तु रजोगुण व तमोगुण वहाँ गौण रूप से हैं, मनुष्यों में रजोगुण के उत्कट होने से वे दुःखी हैं, उनमें भी सत्व और तम गौणरूप से हैं। तिर्यक योनियों में तमोगुण के उत्कट होने से वे मूढ हैं। पर वहाँ भी सत्व और रज गौणरूप से हैं ही। इस तरह एक प्रधान से उत्पन्न हुए तीनों लोकों में वैषम्य है ॥१६॥

प्रबोधिनी

पूर्वोक्त हेतुओं के द्वारा अव्यक्त को सिद्ध करके अब अव्यक्त प्रवृत्तिक्रम का व्याख्यान करते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति दो प्रकार से है, प्रलयकालीना और सर्गकालीना। प्रलयकाल में गुणों का सदृश परिणाम होता है, साथ ही साथ वहाँ गुणप्रधानभाव भी नहीं रहता। यह एक प्रकार से गुणों की

साम्यावस्था है। इसको स्थिति काल भी कहते हैं। सर्गकालीन प्रवृत्ति में गुणों का विसदृश परिणाम होता है, साथ ही साथ इसमें गुणप्रधान भाव भी रहता है। इसको गतिकाल भी कहते हैं। यद्यपि प्रलय काल में गुणों का विषम परिणाम नहीं होता, किन्तु प्रलयावस्था में भी सतोगुण का सत्वरूप से, रजोगुण का रजोरूप से, और तमोगुणों का तमोरूप से सदृश परिणाम होता ही है अर्थात् प्रलय के समय भी जो गुण जिस स्वरूप में रहता है, उसमें उसी प्रकार का परिणाम होता ही रहता है। इसी अभिप्राय से कारिका में भी कहा है कि "प्रवर्तते त्रिगुणतः इत्यादि, अब सृष्टिकालीन प्रवृत्ति का वर्णन करते हैं, जैसा कि माठर वृत्ति में गङ्गा तथा तन्तु के दृष्टान्त से समझाया है कि ये गुण सम्मिलित होके ही महदादि कार्य के रूप में परिणत होते हैं, जिसमें परस्पर गुण प्रधानभाव भी रहता है, जो कि विषम परिणाम के बिना सम्भव नहीं है। इसी विषम परिणाम का यह फल है कि संसार में विविध पदार्थ देखने में आते हैं। और एक रूप प्रधान से अनेक प्रकार की सृष्टि होने में भी कारण तत्तद् गुणों का आधार विशेष ही है। जैसे आकाश से गिरा हुआ वर्षा का जल आम, नींबू, आँवले आश्रयों आदि के भेद से मीठा, खट्टा आदि अनेक रस वाला हो जाता है। इसी तरह तत्तद् गुणों के आश्रय विशेष से सृष्टि में भी विभिन्न रूप से परिणाम होते हैं। यही सांख्य दर्शन का परिणामवाद है।

"परिणामवाद तथा विवर्तवाद"

सृष्टि के विषय में दो प्रकार के मत हैं। सांख्यदर्शन का मत "परिणाम-वाद" कहलाता है और शाङ्कर वेदान्त का मत "विवर्तवाद" कहलाता है। जैसे दूध से दही बनता है, इसी अब्र दही को दूध का परिणाम कहा जाता है। पहिले दूध रूप में प्रतीति होती थी, उसके स्थान पर दही की प्रतीति हो रही है। यहाँ न केवल प्रतीति में हो भेद है, अपितु दूध के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया है। इसीलिए इस प्रतीति को "तात्विक अन्यथा प्रतीति भी कहते हैं, और इसी को "विकार' अथवा "परिणाम" भी कहते हैं। सायण के शब्दों में इसे इस तरह कह सकते हैं। '**पूर्वरूप परित्यागे सति नानाकार प्रतिभासः परिणामः**"।

इसके विपरीत रस्सी में सर्प की प्रतीति "अतात्विक अन्यथा प्रभाव" हैं। उसमें रज्जु बदलकर सर्प नहीं बन गई। रस्सी ज्यों की त्यों रस्सी ही है'

पर उसमें प्रतीति सर्प की होने लगी है। इसको "अतात्विक अन्यथा प्रतीति" या "विवर्त" कहते हैं। सायण ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है। पूर्वरूपापरित्यागेन असत्यनानाकार प्रतिभासो विवर्तः। संक्षेप में परिणाम और विवर्त का लक्षण इस श्लोक में इस प्रकार दिया है—

सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

अर्थात्—जहाँ तत्वपरिवर्तन सहित अन्यथा प्रतीति होती है उसको विकार अथवा परिणाम कहते हैं, जैसे—दही दूध का विकार है। और तत्वपरिवर्तन बिना होने वाली अन्यथा प्रतीति को विवर्त कहते हैं। जैसे-सर्प रज्जु का विवर्त है।

सांख्यदर्शन परिणामवाद का प्रतिपादन करता है। उसके मत में यह जगत् प्रकृति का परिणाम है, और शाङ्कर वेदान्त विवर्तवाद का संस्थापक है, उसके मत में जगत् ब्रह्म का विवर्त है॥१६॥

एवं द्वाभ्याभार्याभ्यां प्रधानस्याधिगमः कृतः। अत ऊर्ध्वं पुरुषस्याधिगमं करिष्यामः। अत्राह—केचिदाचार्या इति मन्यन्ते शरीरेन्द्रियबुद्ध्यादि व्यतिरिक्तो नास्ति परमात्मा। अपि च—एतावानेव पुरुषो यावदिन्द्रियगोचरः। इति अत्रोच्यते—शरीरेन्द्रियबुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्मा अस्तीति। को दृष्ठान्तः? यथा असिकोशवत्। मुञ्जेषीकावत्। उक्तं च—

मक्षकोदुम्बरेषीकामुञ्जमत्स्याम्भसां यथा।
एकत्वेऽपि पृथग् भावस्तथा क्षेत्रात्मनो नृप॥

एवं शरीरोन्द्रियबुद्ध्यादिभिः क्षीरनीरवदेकीभूतोऽपि तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति परमात्मा पुरुषोऽपि, प्रधानवत् सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यत इति तदधिगमाय हेतुरभिधीयते—

संघातपरार्थत्वात्[1] त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं[2] प्रवृत्तेश्च॥ १७॥

सङ्गति—इस प्रकार दो कारिकाओं से प्रधान की सिद्धि दिखलाई। अब पुरुष की सिद्धि दिखलाते हैं। पुरुष (आत्मा) के विषय में किन्हीं आचार्यों का कहना है कि शरीर इन्द्रिय बुद्धि आदि से पृथक् आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है। कहा भी है कि जो हमारी इन्द्रियों से दिखाई देता

है वही (शरीर) पुरुष है। इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। इस पर उत्तर देते हैं कि शरीर इन्द्रियबुद्धि आदि से आत्मा पृथक् है। इसमें उदाहरण देते हैं जैसे—तलवार और उसकी म्यान, मुञ्ज और इषीका, कहा भी है—हे राजन्, मशक और उदुम्बर, इषीका और मुञ्ज, मत्स्य और जल के एकाभास होने पर भी जैसे पृथक् भाव है, इसी तरह देह तथा आत्मा का भी पृथक् भाव सिद्ध है। इस प्रकार शरीर इन्द्रिय और बुद्धि आदि से क्षीरनीर की तरह एकीभूत होने पर भी देह से परमात्मा पुरुष भी भिन्न है। प्रधान की ही तरह सूक्ष्म होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, उसी के सिद्धि के लिए निम्न-लिखित हेतु उपस्थित किए जाते हैं—

संघात तत्व (सामग्री समुदाय) अपने से भिन्न के लिए होने से, और तीनों गुणों का अभाव होने से भी, अधिष्ठाता होने से, भोक्ता होने से कैवल्य (आत्मसाक्षात्कार) के लिए लोगों की प्रवृत्ति होने से भी, यह सिद्ध किया जाता है कि देहेन्द्रिय संघात से भिन्न पुरुष (आत्मा) है ॥१७॥

मा० वृत्ति—अस्ति पुरुषः। सङ्घातपरार्थत्वात्। यतः सङ्घातश्च परार्थः, तस्मात् हेतोः, इह लोके ये सङ्घाता स्ते परार्था दृष्टाः पर्यङ्करथ शरणादयः, एवं गात्राणा महदादीनां सङ्घातः समुदायः परार्थ एव। (तस्मादस्ति नून-मन्योन्याधिष्ठितो यदर्थोऽते सङ्घात इति सङ्गतिः)। पर्यङ्करथादयः काष्ठ-सङ्घाताः। गृहादयः काष्ठेष्टकादि सङ्घाताः। न हि ते रथगृहपर्यङ्कादयः किमपि स्वार्थं साधयन्ति। न वा परस्परार्थाः, किं तु अस्ति असौ देवदत्तादि-र्योऽस्मिन् पर्यङ्के शेते रथेन गच्छति गृहे निवसतीति। (चेतसः प्रतीत्या)। एवममी महदहङ्कारादयश्चक्षूरादयो न स्वार्था न च परस्परार्थाः। किं तु परार्थाः। यश्चासौ परः स आत्मा। तस्मादनुमीमहे अस्ति पुरुषः, यस्यार्थे चक्षुरादि सङ्घातः शरीरमुत्पन्नामिति। इतश्चास्ति—त्रिगुणादिविपर्ययात्। त्रयो गुणा यस्य गणस्यादौ सम्भवन्ति स त्रिगुणादिः, त्रिगुणादेर्विपर्ययः। तस्मात्पश्यामोऽस्ति पुरुष इति, उक्तं पूर्वस्यामार्यायाम्, त्रिगुणमविवेकीत्यादि व्यक्तप्रधान साधर्म्यम्। तद्विपरीतस्तथा च पुमान् इति। अगुणविवेक्यविषया-सामान्यचेतनाप्रसवधर्मादि विपर्ययादात्मनोऽस्तित्वं पृथक्त्वं च सिद्धम। अतश्-चास्ति। अधिस्ठानात्। नह्यन्तरेणाधिष्ठातारं भवति वस्तुजातम्। तघथेह लोके लङ्घनलप्वनधावन समर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्तते। अथ सारथिनानधिष्ठितः प्रवर्तते ततः शरीरनाशः स्यात्। न चात्मविनाशाय

प्रवर्तते । अपि चोक्तं षष्ठितन्त्रे—"पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" इति । ततः पश्यामोऽसौ परमात्मा अस्ति पुरुषो येनाधिष्ठितं प्रधानं महदहङ्कार-तन्मात्रेन्द्रियभूतान्युत्पादयति ।

तस्मादस्ति पुरुष इति । इतश्चास्ति—भोक्तृभावात् । इह मधुराम्लतिक्त-लवणकटुकषायाः षट् रसाः । एतैः षड्भी रसैर्युक्तं भोजनं दृष्ट्वा भोक्ता साध्यते । अस्ति भोक्ता यस्येदं भोजनम् । एवमिदं व्यक्ताव्यक्तं दृष्ट्वा साधयावोऽस्त्यसौ परमात्मा पुरुषो यस्येदं भोक्तुर्व्यक्ताव्यक्तं भोग्यमिति । इतश्चास्ति—कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च । केवलभावः कैवल्यं मोक्षं इत्यर्थः । या तस्य प्रधानस्य प्रवृत्तिः सा कैवल्यार्था प्रवृत्तिः । प्रधानस्येति ॥१७॥

अनुवाद—पुरुष (आत्मा) है । संघात के परमार्थ होने से, क्योंकि संघात परमार्थ के लिए होता है । इस संसार में जो भी संघात (सामग्री समुदाय) है, वह परमार्थ के लिए देखा गया है । जैसे पलङ्ग, रथ, घर, इत्यादि । इसी तरह शरीर व महदादियों का भी संघात परमार्थ के लिए ही है । (इसलिए वह पुरुष ही है जिसके लिए यह अन्योन्याधिष्ठित संघात है । इस प्रकार सङ्गति हो जाती है ।) शय्या, रथादि काष्ठसंघात है । और गृहादि काष्ठदृष्टकादि संघात हैं, ये रथ गृह शय्या आदि अपना कुछ भी स्वार्थ सिद्धि नहीं करते, न अन्योन्य के लिए ही हैं । किन्तु इनसे पृथक् देवदत्तादि हैं, जो कि शय्या में सोते हैं । और रथ से जाते हैं, और घर में रहते हैं । (चैतन्य की प्रतीति से भी) इस प्रकार महदादि चक्षुरादि भी स्वार्थ के लिए नहीं है । और न अन्योन्य के लिए ही, अपितु परमार्थ के लिए ही हैं । जो पर है वही आत्मा है । इसलिए यह अनुमान लगाया जाता है कि जरूर पुरुष है । जिसके लिए कि चुक्षुरादि संघात वाला शरीर उत्पन्न हुआ है । और भी गुणत्रयाभाव होने से भी पुरुष की सत्ता स्वीकार की जाती है । तीन गुण हैं जिस समुदाय के उसे त्रिगुणादि कहेंगे । उस गुणत्रय का अभाव होने से पुरुष का पृथक् अस्तित्व स्वीकर किया जा सकता है । पूर्व कारिका में कहा भी था कि त्रिगुण व अविवेक्यादि धर्मों से व्यक्त व प्रधान में साम्य है । और इनसे विपरीत पुरुष है इत्यादि अर्थात्—अगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन व अप्रसवधर्मी होने से आत्मा का व्यक्ताव्यक्त से पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । और अधिष्ठाता होने से भी, क्योंकि बिना अधिष्ठाता के कोई भी वस्तु नहीं रहती । जैसे लोक में लंघन ल्पवन धावन में समर्थ अश्वों से युक्त रथ सारथी से सनाथ होकर ही चलता है । यदि सारथी

रहित चलने लगे तो स्वयं विनष्ट हो सकता है। पर कोई भी अपने विनाश के लिए प्रवृत्त नहीं होता। सष्टितन्त्र ग्रन्थ में कहा भी है।—"पुरुष से अधिष्ठित प्रधान की प्रवृत्ति होती है।" इससे यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि पुरुष है। और भोक्ता होने से भी पुरुष का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। इस संसार में मधुर, अम्ल, तिक्त, लवण, कटु, कषाय, वाले छः रस हैं। इन्हीं षड्रसों से युक्त भोजन को देखकर यह सिद्ध किया जाता है, कि जरूर इनका कोई भोक्ता होगा, निश्चय ही भोक्ता है, जिसके लिए यह भोजन है। इसी तरह व्यक्ताव्यक्त को देखकर यह बात सिद्ध हो जाती है कि निश्चय ही इनके अतिरिक्त परमात्मा पुरुष भोक्ता है, जिसके लिए कि व्यक्ताव्यक्त भोग्य हैं। और भी लोगों की मोक्ष (आत्म-साक्षात्कार) के लिए प्रवृत्ति होने से भी पुरुष का अस्तित्व सिद्ध है। क्योंकि प्रधान की जो प्रवृत्ति होती है, वह मोक्ष के लिए ही हुआ करती है ॥१७॥

प्रबोधिनी

अव्यक्त की सिद्धि के बाद अब आत्मा (पुरुष) के सिद्धि का अवसर है। आत्मा के विषय में विभिन्न दार्शनिकों की विभिन्न धारणायें हैं। जैसाकि वृत्तिकार ने भी "अत्राह केचिदाचार्याः" "इति मन्यन्ते" इत्यादि उद्धरण द्वारा दिखलाया है। संक्षेप में आत्मा के विषय में विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्त उपस्थित किये जाते हैं, सदानन्द ने अपने वेदान्तसार में इसका संकलन किया है। उसी का सारांश यहाँ भी उद्धृत किया जाता है। (१) चार्वाक मतानुयायियों में अनेक विकल्प हैं, कुछ स्थूलबुद्धि वाले तो पुत्र को ही आत्मा समझते हैं, इस विषय में वे लोग "आत्मा वै जायते पुत्रः" इस श्रुति को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं कुछ चार्वाक स्थूल देह को ही आत्मा मानते हैं। और कुछ लोग इन्द्रियों को तथा अन्य चार्वाक मन तथा प्राणों को आत्मा मानते हैं।

(२) योगाचारमतानुयायी बौद्ध कहते हैं कि बुद्धि ही आत्मा है। इस विषय में ये लोग "अहं कर्त्ता" "अहं भोक्ता" इत्यादि अनुभवों को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं। तथा माध्यमिक मतावलम्बी बौद्धों का कहना है कि सर्वाभावरूप शून्य ही आत्मा है इसके प्रमाण में ये लोग सुषुप्ति का दृष्टान्त

देते हैं। जैसे कि सुषुप्ति काल में कुछ रहता ही नहीं पश्चात् उठने पर निजाभाव रूप परामर्श होता है। तद्वत् आत्मा भी सर्वाभाव रूप है।

(३) प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकों तथा तार्किकों का कहना है कि बुद्धि, ज्ञानादि का अज्ञान (ज्ञानभिन्न आत्मा) में लय हो जाता है। तथा "मैं अज्ञानी हूँ" इत्यादि अनुभव भी होता है। इसलिए अज्ञान ही आत्मा है।

कुमारिलभट्ट मतानुयायी मीमांसकों का मत है कि अज्ञानोपहित चैतन्य ही आत्मा है। क्योंकि सुषुप्ति दशा में मन तथा इन्द्रियों का व्यापार नहीं होता, तब भी सोकर उठने पर "मैं सुखपूर्वक सोया" इत्यादि परामर्श होता है। साथ ही साथ यह भी अनुभव होता है कि "मैंने अपने को कुछ नहीं जाना" इसमें दो अंश हैं, एक तो अनुभव कर्त्ता, दूसरा ज्ञानांश, इससे सिद्ध है कि ज्ञान की अपेक्षा ज्ञाता भिन्न है. वही आत्मा है।

(४) वेदान्त दर्शन शुद्ध चैतन्य को आत्मा मानते हैं। वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं से परे हैं। तथा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य हैं। इस विषय में आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में लिखा है कि "सभी को अपनी सत्ता का अनुभव होता है, "मैं नहीं हूँ" ऐसा कोई नहीं सोचता, "**आत्मनः प्रत्याख्यातुम् अशक्यत्वात्, य एव निराकर्त्ता तस्यैव आत्मत्वात् सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति।**" इस प्रकार आत्मा के विषय में विभिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु वृत्तिकार ने यहाँ चार्वाकों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर प्रस्तुत कारिका (सङ्घातपरार्थत्वात्) इत्यादि को सांख्याचार्यों की ओर से सिद्धान्त रूप में उपस्थित किया है। पर वाचस्पति मिश्र ने अपनी तत्व कौमुदी में लिखा है कि "कुछ तौष्टिक लोग प्रकृति अथवा महत् अहंकार या इन्द्रियों को ही आत्मा माने हुए हैं। उन्हीं के उत्तर में प्रस्तुत कारिका उपस्थित की जाती है। जो कुछ भी हो, उक्त कारिका के द्वारा आचार्य ईश्वर कृष्ण अपने प्रबल प्रमाणों द्वारा आत्मा की सिद्धि कर रहे हैं। जिसके लिए उन्होंने पाँच हेतुओं को प्रस्तुत किया कि संघात तत्व (यावत् सामग्री समुदाय) पर के लिए होता है। प्रकृति से लेकर पञ्चमहाभूत पर्यन्त यह जो त्रिगुणात्मक समुदाय है वह पर के लिए ही होता है। जैसे शय्यादि स्वयं अपने लिए न होकर किसी पर (अन्य) देवदत्तादि के लिए ही होती है। ऐसे ही यह त्रिगुणात्मक समुदाय भी पर के लिए हैं। इनसे जो पर है वही आत्मा है। यह सारा दृश्य वर्ग त्रिगुणात्मक

है। एक तत्व इनसे परे ऐसा भी है जहाँ इन तीनों गुणों का अभाव है। ऐसा जो तत्त्व है, वही आत्मा है, और भी यह सारा जड़पदार्थ चेतनाधिष्ठित होकर ही व्यापार में समर्थ होता है। जैसे रथ बिना सारथी के नहीं चलता, अन्य भी वाहनादि चालक की अपेक्षा रखते हैं। अतः इससे भी सिद्ध है कि यह जडवर्ग जिससे अधिष्ठित हैं वही पुरुष है। भोग्य पदार्थ को भोक्ता की अपेक्षा है। क्योंकि भोक्ता के बिना उनका भोग नहीं हो सकता है। और दृश्य पदार्थों में दृष्टा के बिना दृश्यता नहीं आती। अतः यह मानना पड़ता है कि भोग्य और दृश्य पदार्थों का भोक्ता और दृष्टा उनसे भिन्न है। जो उनसे भिन्न है वही पुरुष है। और भी लोगों की प्रवृत्ति मोक्ष के लिए देखी जाती है, प्रत्येक मनुष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति चाहता है। ऐसा एक पदार्थ स्वीकार करना पड़ता है, कि जहाँ सुखदुःख मोह का अत्यन्ताभाव है। जिसे प्राप्त कर मानव कृत्यकृत्य हो जाता है। अतः तदर्थप्रवृत्ति होने से भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। विज्ञान भिक्षु का तो यहाँ तक कहना है कि जैसे "जगत् का कोई कारण अवश्य है" इस सिद्धान्त सामान्य में कोई विवाद नहीं है। इसी तरह आत्मा रूप ज्ञाता का अस्तित्व भी सर्वजनवेद्य है। अतः इसके अस्तित्वमात्र सिद्ध करने के लिए युक्ति की आवश्यकता नहीं है ॥१७॥

अत्राह—गृह्णीमस्तावदेभिः पञ्चभिरधीतैर्हेतुभिः शरीरव्यतिरिक्तोऽसौ पुरुषोऽस्तीति। स किं सर्वशरीरेष्वेकः पुरुषः आहोश्वित् प्रतिशरीरं भिन्नः पुरुष इति। कुतः संशय इति चेच्चोदक आचार्यविप्रतिपत्तेः संशयः। इह केचिदाचार्या वेदवादिन इति मन्यन्ते—एकोऽयं पुरुषः सर्वशरीरेषूपलभ्यते मणिसूत्रवत्। इहरसनायां यावन्तो मणयस्तेषु सर्वेष्वेकमेव सूत्रं प्रवर्तते। एवं मणिभूतेषु शरीरेषु किमेकः सूत्रभूतः परमात्मा। आहोस्वित् जलचन्द्रवत् पुरुष इति एक एव बहुषु नदीकूपतडागादिष्विवोपलभ्यते इति। अतः संशयः किमेकः पुरुषो गुणसूत्रन्यायेन आहोस्वित् बहवः पुरुषाः। अत्रोच्यते—बहवः पुरुषाः कथमिति चेत्तदुच्यते—

जननमरणकरणानां[1] प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥

सङ्गति—इस विषय में कहते हैं कि पूर्वोक्त पांच हेतुओं के अध्ययन से

यह बात हम मान गये कि शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा है। पर क्या वह आत्मा सभी शरीरों में एक ही है, अथवा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है। यदि यह पूछा जाय कि आपको यह संशय कहाँ से हुआ तो इसके उत्तर में कहना है कि प्रेरक आचार्य की विप्रतिपत्ति से। इस पर कुछ वेदान्ती आचार्यों का कहना है कि सभी शरीरों में एक ही आत्मा है। मणिसूत्र की तरह जैसे कि माला में जितने भी मणि रहते हैं वे सब एक ही सूत्र में पिरोये रहते हैं। इसी तरह मणिरूप शरीरों में भी क्या एक सूत्ररूप आत्मा है। अथवा जलचन्द्र की तरह। जैसे एक ही चन्द्र नदी, कूप, तडागादियों में अनेक रूपों में उपलब्ध होता है। अतः संशय है कि क्या मणिसूत्रन्याय से एक ही आत्मा है, कि अथवा जलचन्द्र न्याय से बहुत हैं ? इस पर उत्तर देते हैं कि बहुत पुरुष हैं। कारिका में इसी का प्रतिपादन करते हैं।

प्रत्येक शरीर में पुरुष भेद सिद्ध है। क्योंकि जन्म-मरण, तथा इन्द्रियों की प्रतिनियत व्यवस्था होने के कारण, धर्मादियों के विषय में विभिन्न प्रवृत्ति के होने से भी और गुणत्रय के परिणाम भेद से भी यह सिद्ध है कि प्रतिशरीर में भिन्न २ पुरुष (आत्मा) हैं ॥१८॥

मा० वृत्ति—जन्ममरणकरणानामिति, जन्म नियमात्, इह केचिन्नीय जन्मानः, केचिदुत्कृष्टजन्मानः, यदि पुनरेकः पुरुषः स्यात् स एव नीचकुलोत्पन्नः स्यात्, स एव उत्कृष्टकुलोत्पन्नः स्यात्। कस्मात् ? पुरुषैकत्वात्, अस्तिचायं नियमः, अन्ये अधमा अन्ये उत्कृष्टाः। तस्माद् बहवः पुरुषाः, अतश्च—मरणनियमात्। मरणेऽपि नियमो दृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च। तस्माद् बहवः पुरुषाः, अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति— जन्ममरणनियमात्। इह कश्चित् कदाचिन्म्रियते तदैव परो जायते, यद्येकः पुरुषः स्यात् तर्हि एकस्मिन् जायमाने सर्वेऽपि जायेरन्। न चैवम्। म्रियमाणे सर्वे म्रियेरन्। तस्माद् बहवः पुरुषाः। इतश्च पश्यामः। करणनियमात्, करणानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि। इह लोके केचिद् बधिरान्धमूकादयः। इतरे च पटुतरकरणाः। अतः पश्यामो ये उपहतेन्द्रियास्ते अन्ये, ये चानुपहतेन्द्रियास्ते चान्ये। तस्मात् प्रतिनियतकरणत्वादपि पश्यामोऽनेके पुरुषा इति।

(१) इतश्च पश्यामः। त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव। च समुच्चये, पूर्वोक्तैर्हेतुभिः। अस्माच्च हेतोरित्यर्थः। इहैकस्य ब्राह्मणस्य त्रयः पुत्राः सब्रह्मचारिण एकेनैव

एकस्यां भार्यायां जाताः। तत्रैकः सात्विको मेधावी शुचिः सुखी, द्वितीयो राजसो दुर्मेधावी दुःखी, तृतीयस्तामसो मूढो नास्तिकः। यद्येक आत्मा स्यादेकस्मिन् सात्विके राजसे वा सर्वे तथा स्युः। न तथा भवन्ति, अतः पश्यामोऽनेके पुरुषाः ॥१८॥

अनुवाद— जन्ममरणकरणादि—जन्म के नियम से जैसे—इस संसार में कुछ लोग निम्न श्रेणी में जन्म लेते हैं और कुछ मध्यम श्रेणी में तथा अन्य लोग उत्तम श्रेणी में जन्म लेते हैं। यदि एक ही पुरुष होता तो वही नीच, मध्यम व उत्तम कुलोत्पन्न होता। क्योंकि एक ही पुरुष के होने से। परन्तु ऐसा होता नहीं, यहाँ तो यह नियम है कि जो अधम है उससे भिन्न उत्कृष्ट है। इससे यह सिद्ध होता है कि बहुत से पुरुष हैं। मरण के नियम से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। मरण में भी यह नियम है कि किसी का भ्राता मरा है और पिता भी, इससे सिद्ध है कि अनेक पुरुष हैं। और लोग इसकी व्याख्या इस तरह से करते हैं। जन्ममरणनियमात्—इस संसार में यदि कोई कभी मरता है तो दूसरा उस समय उत्पन्न होता है, यदि एक ही पुरुष होता तो एक के पैदा होने पर सभी पैदा हो जाते। पर ऐसा नहीं होता, अथवा एक के मरने पर सभी मर जाते। ऐसा नहीं देखा गया। इससे सिद्ध है कि पुरुष बहुत हैं। करणों के नियम से भी यही बात मालूम होती है। करण का अर्थ है श्रोत्रादि इन्द्रियां इस संसार में देखने में आता है कि कुछ लोग यहाँ अन्धेबहिरे तथा गूंगे हैं। परन्तु अन्य लोगों की इन्द्रियाँ तेज हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जो विकृत इन्द्रियाँ वाले हैं वे और हैं, और जो इन्द्रिय-शक्ति सम्पन्न हैं वे कोई और हैं। इसलिए इन्द्रियों के प्रतिनियत व्यवस्था होने से भी यह सिद्ध होता है कि पुरुष अनेक हैं। और गुणों का विपर्यय होने से भी, यहाँ चकार समुच्चय में है। पूर्वोक्त हेतुओं से। और इस हेतु से भी। (इसी उभय समुच्चय हेतु को बतलाने के लिए च का निवेश किया है) एक ब्राह्मण के तीन पुत्र हैं, वे तीनों समान हैं। एक ही पुरुष के द्वारा एक ही भार्या से उत्पन्न हुए हैं। उनमें से एक मेधावी सात्विक, पवित्र, तथा सुखी है। दूसरा राजसी, दुर्बुद्धि, तथा दुःखी है। तीसरा तामसी, मूढ तथा नास्तिक है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक के सात्विक अथवा राजस या तामस होने पर सभी को वैसा ही होना था, परन्तु ऐसा देखा नहीं गया।

इन सब हेतुओं से सिद्ध है कि प्रत्येक शरीर में विभिन्न पुरुष (आत्मा) हैं ॥१८॥

प्रबोधिनी

आत्मा की सिद्धि दिखाकर अब विचारणीय बात यह है कि क्या वह आत्मा प्रत्येक शरीर में एक है, अथवा अनेक। इस पर सांख्याचार्यों का उत्तर है कि वह प्रत्येक शरीर में अनेक हैं। क्योंकि पुरुष में जन्म मरण और इन्द्रियों की विभिन्न व्यवस्था देखने में आती है। और प्रवृत्ति के वैविध्य से तथा गुणों की विषमता से भी यही युक्ति संगत मालूम पड़ता है कि प्रति-शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मायें है। यदि सभी शरीरों में एक ही आत्मा होती तो एक के जन्म लेने से सभी का जन्म होता। और एक के मरण से सभी का मरण होता, अथवा एक के अन्धे होने पर सभी को अन्धा हो जाना चाहिए था, पर ऐसा देखने में नहीं आता। और प्रवृत्ति भेद से भी यही मालूम पड़ता है कि अनेक आत्मायें हैं। क्योंकि यदि एक ही आत्मा होती तो इस संसार में एक की प्रवृत्ति धर्म में होने से सभी की प्रवृत्ति उसी ओर होनी चाहिए। पर यहाँ तो देखा जाता है कि एक धर्म में प्रवृत्त है तो दूसरा पाप में प्रवृत्त है इस बात को आचार्य ने "अयुग्पत् प्रवृत्तेश्च" इत्यादि वाक्य से कहा। साहित्योपाध्याय पं० विष्णुप्रसाद शर्मा द्वारा संशोधित चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस से प्रकाशित उपलब्ध पुस्तक की माठर वृत्ति में इसकी व्याख्या नहीं मिलती है। नीचे टिप्पणी में उन्होंने लिखा है— "अयुगपत्प्रवृत्तेश्च" इत्यस्य व्याख्यानग्रन्थ-स्त्रुटितोयाति। अतः पाठकों की सुविधा के लिए गौडपादभाष्य यहाँ उद्धृत किया जाता है। "इतश्च अयुधगत् प्रवृत्तेश्च युगपदेक कालम्, न युगपदयुगपत् प्रवर्तनम् यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्ति दृश्यते, एके धर्मे प्रवृत्ता अन्येऽधर्मे वैराग्येऽन्ये ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्मादयुगपदप्रवृत्तेश्च बहव इति सिद्धम्।" और भी गुणों की विषमता के कारण उनके कार्य में भी विषमता देखने में आती है। देखा जाता है कि कोई सात्विक सुखी है तो अन्य राजस दुःखी है। और तामस मूढ है इस तरह सुख दुःखादि विभिन्न अवस्थाओं के देखने से भी यही मालूम पड़ता है कि प्रति शरीर में पुरुष भेद है। एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने की है कि सांख्य दर्शन के अनुसार न तो पुरुष का जन्म होता, और न मरण ही तथा न सुखदुःखादि परिणाम वाला ही पुरुष है

तो फिर पुरुष का पूर्वोक्त वर्णन संगत नहीं होता, उत्तर में प्रस्तुत कारिका का सार इतना ही है कि अनेक योनियों में शरीर इन्द्रिय बुद्धि आदि से उसका सम्बन्ध होना ही जन्म है, और शरीर से सम्बन्धाभाव होना ही मरण है। तथा सुखदुःखादि संवलित बुद्धि वृत्ति में प्रतिविम्बित होना ही आत्मा का भोग है। अतः व्यवहारिक दृष्टि से तत्तत् अन्तःकरणों की उपाधि से अवच्छिन्न तत्तत् आत्माओं का भिन्न होना भी उचित ही है। इस प्रसङ्ग में आचार्य माठर ने वेदान्तियों की ओर से पूर्व पक्ष किया है। जिसका सार यह है। ब्रह्म की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य तथा तथा उनके अनुयायियों ने बड़ी सुन्दर युक्तियाँ दिखलायीं हैं। इनका कहना है कि कारण की ही एक मात्र सत्ता है। कार्यों के रूप में जो हम परिवर्तन देखते हैं, वह केवल मानसिक आरोप है। वास्तव नहीं हैं। इसी मानसिक आरोप को शंकराचार्य अध्यास कहते हैं। और कारण की इस असत्य काल्पनिक परिवर्तन को अद्वैत की भाषा में विवर्त कहते हैं। इस पर और सूक्ष्म विचार करने पर हम इस निष्कर्ष में पहुंचते हैं कि घड़े की अपेक्षा मृत्तिका भले ही सत्य हो, परन्तु उसे भी हम एकान्त सत्य नहीं कह सकते, वही वस्तु एकान्त सत्य हो सकती है, जो सभी पदार्थों का मूल अधिष्ठान हो। तथा सब में अनुस्यूत न हो, ऐसी को मूल सत्ता है जो निराकार तथा निरव्यय है, उसी का नाम वेदान्त में "ब्रह्म" है। वह एक है। अनेक नहीं। अद्वैतवाद का यही मूल सिद्धान्त है। इसीलिए लिखा है "एक एव आत्मा" इति वेदान्तिनः ॥१८॥

अत्राह—अयं संशयः। किं खलु कर्त्ता पुरुषोऽस्त्याहोश्विदकर्त्तेति। कुतः संशयः इति चेत्, आचार्यविप्रतिपतिपत्तेः। लोके तावद् पुरुषो गच्छति धावति तिष्ठति शोचति, पुरुषेणेदं कृतमिति विप्रतिपत्तिः। एवमाचार्या वेदवादिनो ब्रुवते। वैशेषिका अपि कर्त्ता इति मतं प्रतिपन्नाः। अतः संशयः। अत्रोच्यते अकर्त्ता पुरुषः। कथमिति चेत्तदुच्यते—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥१९॥

सङ्गति—क्या पुरुष कर्त्ता है या अकर्ता इसमें संशय होता है। यदि यह पूछा जाय कि यह संशय ही आपको क्यों हुआ। उत्तर है कि कुछ आचार्यों की

इस विषय में विप्रतिपत्ति है। लोक में भी यह देखा जाता है पुरुष जाता है दौड़ता है, ठहरता है, सोचता है, तथा पुरुष ने यह किया इस तरह की विप्रतिपत्ति देखी जाती है, इस प्रकार कुछ वैदिकों का तथा वैशेषिकों का मत है। अतः संशय होता है कि क्या पुरुष ही वस्तुतः कर्ता है? इस पर सांख्याचार्यों का कहना है कि वस्तुतः पुरुष अकर्ता है। वह इस प्रकार—-पूर्वोक्त त्रिगुणादि से विपरीत अत्रिगुणादि होने से यह पुरुष साक्षी केवल (आत्यन्तिक दुःखरहित) मध्यस्थ दृष्टा, तथा अकर्ता है ॥१९॥

मा० वृत्ति०—तस्माच्च विपर्यासादिति (२) पूर्वोक्तत्रिगुणविपर्ययसात् वैपरीत्यात् त्रैगुण्यस्य। निर्गुणः पुरुषो विवेकीति विपर्यय उक्तः, तस्मात् सत्वरजस्तमस्सु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्य, गुणा एव प्रवर्तन्ते कर्तारः साक्षी न प्रवर्तते नापि निवर्तते। (३) कर्तृकारणानां को विशेषः। अत्रोच्यते। तद्यथा कश्चिद्यमनियमरतः सांख्ययोगाचार्यरतो भिक्षुर्नगरे प्रतिवसति, स च जनादिषु प्रतिवर्णाश्रमविहितासु क्रियासु प्रवर्तमानानां तन्नगरवासिनां साक्षिमात्रो भवति। ऋतु वशात् शीतोष्णादीनायाताननु भवति। तद्वदयं नानावस्थे गुणविमर्दे वर्तमानो वैधर्म्यात् क्षेत्रज्ञः साक्षिमात्रः स्यात्। एवं साक्षित्वं सिद्धमस्य पुरुषस्य। केवलभावः कैवल्यं नाम त्रिभ्यो गुणेभ्योऽन्यत्वम्। यथाऽसौ भिक्षुः कदाचिन्नागराणां विवदतां (१) वक्ता भवति त्वया साधु कृतमिति त्वयाऽसाध्विति। किमेवं पुरुषो भवति। अत्रोच्यते—माध्यस्थ्यम्। नास्यकेनचित्कृत्यमस्ति उदासीनो ह्यम्। (अतएव दृष्टा अत एव अकर्ता) अत्राह—अद्यकर्ता तत् किं पर कृतानां प्रयोक्ता। अत्रोच्यते—कर्तृभावश्च द्विविधो हि, प्रयोक्ता कर्ता च। अत्रोदासीनस्य पुरुषस्य कर्तृत्वं प्रतिषिद्धं गुणलक्षणेन ॥१९॥

अनुवाद—अतएव पूर्वोक्त त्रिगुणों से विपरीत, निर्गुण विवेकी पुरुष है। इसीलिए सत्व, रज और तमोगुण के कर्तृत्व में पुरुष का साक्षित्व सिद्ध है। कार्य करने वाले गुण ही प्रवृत्त होते हैं। साक्षी पुरुष न तो प्रवृत्त होता है और न निवृत्त ही होता है। तब फिर पुरुष का इन कार्यकारी गुणों से क्या अन्तर है। इस पर कहते हैं कि जैसे कोई यमनियमरत सांख्ययोगशास्त्र-परायण भिक्षु किसी नगर में रहता है। वह वहाँ के लोगों का जो कि अपने अपने वर्ण धर्म आश्रय के अनुकूल कार्यों में लगे हुए नगर वासियों का केवल

साक्षिमात्र होता है। और ऋतु वशात् प्राप्त हुए शीतोष्ठावर्षा का अनुभव करता है इसी तरह यह पुरुष भी गुण समुदाय में रहता हुआ भी, उन गुणों से विपरीत होने से केवल क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता) साक्षिमात्र है। इस तरह पुरुष का साक्षित्व सिद्ध है। केवल के भाव को कैवल्य कहते हैं। अर्थात् तीनों गुणों से अलग रहना ही कैवल्य है। जैसे यह भिक्षु कभी कभी नगरवासियों के आपस में विवाद होने से वक्ता (फैसला करने वाला) भी होता है कि तुमने ठीक किया और तुमने ठीक नहीं किया इत्यादि क्या इस तरह पुरुष भी वक्ता होता है ? उत्तर में कहते हैं कि इसका (पुरुष का) तो किसी से कुछ मतलब ही नहीं। यह तो उदासीन है। (अतएव दृष्टा तथा अकर्ता है।) फिर पूछते हैं कि यदि पुरुष कर्ता नहीं है तो परकीय कार्यों का प्रेरक तो होगा। समाधान में कहते हैं कि कर्तृभाव दो तरह से होता है। प्रेरक होने से अथवा कार्य करने से। यहाँ उदासीन पुरुष का, कर्तृत्व प्रतिसिद्ध है ॥१९॥

प्रबोधिनी

पुरुष बहुत्व की सिद्धि दिखाकर अब प्रकृत कारिका में विवेक ज्ञानोपयोगी पुरुष के साक्षित्वादि धर्मों का विवेचन करते हैं। इस कारिका की माठर वृत्ति **तस्माच्च विपर्यासादिति** यहाँ से (३) **कर्तृकरणानामिति** यहाँ तक त्रुटित मालूम पड़ती है। हमने पूर्व संशोधित पाठ वृत्ति में रख दिया है, फिर भी **कर्तृकरणानां को विशेषः** यहाँ तक की ग्रन्थसङ्गति ठीक नहीं लगती। त्रिगुणादि का पुरुष में विपर्यास है। अर्थात् पुरुष त्रिगुण रहित, विवेकी असामान्य तथा चेतन है इन्हीं धर्मों से पुरुष में साक्षित्वादि की सिद्धि होती है। कारिका में **तस्माच्च विपर्यासात्** यहाँ इदम् शब्द को छोड़कर तद् शब्द रखा गया है, उससे व्यवहित विप्रकृष्ट **त्रिगुणमविवेकि** इत्यादि का परामर्श किया गया है। क्योंकि इदम शब्द सन्निकर का परामर्शक होता है, और तद शब्द विप्रकृष्ट (दूर) व्यवहित का परामर्शक होता है। इस तरह पुरुष चेतन तथा अविषय होने से साक्षी तथा दृष्टा है। पुरुष में गुणत्रय का अभाव होने से कैवल्य भी सिद्ध है। क्योंकि ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखत्रय की निवृत्ति को ही कैवल्य कहते हैं। इसी प्रकार त्रिगुणाभाव से पुरुष मध्यस्थ भी है। मध्यस्त वही होता है, जो न सुख को चाहता है, और

दुःख से द्वेष करता हो। इस तरह इन दोनों से रहित पुरुष ही मध्यस्थ कहा जाता है, क्योंकि वह सुख दुःख से परे है। इसी प्रकार विवेकी तथा अप्रसव-धर्मा होने से पुरुष में अकर्तृत्व भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि जो क्रियावान् होता हैं वही कर्ता भी होता है। पुरुष व्यापक विवेकी व अपरिणामी होने से क्रियाशील नहीं है। अतः वह कर्ता भी नहीं है। पुरुष के साक्षित्व का तात्पर्य इतना ही है कि बुद्धि वृत्ति के साथ उसका अव्यवहित सम्बन्ध होना। 'सांख्यसूत्र' में कहा भी है "साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम् (१।१६१)" इस पर विज्ञान भिक्षु का भाष्य इस तरह है—"पुरुषस्य यत् साक्षित्वमुक्तं तत् साक्षात् सम्बन्धमात्रात्, नतु परिणामव, इत्यर्थः। साक्षात् सम्बन्धेन बुद्धि-मात्रसाक्षिताऽवगम्यते, साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायामिति साक्षिशब्द व्युत्पादनात् साक्षाद्द्रष्टत्वं चाव्यवधानेम द्रष्टत्वम्। पुरुषे च साक्षात् सम्बन्धः स्वबुद्धि-वृत्तेरेव भवति। अतो बुद्धिरेव साक्षी पुरुषोऽन्येषान्तुन्द्रष्टत्वमात्रमेति शास्त्रीयो विभागः।

अर्थात्—इन्द्रिप्रणालिका के द्वारा वाह्य वस्तुओं के से उपराग होने से बुद्धि वृत्ति तदाकार से परिणत हो जाती है। उस बुद्धि वृत्ति में आरुढ पदार्थ पुरुष का भी दृश्य हो जाता है। अतः उसका दृष्टा पुरुष कहा जाता है। कैवल्य का अर्थ है—आत्यन्तिकदुःखत्रयाभाव, पुरुष का केवल स्वरूप में स्थित होना। रागद्वेषादि रहित होने से पुरुष मध्यस्थ (उदासीन) है। विवेकी तथा अप्रसवधर्मा होने से पुरुष अकर्ता है। परन्तु कहीं कहीं बुद्धयाश्रित कर्तृत्व का उसमें आरोपमात्र होता है ॥१९॥

अत्राह—यद्यकर्ता पुरुषः, अध्यवसायं तर्हि किं करोति धर्मं करिष्याम्यधर्मं चेति। यदि गुणा अध्यवसायं कुर्वन्ति तर्हि तेषां सचयुनत्वं स्यात्। अमीसां चाचेतन्त्वमेत्र प्रागुपन्यस्तम्। अथ पुरुषोऽध्यवसायं कुरुते तदा तस्य कर्तृत्वप्रसङ्गः। तस्मादुभयथापि दोष इति अत्र समाधीयते नायं दोषः कथमेति चेत्, तदुच्यते—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च[3] तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ २०॥

सङ्गति—यहां किसी का कहना है कि यदि पुरुष कर्ता नहीं है तो मैं धर्म करूंगा, या अधर्म करूंगा इस प्रकार का अध्यवसाय (निश्चय) कौन

करता है। यदि यह कहा जाय कि गुण ही इस प्रकार का निश्चय करते हैं तो गुणों को सचेतन होना चाहिए, परन्तु गुणों को तो पहले अचेतन बताया है। अथवा पुरुष को ही इस प्रकार का अध्यवसाय करने वाला माना जाय तो उसमें कर्तृत्व की प्राप्ति होती है। अतः उभयतः दोष आता है। कारिका में समाधान देते हुए कहते हैं कि दोष का परिहार इस प्रकार किया जाता है—

पुरुष के चेतन स्वभाव होने से, उसी पुरुष के संयोग से अचेतन लिङ्ग (बुद्ध्यादि) भी चेतन की तरह हो जाता है। इस प्रकार अध्यवसायादि के वास्तविक कर्तृत्व बुद्धि (गुणों) में रहने पर भी, दोनों के सन्निकट होने से उदासीन पुरुष में भी कर्तृत्व का उपचार किया जाता है ॥२०॥

मा० वृत्ति—यस्माच्चेतनस्वभावः पुरुषः तस्माद् तत्संयोगादचेतनं महदादि लिङ्गम्, अध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते, को दृष्टान्तः—सद्यथा—अनुष्णा शीतो घटः भीताभिरद्भिः संस्पृष्टः क्षीतो भवति, अग्निना संयुक्त उष्णो मेवति। एवं महदादि लिङ्गमचेतनमपिभूत्वा चेतनावद् भवति। तस्मादध्यवसायं कुर्वन्ति गुणाः कार्यादिषु। यद्यप्युक्तम्—लोकोपचारात् कर्ता पुरुष इति। अत्र ब्रूमः—गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः। अत्र दृष्टान्तश्च। केचिद् किल चौरा ग्रामे हृत्वा द्रव्यं गृहीत्वा ग्रामान्तरं गच्छन्ति कृतकार्याः, तैः सह सार्थेन 'श्रौलियौ ब्राह्मणः पन्थानं गच्छति। तत्पदानुसारिभिरारक्षिभिस्ते गृहीताः। कृतापराधैस्तैं सह सोऽपि ब्राह्मणो गृहीतस्त्वमपि चोर इति। तद्यथाऽसावचोरस्तत्संसर्गदोषेण चौरतया प्रतीतस्तैः। तथा सत्वारयो गुणाः कर्तारस्तैः संयुक्तः पुरुषोऽपि अकर्ताऽपि कर्ता भवति। कर्तृसंसर्गाद् कर्तेव। परे परमार्थतया अकर्ता पुरुषः ॥२०॥

अनुवाद—क्योंकि पुरुष चेतन स्वभाव वाला है, अतः पुरुष के संयोग से अचेतन महदादि लिङ्ग भी अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प, आलोचनादि वृत्तियों में चेतन की तरह प्रवृत्त होता है, इस पर दृष्टान्त देते हैं कि—जैसे भीत आर्ण उष्ठा से रहित भी घड़ा, शीतल जल के संसर्ग से शीतल हो जाता है, और अग्नि के सम्पर्क से गरम हो जाता है। इसी प्रकार महदादि लिङ्ग स्वयं अचेतन होते हुए भी चेतनवत् हो जाते हैं। अतएव गुण ही विभिन्न

कार्यों में अध्यवसाय करते हैं। और जो यह कहा कि लोकोपचार रूप से पुरुष भी कर्ता है, उस पर यही कहना है कि वस्तुतः कर्तृत्व तो गुणों में भी रहता है, परन्तु उनके संसर्ग से उदासीन पुरुष भी कर्ता माना जाता है, इस पर यह दृष्टान्त है—जैसे कोई चोर किसी गांव में आक्रमण करके वहाँ से धन लूटकर, अपना मतलब हल करके दूसरे गाँव की ओर चल दिए। रास्ते में उन्हीं के साथ एक श्रोत्रिय ब्राह्मण भी हो लिए। उन चोरों का पीछा करने वाली पुलिस ने चोरों को पकड़ लिया उन अपराधी चोरों के साथ-साथ निरपराध वह ब्राह्मण भी चोर की नियत से पकड़ा गया। अब जैसे अचोर वह ब्राह्मण भी उन चोरों के संसर्ग दोष से पुलिस द्वारा चोर समझा गया। इसी तरह कर्ता तो वस्तुतः सत्वादि गुण ही हैं, उन गुणों के संसर्ग से अकर्ता पुरुष भी कर्ता माना जाता है। कतृत्व धर्म युक्त गुणों से सम्बन्ध होने के कारण। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से पुरुष अकर्ता ही है ॥२०॥

प्रबोधिनी

कारिका में पुरुष को अकर्ता कहा है, इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि लोक में तो देखा जाता है कि प्रमाण द्वारा कर्त्तव्य अर्थ का निर्धारण कर मैं इस कार्य को करने की इच्छा करता हूँ। "**प्रमाणेन कर्तव्यमर्थमवगम्य चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि।**" इत्यादि प्रयोग देखने में आते हैं। यहाँ "**अवगम्य**" से ज्ञान का भान होता है, और "**चिकीर्षन्**" इससे इच्छा शक्ति का भान होता है, तथा "**करोमि**" इससे कृति का भान होता है। और "**चेतनोऽहम्**" यह उन दोनों इच्छा और कृति का आश्रय है, लिखा भी है कि "**ज्ञानेच्छाकृतीनामेका-धिकरणत्वमनुभव सिद्धम्।** अर्थात् ज्ञान इच्छा और कृति का एक अधिकरण में रहना अनुभव सिद्ध है। फलतः जिस अधिकरण में ज्ञान रहेगा वहीं इच्छा भी होगी, और जहाँ इच्छा होगी वहीं कृति प्रयत्न भी होगा। परन्तु सांख्य मत के अनुसार बुद्धयादि अचेतन कर्ता है, और पुरुष चेतन अकर्ता है। अतः ऊपर के नियम के अनुसार यह बात विरुद्ध पड़ती है। अतः ऊपर के नियम अनुसार यह बात विरुद्ध पड़ती है। या तो पुरुष को कर्ता मान लिया जाय अथवा बुद्ध्यादि गुणों को चेतन मान लिया जाय। इसी बात को वृत्तिकार ने भी पूर्व पक्ष के रूप में दिखाया है। उन्होंने लिखा है कि पुरुष की कर्ता मानना या गुणों चेतन मानना ये दोनों बातें दोषयुक्त हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो "**चेतनोऽहं करोमि**" इत्यादि स्थल में समानाधिकरण की

प्रतीति भ्रान्तिजन्य है। और उस भ्रान्ति में हेतु है प्रकृतिपुरुष का संयोग अथवा अविवेक चैतन्य तथा कतृत्व का मित्राधिकरण होना युक्तितः सिद्ध है। क्योंकि त्रिगुण और परिणामी होने से कर्तृत्वादि धर्म बुद्धि के ही हैं, यह जो कर्तृत्वादि की प्रतीति पुरुष में हो रही है, वह अविवेक द्वारा ही है। इसी को योग दर्शन में "**अस्मिता**" कहा है। यह अस्मिता विपर्यय (मिथ्याज्ञान) का ही एक भेद है। योग सूत्र में लिखा है कि "**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता**" (२।६) अर्थात्—दृक् शक्ति (पुरुष) और दर्शन शक्ति (बुद्धि) इन दोनों (द्रष्टा और दृश्य) की अविवेक द्वारा जो एकात्मता का ज्ञान है, वही अस्मिता है, तत्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने इस बात को और भी स्पष्ट किया है। उन्होंने भाष्य का अर्थ करते हुए लिखा है कि वस्तुतः बुद्धि तथा आत्मा की एकात्मता नहीं है। "**दृक् च दर्शनञ्च ते एव शक्ती तयोरात्माऽनात्मनोः अनात्मनि आत्मज्ञानलक्षणाऽविद्यापादिता या एकात्मतेव न तु परमार्थत एकात्मता साऽस्मिता एकार्थतेव**" यही उचित भी है, इसी बात को द्योतित करने के लिए कारिका में भी इव शब्द का प्रयोग किया है। विज्ञान भिक्षु ने भी **औदासीन्यं चेति** (१।१६३) सूत्र के भाष्य में दिखलाया है कि पुरुष तो उदासीन है, बौद्ध क्रियाओं से न वह विकृत होता है, और न उसमें किसी प्रकार का कर्तृत्व आता है। पुरुष का कर्तृत्व तो उपराग से है वास्तव नहीं। वास्तव कर्तृत्व तो बुद्धि का ही है परन्तु चित् सान्निध्य से ही बुद्धि की अभिव्यक्ति होती है। जैसे अग्नि और अयोगोलक के परस्पर सान्निध्य से अग्नि का व्यवहार अयोगोलक में हो जाता है। जो कि औपाधिक है। इसी प्रकार पुरुष का भी कर्तृत्व व्यवहार। सांख्य सूत्र में भी कहा है। "**उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्**" (१/१६४) ॥२०॥

अत्राह—तस्मात्तत्संयोगात् इति प्रधानपुरुष संयोग इति चेत्, संयोगः कः। अनेकविधो हि संयोगः। अन्यतरकर्मजो यथा स्थाणुश्येनयोः। (उभयकर्मजो) सम्पातजो द्वयो र्वा सेयोगो यथा द्वयोरङ्गुल्योरिति, स्वभाविको यथाग्न्युष्णयोः, शक्तिहेतुको यथा मास्योदकयोः, यादृच्छिकः सुपर्णयोर्वाऽऽकमिकः। अतः संशयः। अतः संशयः। अत्रोच्यते—अन्यतर कर्मज उभयकर्मजश्च संयोगोनैव प्रधान पुरुषयोः, विभुत्वात् निष्क्रियत्वात्। नास्ति स्वाभाविकोऽपि। तयोर्नित्यत्वात् मोक्षाभावः स्यात् आवेयोगत्वात्। एवमेव विषयहेतु शक्तिहेतकत्वे च। अत्राह—कस्तर्हि प्रधानपुरुसयो संयोग इति। अत्रोच्यते। अर्थहेतुकः। कश्चासावर्थ इत्यत्राह—

पुरुसस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

सङ्गति—तस्मात्तत्संयोगात् इत्यादि कारिका द्वारा जो प्रधान और पुरुष का संयोग बतलाया है वह कौन सा संयोग है, क्योंकि संयोग अनेक के होते हैं। अन्यतर कर्मज संयोग जैसे—स्थाणु=और श्येन (बाज) कठ। उभय कर्मज जैसे दो अंगुलियों का। स्वाभाविक संयोग जैसे—अग्नि और उष्णता का शक्ति हेतुक जैसे मछली और जल का, याघच्छिकया आकस्मिक जैसे दो गरुणों का अतः संदेह होता है कि कौन सा संयोग है। इस पर उत्तर देते हैं कि प्रधान और पुरुष का अभ्यन्तर कर्मज तथा उभय कर्मज संयोग तो हो नहीं सकता है क्योंकि पुरुष विभु है, और प्रकृति निष्क्रिय है। तथा स्वाभाविक संयोग भी नहीं हो सकता, प्रधान तथा पुरुष के नित्य होने से, उन दोनों के संयुक्त होने से मोक्षाभाव की प्रसक्ति हो जाएगी। इसी तरह अन्य विषय हेतुक तथा शक्ति हेतुक संयोग भी नहीं हो सकते। तब फिर कौन सा संयोग प्रकृति तथा पुरुष का है। उत्तर में कहते हैं कि प्रधान तथा पुरुष का अर्थ हेतुक संयोग है। (अर्थात् परस्पर प्रयोज़न रूप) इसी को प्रस्तुत कारिका द्वारा स्पष्ट कहते हैं कि—दोनों प्रधान तथा पुरुष का संयोग प्रधान के दर्शमार्थ और पुरुष के कैवल्यार्थ, पङ्गु और अन्धे की तरह परस्परोपकार के लिए है। यह महदादि सर्ग भी उसी संयोग के द्वारा निर्मित है ॥२१॥

मा० वृत्ति—पुरुषस्य तावद्दर्शमार्थे संयोगः। पुरुषः प्रधानेन सह संयुज्यते सुगुणां प्रकृति द्रक्ष्याम्ययमर्थः। कैवल्यार्थ तथा प्रधानस्य संयोगः। अस्य तपस्विनः पुरुषस्य ज्ञाने वर्तमानस्य कैवल्यं करिष्यामीति। कैवल्यं मोक्ष इत्यर्थः यथा राजा पुरुषेण संयुज्यते प्रेषणं मे करिष्यतीति पुरुषोऽयि राज्ञा संयुज्यते वृत्ति में दास्यतीति एवं तावद्राजपुरुषयौरर्थहेतुकः सम्बन्धः। तथा प्रधानपुरुषयोरप्यर्थहेतुकः सम्वन्धः सेयोगः। किं चान्यत। पङ्गवन्धवदुभयोरपि सेयोग इति। अपि चात्र दृष्टान्तः यथा किल कश्चिदन्धः सार्थेन सयं पाटलिपुत्रं प्रास्थितः। सच सार्थश्चौरेरभिहतः। अन्धोऽपि अवशेष जीवतः कृच्छ्रेण महतानिर्जगाम। स च सर्वस्वजनविरहित इतश्चेतश्च परिभ्राम्यन् पन्थानमपश्यन् समन्ताच्चङ्कममाणः केन चिद्वन्मध्यस्थेन पङ्गुना दृष्टः प्रोक्तश्च, भो भो अन्ध, भैषीरहं पङ्गु मार्ग दर्शने कुशलो गन्तुमसमर्थः। अन्धेन प्रतिकचनं प्रोक्तम्—मो पङ्गो यथा भवान् गमनाशक्तथस्ताऽहमपि न द्रष्टु, गन्तुं मम सामर्थ्ययास्ति। तव दर्शमसामर्थ्येनाहं भवन्तं। स्कन्धेनादाय गच्छाम्येवमुभयोर्दुःखपरिहारलक्षणा कार्य सिद्धिरस्तु। एवं तयोर्यथा स्वार्थलब्धिहेतुकःसम्बन्धः संयोगस्तुल्यः। तद्वत्। पङ्गवन्धवत्प्रधान पुरुसो द्रष्टव्यो

पङ्गुवत् पुरुषो द्रष्टव्यः । अन्धवत् प्रधानम् । पुरुषस्य दृक् शक्तिः । प्रधानस्य क्रियासामर्थ्यम् (यथा चानयो पङ्ग्वन्धयोर्विभागो भविष्यतीप्सितस्थानप्राप्तयोः एवं प्रधानमपि पुरुसस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते । पुरुषः प्रधानं दृष्ट्वा मोक्षं गच्छति । किं चान्यत्—तत्कृतः सर्गः । तच्छब्देन प्रधानपुरुषौ सम्बध्येते । ताभ्यां प्रधानपुरुषाभ्यां कृतस्तात्कृतः सर्गः । तद्यथा —स्त्रीपुरुष संयोगात् पुत्रः सम्भवति । एवं प्रधानपुरुष संयोगात् सर्गोत्पत्ति भवति, सर्ग शब्देन महदादि लिङ्गोत्पत्तिरिति ब्रुवते ॥२१॥

अनुवाद—पुरुष का संयोग प्रकृति के दर्शमार्थ होता है । अर्थात् पुरुष प्रधान के साथ इसलिए संयुक्त होता है, जिससे कि सुन्दर गुणयुक्त प्रकृति को देख सके । और प्रधान का पुरुष के साथ संयोग पुरुष के कैवल्य (मोक्ष) के लिए होता है । निरन्तर (विवेक) ज्ञान में लगे हुए वेचारे पुरुष को मोक्ष लाभ करा दूं. इसलिए कैवल्य का अर्थ मोक्ष है । जैसे राजा पुरुष को इसलिए चाहता है ताकि उससे प्रेषणादि कार्य करावे । और पुरुष भी राजा को इस लिए चाहता है जिससे कि उसकी आजीविका बनी रहे । जिस प्रकार राजा और पुरुष का यहाँ परस्पर अर्थ हेतुक सम्बन्ध है । उसी प्रकार प्रधान तथा पुरुष का भी सम्बन्ध अर्थहेतुक ही । और भी यह संयोग, पङ्गु तथा अन्ध के संयोग की तरह है । इसमें यह दृष्टान्त है, कि कोई अन्धा बनियों के साथ पटना को चल दिया । परन्तु उन बनियों को रास्ते में चोरों ने लूट खसूट लिया । किसी प्रकार अन्धा वहाँ से अपनी जान बचा कर भागा । वह अपने स्वजनों से वियुक्त होकर इधर उधर भटकता हुआ, मार्ग को न देखता हुआ, चारों ओर घूमने लगा, उसी वन मध्य में स्थित किसी पङ्गु (लंगड़े) ने उसको देखा और बोला—अरे अन्धे डरो मत मैं मार्ग दिखाने में निपुण हूँ, परन्तु चलने में असमर्थ हूँ । अन्धे ने उत्तर दिया—अरे लंगड़े, जैसे तुम चलने में असमर्थ हो वैसे ही मैं देखने में असमर्थ हूँ, परन्तु मेरे में चलने का सामर्थ्य है । अतः तुम्हारी दृष्टि के सहारे, मैं तुम्हें कन्धे में चढ़ा कर चलूँगा । इस प्रकार हम दोनों की बिना किसी तकलीफ के सरलतया कार्यसिद्धि हो जायेगी इस प्रकार उन दोनों का संयोग सम्बन्ध जैसे स्वार्थप्राप्ति के विषय में समान है । इसी तरह (पङ्गु अन्ध की तरह) प्रधान तथा पुरुष का सम्बन्ध भी परस्पर स्वार्थमूलक ही है । पुरुषपङ्गु की तरह है, और अन्धवत् प्रधान है । क्योंकि पुरुष में दर्शन शक्ति है, और प्रधान में किया सामर्थ्य है । जिस

प्रकार पङ्गु और अन्धे अपने अपने अभीष्ट स्थान प्राप्ति के बाद वियुक्त हो जाते है। इसी प्रकार प्रधान भी पुरुष को युक्त करके निवृत्त हो जाता है। और पुरुष भी प्रधान को देखकर मोक्ष को प्राप्त करता है। और यह सर्ग (सृष्टि) भी प्रधान पुरुष संयोगजन्य ही है। यहाँ तत् शब्द से प्रधान व पुरुष का ही परामर्श होगा। उन प्रधान तथा पुरुष द्वारा विनिर्मित सर्ग। जैसे—स्त्री पुरुष के संयोग से सुतोत्पत्ति होती है, इसी प्रकार प्रधान तथा पुरुष के संयोग से सर्गोत्पत्ति होती है। सर्ग शब्द का अर्थ है महदादिलिङ्ग की उत्पत्ति ॥२१॥

प्रबोधिनी

प्रकृति और पुरुष का संयोग परस्पर सापेक्ष है, और वह अपेक्षा उपकार्योपकारकभावमूलक है। जैसे कोई कामिनी अपने उपभोग के लिए पुरुष की अपेक्षा करती है, वैसे ही भोग्या प्रकृति भी अपने शब्दादि उपभोग के लिए पुरुष की अपेक्षा करती है। और स्वार्थवश पुरुष से संयोग करती है। इसी प्रकार पुरुष भी अपने अपवर्ग (मोक्ष) के लिए प्रकृति की अपेक्षा करता है और वह भी अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रकृति से संयोग करता है। क्योंकि प्रकृति पुरुष संयोग से उत्पन्न स्थूल शरीर व बुद्धि तत्व के बिना भोग व अपवर्ग की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः प्रकृति व पुरुष का परस्पर संयोग पङ्गु व अन्धे की तरह स्वार्थ मूलक ही है। कारिका में आये हुए **प्रधानस्य** इस पद में कर्म में षष्ठी है। **उभयप्राप्तौ कर्मणि** इस पाणिनीय सूत्र द्वारा। अतः दर्शन क्रिया का सम्बन्ध दूरस्थ होने पर भी प्रधानस्य इस पद के साथ हो जायेगा। और उभय प्राप्तौ कर्मणि इस सूत्र द्वारा षष्ठी विभक्ति तभी होगी जबकि यहां कर्तृ पद का अध्याहार किया जाय, क्योंकि उभय (कर्त्ता और कर्म) की प्राप्ति में ही यह सूत्र षष्ठी करता है। फलतः यह पूरावाक्य मिलाने पर ऐसा बनेगा। **प्रधानस्य यद् दर्शनं पुरुषेण तदर्थम्**। इस तरह प्रधान की भोग्यता भी सिद्ध हो जाती है। क्योंकि वह कर्म है। अर्थात् भोग-विषय और पुरुष के कर्त्ता होने से वह भोक्ता है, अतः भोग्य को भोक्ता की अपेक्षा होना उचित ही है। और पुरुषस्य इस पद का अन्वय **कैवल्यार्थम्** इस पद के साथ होगा। क्योंकि पुरुष प्रधान से अपना पार्थक्य न जानता हुआ

कैवल्य (मोक्ष) के लिए प्रवृत्त होता है। और वह मोक्ष प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः इसी विवेकज्ञान (भेदज्ञान) के लिए पुरुष को प्रकृति की अपेक्षा रहती है। संयोगपरम्परा के अनादि होने से भोग के लिए संयुक्त हुआ भी पुरुष पुनः कैवल्य (मोक्ष) के लिए संयुक्त होता है। अतः भोग तथा अपवर्ग के लिए यह प्रकृति पुरुष का संयोग ही महदादि सृष्टि को उत्पन्न करता है। पातञ्जल योगसूत्र में भी कहा है कि द्रष्ट्ट दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः (यो० २।१७।।) दृष्टा पुरुष, दृष्टा बुद्धि, इन दोतों का संयोग ही (हेयहेतु) संसार का कारण है। सृष्टि का प्रयोजन बतलाते हुए सांख्य सूत्र में भी कहा है। **विमुक्त मोक्षार्थे स्वार्थ वा प्रधानस्य** (२।१।) अर्थात् प्रधान की प्रवृत्ति (महदादिपरिणाम, विवेकाभ्यासपूर्वक पुरुष के मोक्ष के लिए और अपने शब्दादि विषय के भोग के लिए है ।।२१।।

तामुत्पत्ति ब्रूमः—

प्रकृतेर्महान्, ततोऽहङ्कारः तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ।। २२ ।।

अनुवाद—उसी उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—

प्रकृति और पुरुष के परस्पर संयोग होने पर प्रकृति से महत्तत्व आविर्भूत होता है, और महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है और अहंकार से षोडशगण (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्च कर्मेन्द्रियाँ एक मन तथा पञ्चतन्मात्रा) उत्पन्न होता है उस षोडषगण में भी पञ्चतन्मात्रा से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं ।।२२।।

मा० वृत्ति—प्रकृतिः प्रधानमधिकुरुते। ब्रह्म अव्यक्तं बहुधात्मकं मायेति पर्यायाः। मस्याः प्रकृतेर्महानुत्पद्यते प्रथमः कश्चित्। महान्, बुद्धिः, यतिः, पुत्रा संवित्तिः, ख्यातिः, चितिः, स्मृतिरासुरी, हरिः, हरः, हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः, ततोऽहङ्कारः। तस्मान्म हतोऽहङ्कार उत्पद्यते। तस्य इमे पर्यायाः—वैकृदस्तैजसो भूतादिरभिमानोऽस्मिता इति, चतुषष्टि वर्णाः परादिवैखरी पर्यन्ताभिधेयैर्यत् किमप्यभिधीयते बुद्ध्या समर्थ्यं तत्सकल माद्यन्ताकारवर्णद्वयग्रहणेभोपरिस्थितपिण्डीकृमानुकारिणाबिन्दुनाभूषितः प्रत्याहारन्यायेनाहङ्कार इत्यभिधीयते। तस्मात् अहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते। तामसात् भूतादिनाम्नः पञ्चतन्माभाणि शब्दादीनि। अत एव तानि मूठानि। सात्विकात्

वैकृताभिधानात् बुद्धिकर्मात्मककानि मनः सहितामि एकादशेन्द्रियाणि। अत एव तानि किंचित् जानन्ति । राजसात् । राजसात् तैजसाभिधानादुभयम् (एकादशेन्द्रियाणि तन्माभाणि च) । मूढत्वाद्धि तमः । प्रकाशकत्वात् सत्वम् । उभयगुणयोगात् षोडशको गणः अहङ्कारादुत्पद्यते। तस्मादपि षोडशकात् मध्ये यानि पञ्च शब्दादितन्माभाणि तेभ्यः पञ्चभूतानि आकाशादीनि । तत्र शब्दतन्मात्रादा काशं स्पर्शतन्माभात् वायुः, सपतन्माभात्तेजः, रसतन्माभादापः, गन्धतन्माभात् पृथिवी, इत्यादि क्रमेण पूर्वपूर्वामुप्रवेशेनैक द्वि भि चतुष्पञ्च-गुणानि आकाशादिपृथ्वी पर्यन्तानि महाभूता नीति सृष्टिक्रमो भगवता कपि-लेनोक्तः) । अतएव भूतानामुत्पत्ति प्रलयाववबोधनात् भ इति । आगतिगति-परिज्ञानात् ग इति । विदद्योगी इति च व । अननि चलतीति अन् । सकल-वर्णसम्प्रदायात् भगवानित्यभिमानसिद्धिः । अप्यक्षर वर्णसामान्यान्निर्ब्रूयान्न-संस्कारमाद्रियेत इति नैरुक्त श्रुतिप्रामाण्यात् । उक्तं च—

उत्पत्ति प्रलयं चैव भूतानाभगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

श्रीविष्णुपुराणे षष्ठेऽशे पराशरवचः । यदुक्तम्—व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञाना-न्मोक्षः प्राप्यत इति । तत्र महदादिभूत पर्यन्तमित्येतत् व्यक्तं व्याख्यातम् । अव्यक्तमपि "भेदानां परिमाणात्" इत्यादिभिः पञ्चभिहेतुभिर्व्याख्यातम् । (पुरुषोऽपि सङ्घातपरार्थत्वादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः । एवमेतानि पञ्चविंशति तत्वानि यस्तैस्त्रैलोक्य व्याप्तं जानाति स मुच्यते) । यदुक्तम्—

पञ्चविंशति तत्पज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि नुच्यते नात्र संशयः ॥२२॥

अनुवाद—प्रकृति का अर्थ प्रधान है, उसी की व्याख्या करते हैं। ब्रह्म, अव्यक्त, बहुधात्मक, माया, ये सब प्रकृति के पर्याय वाचक शब्द हैं। उस प्रकृति से महान् की उत्पत्ति होती है, सर्व प्रथम । महान्, बुद्धि, मति, प्रज्ञा, संवित्ति, ख्याति, चिति, स्मृति, आसुरी, हरि, हर, हिरण्यगर्भ, ये सब पर्याय-बाचक शब्द है। उससे अहंकार उत्पन्न होता है। उसके ये सब पर्याय वाचक शब्द हैं। वैकृत, तैजस, भूतादि, अभिमान्, अस्मिता इत्यादि । चौसठ वर्णों के द्वारा परा से लेकर वैखरो पर्यन्त बुद्धि से निश्चित कर जो कुछ भी कहा जाय वह सब अकारादि हकारान्त वर्णद्वय के ग्रहण से उपर में स्थित पिण्डाकार बिन्दु से विभूषित होकर, प्रत्याहार न्याय से वह सब अहंकार पद से कहा जाता है। उसी अहंकार से षोडशगण उत्पन्न होता है। भूदादि नामक तामस्

पञ्च भूतानि आकाशदीनि, तत्वकौमुदी पर सारबोधिनी व्याख्याकर शाब्दिक चूड़ामणि श्री शिवनारायण शास्त्री जी ने अपनी टीका में इसकी सङ्गति इस प्रकार लगाई है "सोऽयं षोडशकः" तस्मात् अहङ्कारात् जायते इति योजना, "षोडशकात् इत्यस्य पञ्चभ्यः" इत्यनेन सह समानाधिकरण्येन अन्वयो न सम्भवति, "षोडशकात्" इत्यस्यैकवचनान्तत्वात्, "पञ्चभ्यः" इत्यस्य बहुवचनान्तत्वात् समानविभक्तिकयोरेव च सामानाधिकरण्यनियमादिनि अपेक्षितं पदमध्याहरति "अपंकृष्टेभ्य इति षोडशकमध्यात् प्रथककृतेभ्यः इत्यर्थः" ॥२२॥

अत्राह—प्रकृते महावनेत्युक्तम् तस्य महतः किं लक्षण मित्यत्रोच्यते—

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

सङ्गति—पूर्व कारिका में कहा है कि प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। उसी महान् (बुद्धि) का लक्षण इस कारिका में प्रदर्शित करते हैं। अध्यवसाय (निश्चय) करना बुद्धि असाधारण धर्म है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार बुद्धि के सात्विक रूप हैं। ठीक इन चार धर्मों के विपरीत अधर्म अज्ञान्, अवैराग्य, और अनैश्वर्य ये चार बुद्धि के तामस रूप हैं ॥२३॥

मा० वृत्ति—अध्यवसायो बुद्धिरिति। अध्यवसायो निश्चयः प्रतिपत्तिः, अयं स्थाणुरयं पुरुष इति बुद्धे र्लक्षणम्। सा च बुद्धिरष्टाङ्गा, सात्विकतामस-रूपभेदात्। तत्र बुद्धे सात्विकं रूपं चतुर्विधं भवति धर्मो वैराग्यमैश्वर्यमिति। तत्र धर्मो नाम वर्णिनामाश्रमिणां च समयविरोधेन यः प्रोक्तो यमनियमलक्षणः स धर्मः। तत्र पञ्च नियमाः। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। शौच सन्तोषतपः साध्यते स धर्मः— धारणार्थो धृञित्येष धातुः शाब्दै प्रकीर्तितः दुर्गति स धर्मः उच्यते ॥

तत्र या स्थावरजङ्गमानां भूतानां वाङ्मनः कायकर्मभिरद्रोहता सा अहिंसा। तथा यत् भूतहितमत्यन्तं दृष्टश्रुतानुमिति विज्ञातेष्वर्थेषु यथाऽन्तः करणप्रत्ययोपस्थितं तथैव इन्द्रियाणि अविलुप्य वञ्चनाभ्रान्तिप्रतिपत्तिवन्ध्य-तांविरहितवागुच्चारणं तत् सत्यम्। तथा यत् सम्भ्रमेष्वन्येषु प्रयोजनेषु स्वे स्वे स्थाने समत्वात् ग्रहणस्योपरमः, तदस्तेयम्। तथा स्त्रीपुरुष संभोगे परस्परलिङ्गसंयोगे शब्दस्पर्शरूप रसगन्धेषु यः सङ्गव्युदासः श्रोत्राद्युपरतिः, असङ्कल्पश्च मनस उपरतिः स अष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यम्। एवं ह्याहुः-संयोगशब्द स्पर्शरसरूपगन्धसङ्कल्पस्मृतिधर्मफलत्यागाद्यष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यमिति। अन्यच्च।

ब्रह्म बीजं रेतस्तच्चरति न मुञ्चतीति ब्रह्मचारी ब्रह्म वेदं वा गुरुणा प्रदत्तं चरतीति । ब्रह्मा स्वयम्भूस्तस्यायं दण्डकमण्डलुधारणादिरूप आकारो ब्रह्मवच्चरतीति वा एवमर्जमक्रयविक्रयादिकल्पनाभेदानामनुपादानं सर्वथा सर्बस्वास्वीकरणम् परिग्रहः । इति पञ्च यमाः । (१) यश्चेन्द्रियाणामन्तः करणो परमस्तच्छौचं बाह्यम् मृज्जलादिना ।

अभस्यपरिहारस्तु संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः
स्व धर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत् प्रकीर्तितम् ॥

तथा यद्भैक्षयर्जितेन हविषा प्राणयात्रा । आध्यात्मिक स्याग्नेर्मन्त्रगृहीतेन होम कर्तव्यः । अहन्यहनि यज्ञशेष अशनार्थमेतदाहारलाघवं सन्तोषः । "स बां प्रथमामाहुतिं जुहुयात् प्राणाय स्वाहा" (छां० उ० अ० ५। खं० १९।) इत्यारम्य "स य इदमविद्वानग्नि होत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि हुतं ताहक् तत्स्यात्" (छां० उ० अ० ५। खं० २४।) इति श्रुतेः । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि —शरीरभोषणरूपम् । "विषया निविवर्तन्ते निराहारस्यदेहिनः ।" इतिस्मरणात् नातपस्विनो योगः सिद्धयति । अनादिवासना विचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापधत इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादनमवाधमानमासे व्यामिति मन्यन्ते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः । ईश्वरप्रणिधानं क्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा । "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" । "अनाश्रितः कर्मफलम्" इति श्रवणात् । इत्यमीषां यमनियमादीनां सेवनात् "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (पा० यो० पा २। सू० ३५) इत्याद्याः सिद्धयः । वेपरीत्ये तु वितर्कवाधने प्रतिपक्षभावनम्" । (पा० यो० पा० २। सू० ३३) "वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।" (पा० यो० पा० २। सू० ३४) एवं च वर्तमानस्य योगिनः "स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।" (पा० यो० पा० ३। सू० ५१) इति भिक्षोरेते यमनियमाः । एभिर्यमनियमैर्वा साध्यते स धर्मो व्याख्यातः । अधुनाज्ञानमाह—ज्ञानं द्विविधम् । बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र बाह्यम्—वीणापणबगन्धर्व चित्रकथागणितव्याकरण शास्त्राणि । आभ्यन्तरम्—गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणम् । अन्ये गुणाः सत्वरजस्तमांसि, अन्यः पुरुषः इति । बाह्येन ज्ञानेन लोकोपपत्तिराभ्यन्तरेण मोक्ष इति । एतत् ज्ञानं "विषयोपरमात् । वैरग्यमाह—(१) (वैरग्यमपि द्विविधम् । प्राभ्यन्तरं बाह्यं च आध्यन्तरं प्रधानमप्यत्र स्वप्नेन्द जाल सदृशमिति विरक्तस्य मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तत् ।)

अर्जनरक्षरणक्षयातृप्तिहिंसादि दोषान् दृष्ट्वा यो विषयेभ्यो विरक्तस्तस्य मोक्षो नास्तीति। आभ्यन्तरेण ज्ञानपूर्वकेण मोक्षो भवति बाह्येन संसार इति। ऐश्वर्यं ईश्वरभोवेनेत्यष्टविधम्। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा प्राप्तिः, प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वमिति, (१) (यत्र कामावसायित्व-शब्द स्तान्त्रिक्या परिभाषया सत्यसङ्कल्पार्थः। यत् यदर्थत्वेन सङ्कल्पयति तत् तस्मै प्रयोजनाय कल्पते। विषमप्यमृतकार्ये सङ्कल्प्य भोजयन् जीवयति न मारयतीत्यर्थः।) एतानि धर्मादीनि चत्वारि सात्विकरूपाणि बुद्धेः। यदा सत्वेन रजस्तमसी अभिभूते स्तस्तदा सत्वोन्द्रिवतः पुमानेतान् गुणानाप्नोति। किं चान्यत्। तामसमस्मात्, विपर्यस्तम्। अस्मात् सात्विकद्धर्मादेः, विपर्यस्तं विपरोतम्, अधर्माज्ञानाद्यं चतुर्धा बुद्धेः रूपं तामसम्। ये हिंसादयो वितर्का एकाथीदिभेदाः, पृथक् दशापि यमनियमाद्याः (२) तथा अथर्मोऽज्ञानमवैराग्य-मनैश्वर्यमित्यष्टधासात्विकतामसभेदा बुद्धिः। अस्या एवंविधाया बुद्धेरहङ्कारो जायते ॥२३॥

अनुवाद--अध्यवसाय (निश्चय) करना बुद्धि का असाधारण धर्म है। अध्यवसाय का अर्थ निश्चय या ज्ञान है। जैसे यह स्थाणु है और यह पुरुष है। यही निश्चय करना बुद्धि का लक्षण है। वह बुद्धि अष्टाङ्ग होती है। सात्विक और तामस गुण के भेद से। उसमें बुद्धि का सात्विक रूप चार प्रकार का है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य। वर्णाश्रमों का अपने सदास्वारा-नुकूल जो यमनियमादि है वही धर्म है। इसमें पाँच यम हैं, और पाँच नियम हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इनको यम कहते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान इन्हें नियम कहते हैं। इन्हीं यम नियमों के द्वारा जो सिद्ध किया जाय वही धर्म है। शाब्दिकों ने कहा भी है कि धारणार्थक धृञ् धातु से धर्म शब्द की निष्पत्ति होती हैं। दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करने (बचाने) के कारण इसे धर्म कहते हैं। इसमें स्थावर व जङ्गम प्राणियों के विषय में वाणी-मन-शरीर व कर्म द्वारा जो अद्रोह उसे अहिंसा कहते हैं। और जो वाणिमात्र के हित के लिए होय, देखे गये, अथवा सुने गये या अनुमान लगाये गये विषय में जैसा भाव अन्तः करण में होय वैसा ही ठीक इन्द्रियों द्वारा, (वञ्चना, भ्रान्ति, ज्ञानशून्यता दोषों से रहित) वाणी का उच्चारण किया जाना ही सत्य है। और जो जल्दीबाजी में अथवा खास जरूरत पड़ने पर भी जो वस्तु जिस स्थान में हो, उसके सर्वथा ग्रहणाभाव को ही अस्तेय कहते हैं। और स्त्री पुरुष के संयुक्ता-

वस्था में जब परस्पर संभोग करते हैं, तब तद्विषयक शब्द स्पर्श, रस गन्धादि— यों में अनासक्ति होना, तथा उस विषय में श्रवणनिवृत्ति, संकल्पाभाव, और मनोविराग का होना ही अष्टाङ्ग ब्रह्मचर्य है । ऐसा कहा भी है कि संयोग और शब्द स्पर्श रस रूप व गन्ध, संकल्प और स्मृत्यादि लक्षणफलाभाव को ही अष्टाङ्ग ब्रह्मचर्य कहते हैं । और ब्रह्म नाम बीज का भी है, उसकी जो सुरक्षा करे उसे ब्रह्मचारी कहते हैं । ब्रह्म नाम वेद का भी है, गुरु के द्वारा प्रदत्त वेद का जो स्वाध्याय करे । अथवा ब्रह्म स्वयम्भू का भी नाम है । उनके चिह्न दण्डकमण्डलू आदि को धारण करे, उसे भी ब्रह्मवत् आचरण करने से ब्रह्मचारी कहते हैं । इसी तरह अर्जन, क्रय, विक्रयादि भावना का परित्याग, और सर्वथा सभी वस्तुओं का अस्वीकार ही अपरिग्रह है । ये पांच यम हैं । शब्दादि विषयों से पृथक् (शून्य) मन में इन्द्रियों के उपरमण को शौच कहते हैं । बाह्य शौच मिट्टी जलादि के द्वारा होता है । कहा भी है कि अभक्ष्य पदार्थों का परिहार करना, और सज्जनों के साथ संसर्ग करना, तथा अपने धर्म में व्यवस्थित रहना यही शौच है । और भिक्षा में प्राप्त अन्न के द्वार जीवन यात्र करना, आध्यात्मिक अग्नि (ज्ञानाग्नि) का मन्त्र पूर्वक हवन करना । प्रतिदिन यज्ञशेष पदार्थ का प्रसादरूप में ग्रहण करना यह आहार लाघव ही सन्तोष है । छान्दोग्योपनिषद् में कहा भी है "स यां प्रथमाहुतिं जुहुयात्" इत्यादि । तप का मतलब है कृच्छ्रचान्द्रायणादि द्वारा शरीर का शोषण क्योंकि निराहार प्राणी को विषय अधिक नहीं सताते । स्मृति में भी कहा कि—तपस्या के बिना योग सम्पन्न नहीं होता । क्योंकि अनादि काल सम्बद्ध वासना द्वारा उपस्थिति विषय जञ्जाल रूपी अशुद्धि तपस्या के बिना समाप्त नहीं की जा सकती । अतः तपस्या का उपादान आवश्यक है । बिना किसी बाधा के चित्तप्रसादपर्यन्त उसका सेवन करना चाहिए । स्वाध्याय का अर्थ है प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप, ईश्वर प्रणिधान का मतलब है, सभी कर्मों का परमगुरु (ईश्वर) में अर्पण कर देना । अथवा उन कर्मों के फल में आसक्ति न रखना । जैसे कि गीता में भी कहा हैं "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" 'अनाश्रितः कर्म फलम्" इत्यादि यमनियमादियों के सेवन से "अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उसके सन्निधि में वैरभाव नहीं रहता" इत्यादि सिद्धियां । इसके विपरीत अवस्था में "वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्" इत्यादि सूत्र के अनुसार वितर्क-हिंसादि दोष जो कि कृत कारित और अनुमोदित, लोभ क्रोध मोह पूर्वक दुःख, अज्ञानादि अनन्त जिनका फल है । इनकी बाधा में प्रतिपक्ष की भावना करे । इस प्रकार वर्तमान योगी के "स्थानी के उप-

निमन्त्रण से सङ्ग तथा स्मयादि का न होना पुनः अनिष्ट की प्राप्ति की शंका से। ये ही भिक्षु के लिए यमनियम हैं। इन्हीं यमनियमों द्वारा जो सिद्ध किया जाता है वह धर्म है। अब ज्ञान के विषय में कहते हैं। ज्ञान दो प्रकार का होता है। बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्यज्ञान-वीणा, वाद्य, संगीत, चित्र-कला, गणित, व्याकरणादि शास्त्र है। आभ्यन्तर ज्ञान प्रकृतिपुरुष का विवेक-ज्ञान है। सत्व, रज और तमोगुण अलग है, पुरुष इनसे भिन्न है। इस प्रकार का विवेकज्ञान (भेदज्ञान) बाह्य ज्ञान से लौकिक व्युत्पत्ति ज्ञान द्वारा मोक्ष। यह मोक्षज्ञान विषय के उपरति से होता है। अब वैराग्य को कहते हैं। जो केवल अर्जन, रक्षण, क्षयादि हिंसा दोष के भयमात्र से दोषों को देखकर विषयों से विरक्त होता है। वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अपितु आभ्यन्तर ज्ञानपूर्वक वैराग्य द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है। और बाह्य ज्ञान से संसार (पुनर्जन्म) ऐश्वर्य का अर्थ है ईश्वरभावना यह आठ प्रकार का है। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिता, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अर्थात् जिसमें कामनाओं की सत्यसङ्कल्पता हो, ये धर्मादिचार बुद्धि के सात्विक रूप हैं। जब सत्वगुण के द्वारा रजोगुण और तमोगुण का अभिभव होता है। और सत्व गुण की अधिकता रहती है। तब पुरुष इन्हें प्राप्त करना है और तमोगुणप्रधान बुद्धि ठीक इसके विपरीत है। इस सात्विक धर्मादिबुद्धि के विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य अनैश्वर्य, ये तामस बुद्धि के प्रकार है। इस प्रकार बुद्धि के हिंसादि वितर्क एकाक्षी भेद हैं। और यमनियम ये दश पृथक् सात्विक बुद्धि के प्रकार हैं। अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये सब मिलाकर सात्विक और तामस भेद से आठ प्रकार से बुद्धि के भेद हैं। इस प्रकार की बुद्धि से फिर अहङ्कार उत्पन्न होता है ॥२३॥

प्रबोधिनी

निश्चय करना बुद्धि का व्यापार है। यह बात तो लोक प्रसिद्ध है कि किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने वाला पुरुष पहिले अपने ज्ञानेन्द्रियों से पदार्थ का साक्षात्कार करता है। बाद में मन से उसके विषय में विचार

करता है। पुनः अहंकार से "मैं इसे कर सकता हूँ" ऐसा अभिमान करता है। इसके बाद बुद्धि के द्वारा उक्त कार्य को करने का निश्चय करता है। तब उस कार्य में उसकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार निश्चय करना ही बुद्धि का असाधारण धर्म है। यह अध्यवसाय (निश्चय) चैतन्य के सान्निध्य में ही होता है। अन्यथा अचेतन बुद्धि का निश्चयात्मक व्यापार होना असम्भव है। इसी बुद्धि तत्व के आठ धर्म हैं। धर्म ज्ञानादि चार सात्विक बुद्धि के भेद हैं अधर्माज्ञानादि चार तामस बुद्धि के भेद है। जैसा कि माठरवृत्ति में विस्तार से वर्णन किया है। (१) इस प्रकार के चिह्नित स्थलों में माठरवृत्ति का पाठ त्रुटित मालूम पड़ता है। वृत्तिकार ने धर्म की व्याख्या करते हुए यहाँ यमनियमलक्षण धर्म को ही लिया है। क्योंकि विवेकख्याति में वही उपयुक्त भी है। जैसा कि योगदर्शन में भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है। **"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"** पा० २। सू० २८। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में धर्म के दो भेद कर दिए। एक योगादि अनुष्ठान जन्य जो कि अभ्युदय का हेतु है। और दूसरा अष्टाङ्ग-योगानुष्ठानजन्य जो निःश्रेयस का हेतु है। **"धर्मोऽभ्युदय निःश्रेयस हेतुः, तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितोधर्मोऽभ्युदयहेतुः, यष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयस हेतुः"**। वृत्ति में ज्ञान के दो भेद किए हैं। बाह्य ज्ञान जो कि लोकव्युत्पत्ति का हेतु है, और आभ्यन्तरज्ञान जो मोक्ष का हेतु है। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने **गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्** कहकर ज्ञान को संक्षेप में कह दिया, जितना कि मुमुक्षु के लिए उपयोगी है। वैराग्य का अर्थ है रागाभाव माठर ने इसके भी दो भेद किए हैं। पर यहाँ पाठ त्रटित होने से, उपलब्ध पाठ में ये बातें स्पष्ट नहीं होती। हमने उपयोगी व सङ्गत होने से गौडपाद का व्याख्यान वृत्ति में रख दिया। वैराग्य के विषय में योगभाष्य में इस तरह कहा है। **ऐहिकपारत्रिकविषयादौ दोषदर्शनान्तिरभिलाषस्य ममैते विषया वश्याः, ताहमेतेषां वश्यः। इति विमर्शो वैराग्यम्**। योग भाष्य में इसकी चार प्रकार की संज्ञायें बतलायीं हैं। यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, ऐकेन्द्रिय संज्ञा, वशीकार संज्ञा रागादिमलों के द्वारा इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में प्रवर्तित न हों, उन मलों के प्रक्षालन के लिए जो मैत्र्यादि भावना के अनुष्ठान में यत्न किया जाता है उसे यतमान संज्ञा कहते हैं। इस प्रकार मैत्र्यादि

भावना के अनुष्ठान से कुछ मल तो शान्त हो जाते हैं, अवशिष्ट मलों के शान्ति के लिए आगे मैत्र्यादि भावना में यत्न करना, इसमें पूर्वापरी भाव का निर्धारण करना कि इतने मल शान्त हो चुके हैं, अवशिष्ट मलों को भी शान्त करना है, इस प्रकार का व्यतिरेक (पृथक् भाव) पूर्वक निश्चय करना ही व्यतिरेक संज्ञा है। जब रागादिकल निवृत्त होकर (एक इन्द्रिय) मन में अवस्थित होकर किञ्चित् विषयों के प्रति उन्मिषित होती हैं, यह वैराग्य की तीसरी अवस्था है, इसे ऐकेन्द्रिय संज्ञा कहते हैं। और जब विषयों के उपस्थित होने पर भी इन्द्रियों का दृष्टानुश्रविकविषयक तृष्णा का सर्वथा अभाव हो उसे वशीकार संज्ञा कहते हैं। **दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्ठास्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।** वैराग्य की यही तृरीयावस्था है। अर्थात् सर्वोच्च स्थिति। ऐश्वर्य भी बुद्धि का ही धर्म है। जहाँ से अणिमादियों का प्रादुर्भाव हुआ है। अणिमा का अर्थ है अणुभाव अर्थात् अणिमा सिद्धि द्वारा योगी अणुभाव को प्राप्त कर लेता है। लघिमा का अर्थ हैं लघु भाव, अर्थात् इस सिद्धि के द्वारा योगी हल्का होकर आकाश में भी विहरण कर सकता है। महिमा का अर्थ महान हो जाना। स्वल्प होता हुआ भी अपना यथेच्छ महत् परिमाण वाला शरीर बना सकता है। प्राप्ति का अर्थ सभी पदार्थों का उपस्थित होना प्राकाम्य का अर्थ है इच्छा का अभिघात न होना। वशित्व का अर्थ है भूत (तन्मात्रादि-भौतिक स्थावर जङ्गमादि) को भी वश में रखना। ईशित्व का अर्थ है भूत भौतिक पदार्थों के उत्पत्ति, अवस्थिति, और संहार में सामर्थ्य रखना। इस तरह, ज्ञान, वैराग्य और अनैश्वर्य है। अधर्म ब्रह्मवधादिजन्य नरक है जो कि दुःख का कारण है। अज्ञान का अर्थ है अनित्य, अशुचि, अनात्मावदुःख में नित्य शुचि, आत्मज्ञान व सुख भावना करना। अर्थात् विपर्यय ज्ञान। अवैराग्य का अर्थ है, राग विषय वासनादियों की अभिलाषा। अनैश्वर्य का अर्थ है ऐश्वर्याभाव, अर्थात् इच्छा का विघात हो जाना, ये चार तामस बुद्धि के धर्म है। इस प्रकार सब मिलाकर बुद्धि के आठ धर्म हुए। प्रस्तुत प्रकरण में बुद्धि के सात्विक और तामस धर्मों के साथ साथ राजसधर्म का भी वर्णन करना था। परन्तु रजोगुण का सहयोग उभयविधधर्मों में रहता है। अतः राजस धर्म का पृथक् वर्ण नहीं किया ॥२३॥

इदानीमहंकारस्य लक्षणं व्याख्यास्यामः । तदुच्यते—

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव[1] ॥ २४ ॥

अब अहंकार के लक्षण की व्याख्या करते हैं—

अभिमान् (अहमत्राधिकृतः) इत्याकारक धर्म वाला अहंकार है। इसी अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है। एकादश ऐन्द्रिय गण (श्रोत्रादि से लेकर मन तक) और पांच तन्मात्रायें।

मा० वृत्ति—अभिमानोऽहंकार इति। रुपे अहम् रसे अहम् ॥२४॥-गन्धे अहम्, (१) (रुपयामि, रसयामि, जिघ्रामि) अहम् विद्वान्, अहं दर्शनीय इत्येवमाद्यभिमानोऽहङ्कारः। तस्मात् अभिमानलक्षणादङ्कारात् द्विविधः प्रवर्तते सर्ग.। सर्ग इति सृष्टेः पर्यायः। कश्चासौ सर्गः ? तदुच्यते—ऐन्द्रिय एकादशकः। श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि मनः पर्यन्तानि। तन्मात्रपञ्चकश्चैत्र। तन्मात्राण्यत्र शब्दादीनि गन्धपर्यन्तानि। एवमेकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि चोत्पन्नानि ॥२४॥

अनुवाद—अभिमान् धर्म वाला अहंकार है, मैं रूप का रस का तथः गन्ध का अनुभव करने वाला हूं। मैं विद्वान् हूं, मैं दर्शनीय हूं इत्यादि वृत्ति वाला जो अभिमान् वही अहंकार है। उस अभिमान्धर्मक अहंकार से दो प्रकार का सर्ग होता है। सर्ग यह सृष्टि का पर्यायवाचक शब्द है। वह कौन सा सर्ग है इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि एक तो ऐन्द्रिय सर्ग, जो कि श्रोत्र से लेकर मन पर्यन्त ग्यारह हैं। और दूसरा सर्ग है पंचतन्मात्रा। ये तन्मात्रायें शब्द से लेकर गन्धपर्यन्त। इस प्रकार अहंकार से एकादश इन्द्रियां और पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं ॥२४॥

प्रबोधिनी

महत्तत्व के बाद अब अहंकार की व्याख्या करते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों से किसी वस्तु को देखकर, बुद्धि से विचार करके "मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूं" यह मेरे लिए ही है, मैं इसका कर्ता भोक्ता हूं। इस प्रकार का प्राणियों को अभिमान होता है, यही अभिमान रूप असाधारण व्यापार ही अहंकार का लक्षण है। इसी अहंकार के सात्विक अंश से (पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, एक मन) एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। और तामस अंश से पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार अहंकार महत्तत्व के कार्य होने से, यह अन्तःकरण का ही एक अंश है। और यह अहंकार'मंमकारधर्मक है। क्योंकि बुद्धि के द्वारा निश्चित अर्थ में ही

(अहंकार ममकार) मैं इसका कर्त्ता हूं, और यह मेरा है इस प्रकार का अभिमान होता है। भिक्षु का कहना है कि वस्तुतः अन्तःकरण तो एक ही है, यही बीज, अंकुर, महावृक्षादि की तरह (निश्चयात्मक, अहंकारात्मक, और संकल्पात्मक) तीन अवस्थाओं से युक्त है। और इसमें कार्यकारणभाव भी बतलाया है। "अभिमानोऽहंकारः (॥२॥ अ. ।२।१६। सू.)" इस सूत्र के भाष्य में लिखा भी है, "अहंकारोतीत्यहंकारः कुम्भकारवत्, अन्तःकरणद्रव्यम्, सच धर्मधर्म्यभेदादभिमान इत्युक्तोऽसाधारणवृत्तितासूचनाय बुद्ध्यानिश्चित एवार्थेऽहंकारममकारौ जायेते। अतो वृत्योः कार्यकारणभावानुसारेण वृत्तिमतोरपि कार्यकारण भाव उन्नीयते। इति प्रागेवोक्तम्। अन्तःकरणमेकमेव बीजांकुरमहावृक्षादिवदवस्थात्रयमात्र भेवात् कार्यकारणभावमापद्यत इति च प्रागेवोक्तम्। अतएव वायुमत्स्ययोरपि—"मनो महान् मतिर्ब्रह्मा भूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः" इति मनोबुद्ध्योरेकपर्यात्वमुक्तामेति।" इस प्रसंग में भिक्षु तथा वाचस्पति मिश्र के व्याख्यान में कुछ भिन्नता प्रतीत होती है। जब कि भिक्षु के मत में बुद्धि के द्वारा निश्चित अर्थ में ही अहन्ता और ममता होती है। पर वाचस्पति मिश्र का कहना है कि अहंकार का आश्रय लेकर बुद्धि निश्चय करती है। तत्वकौमुदी में यह इस प्रकार है—"अभिमानोऽहंकारः।" यत् खल्वालोचितंमतं च तत्राहमधिकृतः —शक्तः खल्वहमत्र —मदर्था एवामी विषयाः। मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति। अतोऽहमस्मि इति योऽभिमानः —सोऽसाधारणव्यापारोऽहंकारः। तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति। "कर्तव्यमेतन्मया" इति ॥२४॥

अथाह —त्रिविधोऽहंकारस्तं व्याख्यास्यामः। तत्र कतरस्मादहङ्कारात् इन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते, कतरस्माद्वा तन्मात्राणीति। अत्रोच्यते—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः, तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

संगति--त्रिविध अहंकार की व्याख्या करते हैं, कि किस अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, और किस अहंकार से तन्मात्रायें, इन सब बातों का विवेचन इस कारिका में है। सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। पूर्वाचार्यों ने इसकी वैकृतिक संज्ञा की है। और तामस अहंकार से पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। पूर्वाचार्यों में जिसकी भूतादि संज्ञा की है और तैजस संज्ञक राजस अहंकार से उभयविध सर्ग (एकादश इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्रायें) होता है। (अर्थात्-सत्वगुण के निष्क्रिय होने से और तमोगुण

के मूढ़ होने से रजोगुण के सहयोग के विना सृष्टि असम्भव है। अतः क्रियात्मक रजोगुण का दोनों के साथ सहयोग है ।।२५।।)

मा० वृत्ति—सात्विक इति। यदा सत्वमुत्कटं भवति अहङ्कारे तेन च सत्वेन रजस्तमसी अभिभूते स्यातां तदा सात्विकोऽहङ्कार उच्यते। तस्य सात्विकस्य वैकृतिक इति पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता। स वैकृतिको भूत्वा अहङ्कार एकादशेन्द्रियाणि उत्पादयति। तस्मात् सात्विकानीमानि विशुद्धानि स्व विषयग्रहण समर्थानि भवन्ति। तस्मादुच्यते—"सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।" इति। भूतादेस्तन्मात्रः। भूतादेः तमोबाहुल्यात् गौणीभूत-सत्वरजसो भूतादिनाम्नः पूर्वाचार्यैनिरूपितादहङ्कारात् तन्मात्रः शब्दादिपञ्चको गणो जायते। अभिभूत सत्व तमसो राजसात् तैजसाभिधानादहङ्कारात् प्रवृत्तिकर्मण उभयं प्रकाशात्मकमेकादशेन्द्रियकं मोहात्मकं तान्मात्रिकं चासीदिति सम्बन्धः। तैजस एव राजसेऽहंकारे क्रियाशक्तिरस्ति। सत्वं निष्क्रियमेकाकि न शक्नोति उत्पादयितुम्। तमश्च मूढत्वादक्रियमसमर्थं विना रजः सृष्टि-मुत्पादयितुम्। अत उभे सत्वतमसी सृष्टिविषये रजसाऽनुगृहीते ऐन्द्रियकं तान्मात्रिकं च गणद्वयं जनयत इति तात्पर्यार्थः ।।२५।।

अनुवाद—सात्विक इत्यादि। जब अहंकार में सत्व गुण उत्कट होता है, तो सत्व गुण के द्वारा रजोगुण और तमोगुण अभिभूत हो जाते हैं। इसे सात्विक अहंकार कहते हैं। इसी सात्विक अहंकार की पूर्वाचार्यों ने वैकृत्रिक संज्ञा की है। वह वैकृतिक अहंकार होकर एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। इसीलिए ये इन्द्रियाँ विशुद्ध सात्विक और अपने-अपने विषय ग्रहण में समर्थ होती हैं। इसीलिए कारिका में भी कहा है कि "सात्विक एकादशः" इत्यादि। "भूता-देस्तन्मात्र इत्यादि' भूतादि तमोगुण के प्रबल होने से जब सत्व और रजोगुण अप्रधान हो जाते हैं। पूर्वाचार्यों ने जिसकी भूतादि संज्ञा की है; उस तमो-गुणात्मक भूतादिनामक अहंकार से तन्मात्रगण अर्थात् शब्दस्पर्शादि पाँच तन्मात्रगण उत्पन्न होता है। सत्व और तमोगुण को दबाने वाले तैजस संज्ञक राजस अहंकार से जो कि प्रवृत्तिशील है, उससे प्रकाशात्मक एकादश इन्द्रियगण और मोहात्मक तन्मात्रगण उत्पन्न होता है, क्योंकि तैजससंज्ञक राजस अहंकार में ही क्रिया शक्ति रहती है। सत्वगुण तो निष्क्रिय होने से अकेला उत्पादन में समर्थ नहीं है इसी प्रकार तमोगुण भी मूढ़ होने से स्वयं निष्क्रिय होता हुआ क्रियात्मक रजोगुण के बिना सृष्टि में समर्थ नहीं होता है। इसीलिए सृजनव्यापार में दोनों सत्वगुण और तमोगुण रजोगुण से अनुगृहीत (अन्वित) होकर ही ऐन्द्रियक और तान्मात्रिक दोनों गणों को उत्पन्न करते हैं, यही तात्पर्यार्थ है ।।२५।।

प्रबोधिनी

अहंकार त्रिगुणात्मक है। इसमें सत्व, रज और तमोगुण रहते हैं। इन गुणों में जब सत्व की अधिकता होती है तो सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण को दबा देता है। इसी सात्विक-अहंकार की वैकृत संज्ञा है। तब इस वैकृत संज्ञक सात्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। इसमें भी उत्कट सत्व प्रधान अहंकार से सर्व प्रथम मन की उत्पत्ति होती हैं। मध्यम सत्व प्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और निकृष्ट सत्व प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। सत्वगुण की प्रधानता से ही इन्द्रियों को सात्विक कहा जाता है। सात्विक होने के कारण ये इन्द्रियाँ प्रकाशकत्व और लाघव धर्म युक्त हैं। जब तमोगुण की अधिकता के कारण सत्वगुण व रजोगुण का अभिभव होता है, तो उस अहंकार को भूतादि कहते हैं। तमोगुण की अधिकता से इसे तामस अहंकार भी कहते हैं। इसी भूतादि संज्ञक तामस अहंकार से समान स्वभाव वाले शब्दादि पंच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। जब रजोगुण की अधिकता से सत्व और तम अभिभूत होते हैं, तब उस अहंकार को तैजस कहते हैं। तैजस संज्ञक राजस अहंकार से उभय विध सर्ग होता है। क्योंकि वैकृत अहंकार जब विकृत होकर एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न करना चाहता है, तो स्वयं निष्क्रिय होता हुआ अपने कार्य में समर्थ नहीं होता, अतः क्रियास्वभाव वाले तैजस अहंकार की अपेक्षा रखता है, इसी तरह भूतादि संज्ञक तामस अहंकार भी मूढस्वभाव होने से स्वयं निष्क्रिय होता हुआ तन्मात्र रूपी अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। वह भी तैजस अहंकार की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार तैजस अहंकार दोनों का सहायक होता हुआ द्विविधकार्य का कारण बनता है। अतः इसकी भी सार्थकता सिद्ध हुई। परन्तु विज्ञानभिक्षु के मत में सात्विक अहंकार से केवल मन की उत्पत्ति होती है। और राजस अहंकार से उभयविध इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तथा तामस अहंकार से पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। वे अपनी इस व्याख्या की प्रामाणिकता के लिए स्मृति एवं पुराणों से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। तथा उक्त कारिका का अर्थ भी वे पुराणानुसारी ही मानते हैं। इस प्रसंग में द्रष्टव्य सांख्य-प्रवचनभाष्य के द्वितीय अध्याय का अठारहवें सूत्र का भाष्य॥२५॥

तत्र कानि बुद्धीन्द्रियाणि कानि कर्मेन्द्रियाणीति ? उच्यते—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि[2] ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान्[3] कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥२६॥

संगति—इन एकादश इन्द्रियों में कौन-सी ज्ञानेन्द्रियां हैं, और कौन-सी कर्मेन्द्रियां हैं, इसी का विवेचन इस कारिका में करते हैं।

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, नासिका, ये ज्ञानेन्द्रियां हैं। और वाक्, (वाणी) पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, इन्हें कर्मेन्द्रियां कहते हैं ॥२६॥

मा० वृत्ति—श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणीति उच्यन्ते। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् बुद्धयन्ते इति बुद्धीन्द्रियाणि। इन्द्राण्येव तानीन्द्रियाणि। इन् इति विषयाणां नाम, तानिनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः। कर्म कुर्वन्ति कारयन्ति च। कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः। वाक् वदतिकर्म हस्तौ ग्रहणकर्माणौ, पादौ विषमसमनिम्नोन्नतभूप्रदेशेषु क्रामतः, पायुर्यथाभुक्तान्नोदकमलमुत्सृजति, उपस्थ आनन्दं करोति पुत्रमुत्पादयतीत्यर्थः। एवमेताः कर्मेन्द्रियाणां वृत्तयो व्याख्याताः ॥२६॥

अनुवाद—श्रोत्रादियों को ज्ञानेन्द्रियां कहते हैं। क्योंकि इनके द्वारा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का ज्ञान होता है। इस तरह ये इन्द्र (आत्मा) (का ज्ञान) के ज्ञापक होने से इन्हें इन्द्रियां कहते हैं। अथवा इन् यह विषयों का नाम, है। उन विषयों की ओर जो अभिमुख हों उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, इन्हें कर्मेन्द्रियां कहते हैं। ये स्वयं कर्म करते हैं, और कराते हैं। कर्मेन्द्रियों का व्यापार इस तरह है, वाणी का कार्य बोलना है, हाथों का कर्म ग्रहण करना है, और पैरों का कर्म विषम समनिम्नोन्नत भूमि देश में चलना है। पायु का काम ठीक खाये हुए अन्नोदक के मल का उत्सृजन करना है। उपस्थ का काम आनन्द करना है। पुत्रोत्पन्न करना इस तरह से कर्मेन्द्रियों के व्यापार का व्याख्य न कर दिया ॥२६॥

प्रबोधिनी

सात्विक अहंकार से उत्पन्न होने वाली एकादश इंद्रियां हैं। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने "सात्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रयत्वम्," ऐसा इंद्रिय का लक्षण किया है। ये दो प्रकार की होती हैं। ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां। इंद्र कहते हैं आत्मा को उसके ये उभयविध इंद्रियां चिह्न (ज्ञापक या अनुमापक) होने से उन्हें इंद्रियां कहते हैं। माठर वृत्ति में इसकी व्याख्या इस प्रकार है। "इन् यह नाम विषयों का है; उन विषयों के प्रति जो अभिमुख हों उन्हें इंद्रियां कहते हैं। इसमें शब्द को ग्रहण करना श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, और स्पर्श को ग्रहण करना त्वगिन्द्रिय का विषय है। रूप ग्रहण करना चक्षु का विषय, रसं ग्रहण करना रसना का विषय, गन्ध ग्रहण करना नासिका का विषय, कर्म-

न्द्रियों का व्यापार वृत्ति में स्पष्ट लिखा है। अतः यहाँ उनका पिष्टपेषण करना उचित नहीं। इस कारिका का पाठ कुछ भिन्न है। जबकि तत्वकौमुदी आदि में यह कारिका इस प्रकार है। "**बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः**" ॥२६॥ कहीं-कहीं "**वाक्पाणिपादपायूपस्थानि**" ऐसा भी पाठ है ॥२६॥

अत्राह—मन इन्द्रियं तत् किं लक्षणमिति। अत्रोच्यते—

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च[1] ॥ २७ ॥

यदि मन इंन्द्रिय है तो फिर उसका लक्षण क्या है? उत्तर में कहते हैं कि एकादश इंन्द्रियों के मध्य में मन उभयात्मक है। अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय भी और कर्मेन्द्रिय भी। इन्द्रिय साधर्म्य होने से मन इंन्द्रिय हैं। संकल्प विकल्प करना मन का असाधारण व्यापार है, धर्माधर्म रूप (अदृष्ट) गुणपरिणाम के वैचित्र्य से तथा विषय भेद से भी अहंकार तथा उसके कार्य इंद्रियों में भी नानात्व है ॥२७॥

मा० वृत्ति—उभयात्मकमत्र मनः। कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियम्। बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियम। यथा देवदत्तो गोपालमध्ये स्थितो गोपालत्वं कुरुते। मल्लमध्ये स्थितो मल्लत्वं कुरुते। कस्मात्? यस्मात् बुद्धीन्द्रियाणां वृत्ति सङ्कल्पयति कर्मेन्द्रियाणां च। तस्मादुभयात्मकं मनः। किं चान्यत्। इंन्द्रियं च साधर्म्यात्। सह धर्मस्यभावः साधर्म्यम्। यस्मात् कर्मेन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि च सात्विकादशङ्कादुत्पद्यन्ते, मनोऽपि तस्मादेव उत्पद्यते। तस्मादिन्द्रयं मनः। तत्र मनसः का वृत्तिः? सङ्कल्पो वृत्तिः। बुद्धीन्द्रियाण्णां शब्दादयो वृत्तयः। कर्मेद्रियाणां वचनादयः। एवमेकादशेन्द्रियाणि सह वृत्तिभिर्व्याख्यातानि। अत्राह—एकादशेन्द्रियाणि केन कृतानि पुरुषेण, ईश्वरेण, आहोस्वित् स्वभावेनेति। कुत इयमाशङ्किति चेत्, इमान्येकादशेन्द्रियाणि एकादशविषयग्राहकाणि भवन्ति। तत्रान्तःकरण प्रधान बुद्धयहङ्काराद्यचेतनम्। ततश्च नूनं चेतनेन पुरुषेणेश्वरेण वा स्वभावेनेति। अत्रोच्यते—गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च। सत्वादयस्त्रयोगुणास्ते यथा परिणमन्ति तस्माद्गुणपरिणाम विशेषादिमान्येकाशेन्द्रियाणि नाना। तदर्थानि भिन्नानि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्चानां, सङ्कल्पश्च मनसः। एतेषामेव एकादशानामिन्द्रियाणि ग्राहकाणि भविष्यन्ति। अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण न बुद्धया नाहङ्कारेण न प्रधानेन न पुरुषेण न स्वाभावेन कृतम्।

गुणपरिणामेनेति। यद्यपि उक्तमचेतनानां गुणानां वृत्तिरयुक्तेति। तन्न,

कस्मादिति चेत्, तदुच्यते। अचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा। वक्ष्यति हि—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ इति।

तस्मादचेतना अपि गुणा एकादशेन्द्रियभावेन परिणमन्ति। अत्राह— गृह्णीमस्तावदेकादशेन्द्रियाण्यहङ्कारादुत्पन्नानीति। एतेषामिन्द्रियाणां यथास्थान-निक्षेपः केन कृतः। चक्षुरुच्चैः सन्निविष्टं दूरालोकने समर्थं भविष्यतीति। शिरः प्रदेशे श्रोत्रं सन्निविष्टं दूरात् श्रवणसमर्थं भविष्यतीति। त्वक् शरीरा-भ्यन्तरे बहिश्च सन्निविष्टा नानास्पर्शग्रहणसमर्था भविष्यतीति। एवं नासिका वाक्। (वागादि च)। एवमिन्द्रियाणां निक्षेपः पुरुषेण वा कृत ईश्वरेण वा स्वभावनेति अत्रोच्यते इह सांख्ये पुरुषेश्वरस्वभावा न कारणम्। किं तर्हि-अस्मिनहङ्कारे स्थितैः सत्वरजस्तमोभिस्त्रिभिर्गुणैर्निक्षेपः कृतः। तस्माद् ब्रूमः— "गुणपरिणामविशेषासान्नानात्वं ग्राह्यभेदाच्च"। गुणपरिणामविशेषादेकाद-शेन्द्रियाणां भेदः ग्राह्यभेदाच्च। ग्राह्या एकादशेन्द्रियार्थास्तेषां भेदादपीन्द्रियाणा भेदः ॥२७॥

अनुवाद—मन उभयात्मक है। कर्मेंद्रियों में कर्मेन्द्रिय, और ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञानेन्द्रिय। जैसे—देवदत्त गोपालों के बीच में गोपालन कर्म करता है, और मल्लों के बीच में मल्ल कर्म; यह कैसे? इसलिए कि ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों की वृत्तियों की सम्यक् कल्पना मन ही करता है। इसलिए मन उभयात्मक है। और भी मन इन्द्रिय है साधर्म्य होने से। समान धर्म के भाव को साधर्म्य कहते हैं। क्योंकि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय सात्विक अहंकार से उत्पन्न होते हैं, मन भी सात्विक अहंकार से ही उत्पन्न होता है। (उभयविध इंद्रियों का और मन का एक सात्विक अहंकार से उत्पन्न होना ही साधर्म्य है,) इसलिए मन इन्द्रिय है। तो फिर मन की वृत्ति (व्यापार) क्या है। संकल्प करना ही मन का असाधारण व्यापार है। ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार शब्दादिग्रहण करना है, और कर्मेन्द्रियों का व्यापार वचनादि है। इस प्रकार एकादश इन्द्रियों को उनके व्यापार सहित व्याख्यान कर दिया। फिर प्रश्न करते हैं कि इन एकादश इंद्रियों को किसने बनाया। पुरुष ने, ईश्वर ने? अथवा स्वभाव ने। यह शंका ही आपको कैसे हुई इस पर कहते हैं कि ये एकादश इंद्रियाँ अपने-अपने एकादश विषयों को ग्रहण करती हैं। इनमें अन्तः करण प्रधान, बुद्धि, अहंकार तो अचेतन हैं, (अतः उनसे तो सम्भव है नहीं) जरूर किसी चेतन पुरुष, ईश्वर, अथवा स्वभाव के द्वारा ये बनाई गई होंगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि गुणों के परिणाम वैचित्र्य से इनमें नानात्व है। और ग्राह्य विषयों के भेद से भी। सत्वादि तीन गुण हैं, उनका जिस प्रकार

का परिणाम है, तदनुरूप गुणपरिणाम विशेष से उनमें नानात्व हैं। जिनके विषय भी विभिन्न हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध हैं। और कर्मेन्द्रियों के वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, और आनन्द हैं। संकल्प विकल्पात्मक मन है, इन्हीं एकादश विषयों को ग्रहण करने वाली एकादश इंद्रियाँ हैं। यह जो इंन्दियों में नानात्व हैं, उसे न तो ईश्वर ने, न बुद्धि ने और न अहंकार ने, न हीं प्रधान ने, न पुरुष ने, अथवा न स्वभाव ने ही बनाया है। अपितु यह तो गुणों का परिणाम है। यद्यपि अचेतन गुणों का यह व्यापार अयुक्त हैं। तथापि यह भी सम्भव है। क्योंकि अचेतनों में भी प्रवृत्ति देखी गई हैं। स्वयं आगे इस बात को "वत्सविवृद्धि निमित्तम्" इत्यादि कारिका से कहेंगे इसलिए अचेतन गुण भी एकादश इंद्रिय रूप में परिणत होते हैं। यहाँ एक बात और पूछते हैं, माना कि एकादश इंद्रियाँ अहंकार से उत्पन्न होती हैं। पर इन इंद्रियों का यथास्थान—निवेश किसने किया ? जैसे आंख को ऊपर इसलिए रक्खा ताकि दूर तक देखने में समर्थ हो, इसी तरह शिर प्रदेश में कर्ण का निवेश, जिससे कि दूर से सुन सके। और त्वचा को शरीर के अन्दर व बाहर इसलिए सन्निविष्ट किया जिससे कि वह अनेक प्रकार के स्पर्श का अनुभव करे जिह्वा को मुख के अन्दर रक्खा जिससे कि नाना प्रकार के रसों का अनुभव करे। इसी प्रकार नासिका व वागादि को तो इन इंद्रियों का निक्षेप पुरुष ने किया, ईश्वर ने, अथवा स्वभाव ने। उत्तर में कहते हैं कि—यहाँ सांख्य शास्त्र में पुरुष, ईश्वर अथवा स्वभाव को कारण नहीं माना जाता। अपितु इस अहंकार में स्थित सत्व रज और तमोगुण के द्वारा ही इंद्रियों का यथास्थान निक्षेप हुआ है। इसीलिए कहा है कि "गुण परिणाम विशेषान्नानात्वं ग्राह्य भेदाच्च।" गुणों के परिणाम वैचित्र्य से ही एकादश इंद्रियों का भेद बनता है। और ग्राह्य जो एकादश इंद्रियों के विषय हैं, उनके भेद से भी एकादश इन्द्रियों की भिन्नता सिद्ध है।।२७।।

प्रबोधिनी

एकादश इन्द्रियों के मध्य में मन उभयात्मक है। क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां और वाक् आदि कर्मन्द्रियां मनोवृत्ति से संयुक्त होने पर ही अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। व्यवहार में भी यह देखने में आता है कि 'अन्यत्रमना अभूवम् नापश्यम्" "अन्यत्रमना अभूवम् नाश्रौषम्" (अर्थात् मेरा मन कहीं अन्यत्र था इसलिए नहीं देख सका, और मनके अन्यत्र होने से कुछ सुन भी न सका।) इस प्रकार मनो व्यापार के बिना इन्द्रियां अपने अपने व्यापार में असमर्थ होती हैं। अतः सहकारी भाव से मन उभयात्मक

है। संकल्प विकल्प करना मन का असाधारण धर्म है। तब भी इसे अन्तः करण न मानकर इन्द्रिय मानते हैं। क्योंकि जिस प्रकार अन्य इन्द्रियाँ सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुई हैं, इसी तरह मन भी सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुआ है। इसी साधर्म्य के कारण मन इन्द्रिय है। वस्तुतः इन्द्रिय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ सात्विकाहंकारोपादानत्व ही मानना होगा, न कि पूर्वोक्त इन्द्रियलिङ्गत्व यह तो केवल व्युत्पत्ति मात्र है। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है, **"अन्यद् हि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम्"**। इत्यादि। अर्थात् शब्दों का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कुछ और होता है, और प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ कुछ और होता है, व्युत्पत्तिजन्य अर्थ में प्रकारतया भासमान अर्थ को व्युत्पत्तिनिमित्ति कहते हैं। जैसे कुशल शब्द में कुशग्राहित्व। और शक्ति ज्ञान में प्रकार तथा भासमान अर्थ को प्रवृत्ति निमित्त कहते हैं। जैसे गो में गोत्व। कहने का तात्पर्य यह है कि यहां इन्द्रिय शब्द का अर्थ पाचकादि की तरह यौगिक नहीं माना जायेगा, अपितु पङ्कजादिवत् योगरूढ़ ही मानना होगा। तब इन्द्रिय का परिष्कृत लक्षण इस तरह बनेगा। **"सात्विकाहंकारोपादानत्वे सति इन्द्रलिङ्गत्वम्, इन्द्रियत्वम्"**। एक प्रश्न यह है कि एक प्रकार के सात्विक अहंकार से विभिन्न व्यापार करने वाली एकादश इन्द्रियां कैसे उत्पन्न हो गयीं। उत्तर यह है कि धर्माधर्म सहकृत गुणविमर्द के वैचित्र्य से अहंकार में भी वैचित्र्य आ जाता है, तब उसके परिणामस्वरूप इन्द्रियों में भी वैचिन्य का होना स्वाभाविक है ; यहाँ "गुणपरिणाम" इस शब्द का "अदृष्ट विशेष" अर्थ लेना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि गुणों की प्रवृत्ति पुरुषोपभोग के लिए ही हुआ करती है, और पुरुष शब्दादि विषयों का अनुभव साक्षात् नहीं कर सकता अपितु अदृष्ट सहकृत इन्द्रयोपस्थापित होने पर ही, उसमें भी एक ही इन्द्रिय द्वारा निखिल शब्दादि विषयों की उपस्थिति नहीं हो सकती, अतः अगत्या इन्द्रिय नानात्व स्वीकार करना ही पड़ता है। जैसे तामस अहंकार से अनेक प्रकार के बाह्य अथवा ग्राह्य नाना विषय उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार सात्विक अहंकार से भी नाना इन्द्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ॥२७॥

अत्राह—का कस्य वृत्तिः ? उच्यते—

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥२८॥

किस इन्द्रिय का क्या व्यापार है, इसे कारिका में बतलाते हैं। रूपरसादि पांच विषयों में पञ्चज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषय का आलोचन (ग्रहण) करना असाधारण व्यापार है, और पाँचों कर्मेन्द्रियों का भी वचन (बोलना) आदान (ग्रहण करना) विहरण (चलना) उत्सर्ग (मलत्याग करना) और आनन्द (रति) करना असाधारण व्यापार है ? ॥२८॥

मा० वृत्ति—मात्र शब्दो विशेषार्थः। यथा भिक्षामात्रं लभ्यते नान्यो विशेषः। तथा चक्षुः। गतार्थे आलोचनमात्रमिति। एकैकस्य प्रतीन्द्रियं स्वविषयग्रहणसामर्थ्यमेव, नहि चक्षुः श्रवणसमर्थं दानादानसमर्थं वा ॥२८॥

अनुवाद—मात्र शब्द यहाँ विशेषार्थक है। जैसे—भिक्षा मात्र मिलता है, और कुछ नहीं ऐसे ही चक्षु का भी व्यापार रूपमात्र में है, न कि रसादियों में, इस तरह तत्तदिन्द्रियों का अपना-अपना विषय ग्रहण करना ही सामर्थ्य हैं। चक्षु न तो सुनने में समर्थ है और न ग्रहण करने में ही ॥२८॥

प्रबोधिनी

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विशेष व्यापार दिखलाते हुए कहते हैं कि, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने रूपादि विषयों में आलोचन करना असाधारण व्यापार है। जैसे चक्षु का रूपग्रहण करना, श्रोत्र का सुनना, त्वक् का स्पर्श ज्ञान करना, रसना का रसास्वादन, और घ्राण का गन्ध ग्रहण करना, इसी तरह कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, इनका क्रमशः बोलना, लेना-देना, चलना, मलत्याग करना, आनन्दानुभव करना, असाधारण व्यापार है। "**आलोचन मात्रम्**" में मात्र शब्द अन्य व्यावृत्तिपरक है। जैसा कि वृत्तिकार ने भी कहा है कि "मात्र शब्दो विशेषार्थकः"। अर्थात् मात्र शब्द यहाँ तत्तद् इन्द्रियों के निर्दिष्ट व्यापार से व्यापारान्तर का व्यावर्तक है। इस कारिका में "आलोचनम्" यह एक नया शब्द आया है। चन्द्रिकाकार ने इसका अर्थ "निर्विकल्पकम्" किया है। इसी प्रसङ्ग में वाचस्पति मिश्र ने तत्वकौमुदी में कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक का यह पद्य उद्धृत किया है। "**अस्तिह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्**" इत्यादि। अर्थात् आलोचनज्ञान=इन्द्रियसन्निकर्षजन्यज्ञान प्रथमतः बालमूकादि ज्ञान के समान निर्विकल्पक ही होता है। क्योंकि गवादि के चक्षुसन्निकृष्ट होने पर प्रथमतः बालक को वस्तुसामान्यरूप से ही ज्ञान होता है, न कि गोत्वादि विशेष यही वस्तुसामान्यरूप ज्ञान ही आलोचन है। जैसा कि मिश्र जी ने स्वयं अपने शब्दों में लिखा

है, "बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुखवस्तुमात्र दर्शनमालोचनयुक्तम्"। वृत्तिकार ने यहाँ आलोचन का सीधा सादा अर्थ स्वविषय ग्रहण सामर्थ्य ही बतलाया है।

उपस्थ के विषय में शास्त्रीयनिर्देश कुछ अस्पष्ट जैसा लगता है। जिस प्रकार चक्षु का विषय रूप है, चक्षु के द्वारा हम रूप का अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकार उपस्थ का विषय आनन्द मानना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आनन्द तो एक प्रकार का बोध विशेष है। अतः बोध विशेष को कर्मेन्द्रिय का विषय मानना उचित नहीं। साथ ही साथ यह नियत भी नहीं है, अत्युपस्थक्रीडा से कभी-कभी पीडा का भी अनुभव होता है। उपस्थ का विषय प्रसव और बीजसेक ही उचित है। कारिका में उपस्थ का विषय जो आनन्द बतलाया है वह तो सुख का कारणीभूत जो स्त्री-पुरुष संसर्ग विशेष=उसी में आनन्द का भी उपचार कर दिया है।।२८।।

अतः उर्ध्वं बुद्धयहङ्कारमनोवृत्ति वक्ष्यामः। तदुच्यते—

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

अब बुद्धि, अहंकार और मन के वृत्तियों का वर्णन करते हैं कि बुद्धि अहंकार और मन इन तीनों का अपना-अपना लक्षण ही इनका व्यापार है। जैसे बुद्धि का निश्चय करना, अहंकार का अभिमान करना और मन का संकल्प करना असाधारण व्यापार है; परन्तु प्राणादि पञ्चवायु के द्वारा (शरीरधारण रूप) जीवनादि व्यापार समस्त अन्त करण का सामान्य व्यापार है।।२६।।

मा० वृत्ति—स्वालक्षण्येति। बुद्धेरध्यवसाय उक्तः प्राक् लक्षणम्। तस्या स एवाध्यवसायो वृत्तिः एवमभियानोऽहङ्कारलक्षणम्। तस्य वृत्तिरवि स एव। मनसः सङ्कल्पो लक्षणम्। तस्यापि स एव वृत्तिः येन येन लक्षणेनामी लक्ष्यन्ते तेषां स एव वृत्तिः एवं या बुद्धीन्द्रियाणां न सा कर्मेन्द्रियाणाम्। या च कर्मेन्द्रियाणां न सा बुद्धीन्द्रियाणाम्। बुद्धयहङ्कारमनसां वृत्तिरभिहिता। साप्यसामान्या। अध्यवसायाभिमान सङ्कल्पलक्षणा। सैषा भवत्यसामान्या असाधारणा एवमुक्ते अर्थात् गम्यते सामान्याऽपि साधारणापि वृत्तिरस्ति। यदपेक्षयाऽसामान्येत्युच्यते। एवमिन्द्रियाणामसामान्य वृत्तिराख्याता कुलस्त्रीस्थानीया। अत उर्ध्वं सामान्या वृत्तिरुच्यते। सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च। सामान्यकरणवृत्तिः—समस्तस्यान्तःकरणस्येत्यर्थः। प्राणाद्या वायवः पञ्चेति प्राणापानोदानसमानव्यानाः सर्वेषामिन्द्रियाणां सामान्यं कुर्वन्ति। स प्राणो

नाम यो मुखनासान्तरगो वाह्ये चास्य विषये वृत्तिः। प्राणनात् प्राण एष इत्यभिधीयते। अस्मिन् प्राणे यत् स्पन्दन कर्म तत् कतमेन कृतम्। इत्यत्रोच्यते—त्रयोदशविधेन करणेन कृतम्। यतश्चैवम्, तस्मात् प्राणकर्म सर्वस्य करणग्रामस्य वृत्तिः सामान्या। अपि चात्र दृष्टान्तः—यथा कस्मिंश्चित् राजगृहे पञ्जरे शुकाः प्रतिवसन्ति, तेभ्यो देवदत्तेन ओदनो दर्शितः। ओदनं दृष्ट्वा सर्वे प्रचलिताः। तदा पञ्जरकमपि चलितम्। यत् पञ्जरस्य प्रचलनं कर्म तत् सर्वेषां शुकानां सामान्यम्। तद्वत् प्राणे यत् स्पन्दन कर्म तत् सर्वेषामिन्द्रियाणां सामान्यम्। किं चान्यत् अपानेनोत्सृजति। इतश्चापक्रमणादपान इत्युच्यते। अपान बहुलश्च देवदत्तः सर्वं दृष्ट्वा अपसर्पति। एसोऽपानः। तस्मिन्नपाने यत् स्पन्दन कर्म तत् सर्वेषामिन्द्रियाणां सामान्यावृत्तिः। आरोहणादर्थोत्कर्षे उदान इत्यभिधीयते। नाभिप्रदेशादुत्थिते गच्छति। उदानवृत्तिश्च देवदत्त आनन्दोत्कर्षं मृगयति। अहमादयोऽस्मादाद्यतरः कथं स्यामित्येष उदानः। अस्मिन्नुदाने यत् स्पन्दनकर्म तत् सामान्यावृत्तिः सर्वेन्द्रियाणाम्। किञ्चान्यत्—हृद्यवस्थानं सहभावश्च तेन समानः। यो वायुः हृद्देशे वर्तते स समानः तद्बहुलश्च एकाकी न रमते एष समानः तस्मिन् यत् स्पन्दन कर्म तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः। किञ्चान्यत्—शरीरव्यापितया व्यानः। व्यानबहुलो देवदत्तश्च अत्यन्तमन्येन विना। रमते। तस्मिन् व्याने यत् स्पन्दनकर्म तत् सर्वेषामिन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः। तदेवं सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवो व्याख्याताः ॥२९॥

अनुवाद—स्वालक्षण्येति—अध्यवसाय करना बुद्धि का लक्षण है। यह पहले कह चुके हैं। वही अध्यवसाय बुद्धि का व्यापार भी है। इसी प्रकार अभिमान करना अहंकार का लक्षण है। और उसका व्यापार भी वही है। संकल्प करना मन का लक्षण है। उसका भी वही व्यापार है। जिन-जिन लक्षणों से ये लक्षित होते हैं वही उनका व्यापार भी है। इस प्रकार जो बुद्धीन्द्रियों का व्यापार है, वह कर्मेन्द्रियों का नहीं, और जो कर्मेन्द्रियों का व्यापार है वह बुद्धीन्द्रियों का नहीं। बुद्धि, अहंकार, मन, की वृत्तियों, को कह दिया। ये वृत्तियाँ असाधारण हैं, क्रमशः—अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प जिनका लक्षण है। ये असामान्य वृत्तियां हैं, ऐसा कहने से प्रतीत होता है कि सामान्यवृत्तियाँ भी हैं जिनकी अपेक्षा ये असमान्य हैं। इस तरह इन्द्रियों की असामान्य वृत्तियाँ कह दीं जो कि कुलाङ्गम नास्थानीय हैं। इसके बाद सामान्यवृत्तियों को कहते हैं 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इत्यादि। समस्त अन्तःकरण की ये सामान्यवृत्तियाँ हैं। प्राणादि वायु पाँच' हैं। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान ये सभी इन्द्रियों के व्यापार को सामान्य

बना देते हैं। जो मुख और नासिका के अन्तर्गत हो, और बाह्य देश में भी रहे उसे प्राण कहते हैं। सभी इन्द्रियों के प्राणन करने से इसे प्राण कहते हैं। इस प्राण में जो स्पन्दन कर्म है, वह किसके द्वारा निष्पन्न है। उत्तर में कहते हैं कि वह त्रयोदश इन्द्रियों के द्वारा निष्पन्न है। इसीलिए यह प्राणकर्म सभी इन्द्रिय समूह का सामान्य व्यापार है। इसमें दृष्टान्त भी है—जैसा कि किसी राज महल में एक पिंजड़े में बहुत से शुक रहते थे। देवदत्त ने उनको ओदन दिखाया। उस ओदन को देखकर वे सभी चल पड़े। तब पिंजड़ा भी चलने लगा। इसमें जो पिंजड़े का चलन कर्म है, वह सभी शुकों का सामान्यकर्म है। इसी प्रकार प्राण में जो स्पन्दन कर्म है, वह सभी इन्द्रियों की सामान्य-वृत्ति है। और भी अपान के द्वारा मलमूत्रादि का विसर्जन किया जाता है। उसके नीचे को अपक्रमण होने से उसे अपान कहते हैं। उस अपान में जो स्पन्दन कर्म है, वह सभी इन्द्रियों की सामान्यवृत्ति है। ऊपर को आरोहण करने से उदान कहते हैं। वह नाभि प्रदेश से ऊपर को जाता है, उदानवृत्ति वाला देवदत्त आनन्दोत्कर्ष को चाहता है। मैं धनी हूं, इससे ज्यादे धनवान् कैसे होऊँ। इस प्रकार का उदान है। इसमें जो स्पन्दन कर्म है, वह सभी इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति है। और भी—हृदय में स्थित होकर जो साथ रहे; वह समान वायु है। अर्थात् जो हृदय में रहे उसे समान कहते हैं। समान वायु वाला देवदत्त एकाकी रमण नहीं करता। इसमें जो स्पन्दन कर्म है, वह सभी इन्द्रियों की सामान्यवृत्ति है। और भी—शरीर में व्याप्त होने से व्यान कहते हैं। नख से लेकर शिख पर्यन्त शरीर में व्याप्त होकर जो चलता है, उसे व्यान कहते हैं, व्यान-बहुल देवदत्त दूसरे के बिना ही रमण करता है। उस व्याान में जो स्पन्दन कर्म है, वह सभी इन्द्रियों की सामान्य-वृत्ति है। इस प्रकार सामान्यकरणवृत्ति वाले प्राणादि पञ्च वायु की व्याख्या कर दी। ॥२९॥

प्रबोधिनी

बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों को अन्तःकरण कहते हैं। इन तीनों के अपने-अपने लक्षण ही इनकी वृत्तियाँ (व्यापार) हैं। "**स्वालक्षण्यम्**" इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—**स्वम्—असाधारणम्, लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि। महदहङ्कारमनांसि तेषां भावः=स्वालक्षण्यम्। तच्च स्वलक्षणमेव वृत्तिर्व्यापाररूपावृत्तिरिति।** जैसे—अध्यवसाय बुद्धि का लक्षण है। और अभिमान अहंकार का लक्षण है। और संकल्प विकल्प करना मन का लक्षण है। यही इनकी असाधारण वृत्तियाँ भी हैं। और प्राण, अपान, उदान, समान

व्यान, नामक आभ्यन्तर पञ्च वायु द्वारा जीवनधारण करना यह समस्त अन्तःकरण का व्यापार है। यह व्याख्यान तत्वकौमुदी के अनुसार है। माठर वृत्ति में '**प्राणाद्या वायवः पञ्चेति**" इसकी व्याख्या में प्राणादि द्वारा जीवन धारणादि व्यापार सभी इन्द्रियों का सामान्य व्यापार बतलाया है। जैसा कि उन्होंने लिखा है, "**अस्मिन् प्राणे यत् स्पन्दनकर्म तत् कतमेन कृतम्, इत्यत्रोच्यतेत्रयोदशविधेन करणेन कृतम्।**" इत्यादि इसमें पञ्जरस्थशुकों का भी दृष्टान्त दिया गया है। परन्तु यह व्याख्या स्वयं उनके व्याख्यान से आपाततः विरुद्ध सी लगती है।

क्योंकि प्रकृतकारिका की सङ्गति दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है कि "अत उर्ध्वं बुद्ध्यहङ्कार मनोवृत्ति वक्ष्यामः" यहाँ केवल वे (अन्तःकरण) बुद्धि, अहंकार और मन के वृत्तियों का निरूपण करने चले हैं। व्याख्या के मध्य में भी उन्होंने एक जगह "**सामान्यकरणवृत्तिः**" इसका अर्थ "**समस्तस्यान्तः करणस्येत्यर्थः**", ऐसा किया है। विचार करते हुए यह सब विरुद्ध-सा लगता है। इस विषय में तत्वकौमुदी के टीकाकार पं० शिवनारायण शास्त्री जी ने कुछ टिप्पणी दी है, जो इस प्रकार है—"**अत्र सामान्यकरणवृत्तिः=समस्तकरणव्यापार इति प्रौढ़िवादाभिप्रायम्, अन्तःकरणव्यापार इति तत्वम्।**

वस्तुतः देखा जाय तो प्रधान का अंशभूत जो अन्तःकरण है, उसमें दो शक्तियाँ हैं, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति। ज्ञानशक्ति के भेद से अन्तःकरण के मन, बुद्धि, अहंकार इत्यादि अनेक भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार क्रिया शक्ति से युक्त मुख्य प्राण है। जिस प्रकार ज्ञानव्यापारविशिष्ट अन्तःकरण कार्य भेद से विभक्त होता है, उसी प्रकार क्रियाव्यापार विशिष्ट प्राण भी हृदयादि स्थान भेद से प्राणादि संज्ञाओं से विभक्त होता है। अतः साङ्गोपांग अन्तःकरण का व्याख्यान ठीक ही है।

उन प्राणादि पञ्चवायु के मध्य में अन्नपानादि के द्वारा शरीर को धारण करना प्राण का कार्य है। मलमूत्रादि का विसर्जन करना अपान का कार्य है, समान रूप से नाड़ियों में रसों का सञ्चारण करना समान का कार्य है, और रसादिकों को ऊपर ले जाना उदान का कार्य है। संपूर्ण शरीर में विचरण करना अथवा बलवत् कर्म का प्रयोजक व्यान है। इन पञ्च प्राणादि वायु का स्थान निर्देश शास्त्रों में इस प्रकार किया है—

"हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशेस्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥

ये प्राणादि पञ्चवायु शरीराभ्यन्तर में वायुवत् सञ्चरण करने से इन्हें प्राणादि वायु कहते हैं न कि ये प्रसिद्ध वायु हैं।।२६।।

वृत्ति व्याख्यास्यामः तदुच्यते—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

वृत्तियों की व्याख्या करते हैं—

प्रत्यक्ष स्थल में चक्षु और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) की वृत्तियाँ एक साथ और क्रमशः भी होती हैं।

अप्रत्यक्षस्थल में (अर्थात् अनुमानादि स्थल में) अन्तःकरण की वृत्तियाँ प्रत्यक्ष पूर्वक क्रमशः तथा एक साथ भी होती हैं।।३०।।

मा० वृत्ति—बुद्धिरहङ्कारो मनश्चक्षुरित्येतानि चत्वारि युगपत् रूप पश्यन्ति, अयं स्थाणुरयं पुरुष इति। एवं शब्दं स्पर्शं रसं गन्धं चत्वारि युगपत् गृह्णन्ति। एवमेषा युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिः, किं चान्यत्। क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा—बुद्ध्यहङ्कार मनश्चक्षुश्चतुष्टयस्य क्रमशो वृत्तिर्भवति, द्वारिद्वारविभागोपदेशात् ह्रस्वकालत्वात् विभागो न शक्यते वक्तुं ततो युगपदित्युच्यते। यथा बाल त्रशतं सूच्यग्रेण विद्धामिति। तद्यथा, देवदत्तः पन्थानं गच्छन् स्थाणु पश्यति तत्र तस्य संशयो भवति किमयं स्थाणुरुत पुरुष इति। तत्र स्थाणुरूपं पश्यति शकुनिं च तत्रस्थं ततोऽस्य बुद्धिर्भवति स्थाणुरयमिति। आकुञ्चनप्रसारणे करोति ततोऽपि पुरुषोऽयमिति प्रतीतिः। एवं बुद्ध्यहङ्कार मनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा चक्षु रूपं पश्यति, मनः सङ्कल्पयति, अहङ्कारोऽभिमानयति, बुद्धिरध्यवस्यति, एवं रसनादिष्वपि द्रष्टव्यम्, किं चान्यत् दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे। (१) त्रयस्त तत्पूर्विका वृत्तिः तच्छब्देन समनन्तरोक्तानि, बुद्धीन्द्रियाणि भवन्ति। रूपे चक्षुपूर्विका, शब्दे श्रोत्रपूर्विका, स्पर्शे त्वक्पूर्विका रसे जिह्वापूर्विका, गन्धे घ्राणपूर्विका, बुद्धचहङ्कार मनसां वृत्तिरिति ।।३०।।

अनुवाद—बुद्धि अहंकार, मन, और चक्षु ये चार एक साथ ही रूप को देखते हैं। यह स्थाणु है और यह पुरुष है, इस प्रकार। इसी प्रकार शब्द स्पर्श, रस, गन्ध को भी युगपत् (एक साथ) ग्रहण करते हैं। यही इन चारों की युगपत् वृत्ति है। और भी बुद्धि, अहंकार, मन और एक ज्ञानेन्द्रिय इन चारों की वृत्ति क्रमशः भी होती है। प्रधान और अप्रधान का विभागपूर्वक व्यवहार होने से। परन्तु शीघ्रतया कार्य होने सें विभाग बतलाया नहीं जा सकता, अतएव युगपत् कहा। जैसे अभिनव किसलयों के समुदाय को सूचिका की नोक से बंधने पर उसमें क्रम लक्षित नहीं होता, उसी तरह। क्रमशः इस

प्रकार है जैसे—देवदत्त रास्ते में जाता हुआ स्थाणु (खूंटा) को देखता है। उसमें उसे संशय होता है कि यह स्थाणु है या पुरुष। उसमें वह स्थाणु के रूप को देखता है, और उसमें स्थित पक्षी को भी देखता है। इसके बाद उसे ज्ञान होता है कि यह स्थाणु ही है। और जब संकोच और विकास होता है तब इसे पुरुष की प्रतीति होती है। इस प्रकार बुद्धि, अहंकार, मन और चक्षु की क्रमशः भी वृत्ति देखी गई है। चक्षु रूप को देखता है, मन संकल्प करता है, अहंकार अभिमान करता है. बुद्धि निश्चय करती है। इसी प्रकार रसना आदि इन्द्रियों के साथ भी। और भी—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष स्थल में (१) बुद्धि, अहंकार और मन की तत्तत् इन्द्रियपूर्वक ही वृत्ति होती है। तत् शब्द से अभी-अभी कहे हुए ज्ञानेन्द्रियों का परामर्श होगा। रूप में चक्षुपूर्वक, शब्द में श्रोत्रपूर्वक, स्पर्श में त्वक्पूर्वक, रस में जिह्वापूर्वक और गन्ध में घ्राणपूर्वक ही बुद्धि अहंकार मन की वृत्तियाँ होती हैं ॥३०॥

प्रबोधिनी

चतुर्विध करण की अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रियों में चक्षुरादि अन्यतम इन्द्रियों का व्यापार कहीं-कहीं तो क्रमशः और कहीं युगपत् भी होता है। जैसे घोर अन्धकार में विजली की चमक से एकाएक व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं को सामने देखकर देखने वाला शीघ्र ही उस स्थान से भग जाता है और अपने प्राणों को बचाने की कोशिश करता है। ऐसे स्थलों में चक्षु इन्द्रिय मन, अहंकार और बुद्धि इन चारों इन्द्रियों का आलोचन, संकल्प, अभिमान और निश्चय ये चारों व्यापार युगपत् होते हैं। इसी प्रकार मन्द प्रकाश में कोई व्यक्ति जब आगे उपस्थित किसी वस्तु को अस्पष्ट देखता है। बाद में सावधानी से देखने पर उसे संकल्पात्मक ज्ञान होता है कि अरे ! यह तो अस्त्र-शस्त्र सज्जित चोर है, फिर उसे अभिमान होता है कि यह तो मेरी ही ओर बढ़ रहा है। तब वह बुद्धि से निश्चय करता है कि "मैं यहाँ से भाग जाऊँ।" इस प्रकार वह वहाँ से चल देता है। यहाँ चक्षु, इन्द्रिय और तीनों अन्तःकरण के व्यापार क्रमशः होते हैं। वृत्ति में इस दृष्टान्त को स्थाणु के द्वारा समझाया है। इसी प्रकार परोक्ष स्थल में भी मन, बुद्धि और अहंकार इन तीनों अन्तःकरणों का तथा ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार क्रमशः और युगपत् भी होते हैं। परन्तु वे प्रत्यक्षपूर्वक ही होते हैं। जैसे महानस (रसोई घर) में पहिले धूम और अग्नि का साहचर्य देखकर ही पर्वत में धूम हेतु से अदृष्ट अग्नि का अनुमान होता है। क्योंकि अनुमान में व्याप्तिज्ञान के लिए प्रत्यक्षज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार शब्द बोध में भी शक्तिग्रह के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है, और स्मृति में संस्कार के लिए अनुभवात्मक प्रत्यक्ष अपेक्षित

होता है। अतएव परोक्षस्थल में भी अन्तःकरण के व्यापार प्रत्यक्ष पूर्वक ही होते हैं।

वस्तुतः प्रत्यक्ष स्थल में अन्तःकरणत्रय और चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार क्रमशः ही होता है, परन्तु कहीं-कहीं वह इतनी जल्दी होता है कि क्रम लक्षित नहीं हो पाता, जैसा कि वृत्तिकार ने **"बालपत्र शतं सूच्यग्रेण बिद्धामिति"** इत्यादि कहा।

अनिरुद्ध ने इस विषय को काफी स्पष्ट किया, जो इस प्रकार है— "क्रमशः—**यथा मन्दालोके चौरे दृष्ट्वा इन्द्रियेण वस्तु विचारयति ततश्चौरोऽयमिति मनसा सङ्कल्पयति, ततोऽसौ धनं गृह्णातीति अहङ्कारेणभिमन्यते, ततश्चौरं गृह्णामीति बुद्ध्याऽध्यवस्यति। अक्रमशश्च रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्रं दृष्ट्वा झटिति अपसरति, ततश्चतुर्णामेकदा वृत्तिः। यद्यपि वृत्तीनामेकदाऽसम्भवात्तत्रापि क्रम एव, तथाप्युत्पलशतपत्रव्यतिभेदवदवभासनादक्रम इत्युक्तमिति ॥३०॥**

अत्राह—अचेतनानीन्द्रियाणि बुद्ध्यहङ्कारो मनश्चेति। केन हेतुना स्वां-स्वां वृत्तिं प्रतिपद्यन्ते इत्यत्राह—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां[1] वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

प्रश्न—इन्द्रियाँ अचेतन हैं, बुद्धि, अहंकार और मन भी अचेतन हैं, फिर किसके द्वारा (प्रेरणा से) इन्द्रियाँ अपना व्यापार करती हैं।

उत्तर - ये इन्द्रियाँ परस्पर एक दूसरे के संकेत को समझकर अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होती हैं। इनकी प्रवृत्ति में पुरुषार्थ ही एकमात्र हेतु है। ये किसी के द्वारा प्रेरित नहीं की जातीं ॥३१॥

मा० वृत्ति—स्वां-स्वामिति वीप्सामिच्छन्ति (इति त्रयोदशविधस्य करणस्य ग्रहणं कृतं भवति)। प्रतिपद्यन्ते गृह्णन्तीत्यर्थः। किं चान्यत्—परस्पराकूत हेतुकां वृत्तिम्। बुद्धेराकूतं ज्ञात्वा अहङ्कारोऽभिमानयति, मनः सङ्कल्पयति, इन्द्रियाणि स्वां-स्वां वृत्तिं प्रतिपद्यन्ते। आकूतं नामाभिप्रायः। यथा किल चौरसेना ग्रामं हन्तुं गच्छति, तत्र चौरसेनापतिना सङ्केतः कृतोऽस्ति यदाऽहं हाहेति ब्रवीमि तदा सर्वैः समवायेन प्रवेष्टव्यम्। यदा पुनरहंमद्य हेति ब्रवीमि तदा निर्गन्तव्यम्। एतां चौरसेनापतेराज्ञामाकूतं ज्ञात्वा चौराः प्रविशन्ति निर्गच्छन्ति च। तथेह चौर सेनापतिस्थानीया बुद्धिः, चौरस्थानीयानीन्द्रियाणि। किं स्वार्थं विषयं प्रतिपद्यन्ते, आहोस्वित् परार्थमित्यत्रोच्यते। परार्थं गम्यते। यस्यादाह—पुरुषार्थ एव हेतुः पुरुषार्थः कर्त्तव्य एव इति गुणानां प्रवृत्तिः। तस्मादेतत् त्रयोदशविधं करणं पुरुषार्थः प्रवर्तयति। यदप्युक्तम्—

अचेतनानि करणानि कथं प्रवर्तन्त इति। अत्र ब्रूमः—न केनचित् कार्यते करणम्। नेश्वरेण नापि पुरुषेण, स्वभावो नाम कश्चित् पदार्थो नास्ति यस्वात्स्यमेव च त्रयोदशविधं करणं स्वे-स्वे विषये प्रवर्तते इति ।। ३१ ।।

अनुवाद—स्वां-स्वां यह वीप्सा में है। (इससे त्रयोदश इन्द्रिय समुदाय का ग्रहण हो जाता है) अर्थात ये इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार को समझकर ग्रहण करती हैं। और भी आपस में एक दूसरे के संकेत को समझकर, बुद्धि के अभिप्राय को समझकर अहंकार अभिमान करता है और मन संकल्प करता है, इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार में लग जाती हैं। 'आकूत' का अर्थ अभिप्राय है। जैसे कोई चोरों की सेना गांव को लूटने जाती है उसमें, चोरसेनापति ने संकेत किया है कि जब मैं हा-हा ऐसा कहूंगा तो तुम सब लोग एक साथ प्रवेश करना। जब मैं अहा, हा ऐसा कहूंगा तो बाहर निकल जाना।

चोरसेनापति के इस आज्ञारूपी अभिप्राय को जानकर चोर प्रवेश करते हैं और बाहर निकलते हैं। इसी प्रकार यहां भी चोर सेनापति स्थानीया बुद्धि है और चोरस्थानीय इन्द्रियगण हैं। क्या ये इन्द्रियां स्वार्थ के लिए प्रवर्तित होती हैं, अथवा परार्थ के लिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि परार्थ के लिए ही प्रवर्तित होती हैं। क्योंकि कहा भी है "पुरुषार्थ एव हेतुः" कर्त्तव्य की ओर ही गुणों की प्रवृत्ति है। इसलिए यह त्रयोदशइन्द्रिय संघात पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्त होता है, यद्यपि पहले प्रश्न किया है कि इन्द्रियां स्वयं अचेतन हैं, तो कैसे प्रवृत्त होती हैं ? उत्तर में कहा कि "न केनचित् कार्यते करणम्" अर्थात न तो ईश्वर और न पुरुष ही इन्द्रियों को व्यापार के लिए प्रेरित करता है, न स्वभाव ही। फिर स्वभाव नाम का तो कोई पदार्थ भी नहीं है, जिससे कि त्रयोदश विधकरण अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त हो ।। ३१ ।।

प्रबोधिनी

पूर्व कारिका में इन्द्रियों के प्रवृत्त में क्रमाक्रम का विचार किया, अब प्रकृत कारिका में इस बात का विचार भी है कि इन इन्द्रियों का प्रेरक कौन है। जिसकी प्रेरणा से ये अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होती है, या प्रेरक बिना के ही स्वतः प्रवृत्त होती हैं। सांख्यदर्शन का यह सिद्धान्त है कि ये त्रयोदश इन्द्रियाँ अनागतावस्प भोगाथ (ं)वर्ग रूपी पुरुषार्थ के लिए स्वतः प्रवृत्त होती हैं। इनका प्रेरक न्यायादि दर्शनों के अनुसार ईश्वर, काल स्वभावादि नहीं है। इस बात को वृत्ति में भी स्पष्ट कर दिया है। अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थ हेतु इन्द्रिय समुदाय परस्पर अभिप्राय को जानकर अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है। जिस प्रकार सेना समुदाय आपस में संकेत करके शत्रु पर आक्रमण करते है, तब जो सैनिक जिस अस्त्र को चलाने में कुशल

है, वह उसी अस्त्र को लेकर शत्रु पर आक्रमण करता है। उसी प्रकार भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ की सिद्धि में प्रवृत्त हुए ये सभी करण अपने-अपने आलोचनादि स्वाभाविक व्यापारों में ही निरत रहते हैं ॥ ३१ ॥

अत्राह—उक्तं च भगवता न केनचित् कार्यते करणमिति, तत् कतिविधं करणमिति ? अत्रोच्यते—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

सगंति—जैसा कि भगवान् ईश्वर कृष्ण ने कहा है करण (इन्द्रियगण) किसी से प्रेरित नहीं होता, तब वे (करण) इन्द्रियाँ कितने प्रकार की हैं। उत्तर में कहते हैं कि—इन्द्रियां तेरह प्रकार की हैं, ये आहरण, धारण और प्रकाश करने वाली हैं। इस इन्द्रिय समुदाय का कार्य दस प्रकार का है, वह आहार्य धार्य और प्रकाश्य है ॥३२॥

मा० वृत्ति—यदत्र करणमित्युक्तं तत् त्रयोदशविधमिति बोद्धयम्। पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, बुद्ध्यहङ्कारो मन इति एतत् त्रयोदशविधं करणमिति। अत्राह—आहारकं धारकं, प्रकाशकं च तदिति। तत्राहारकमिन्द्रिय लक्षणम्, धारकमभिमान लक्षणम्, प्रकाशकं बुद्धिलक्षणम्। अत्राह—किं तदस्ति यस्याहरणं, धारणं प्रकाशनं च क्रियतो। अत्रोच्यतो—कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च। कार्यमिति शब्दस्पर्श रसरूपगन्धाः पञ्च, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च, एते दश विषयाः कार्यमित्युच्यते। तं दशविधं विषयं बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितमर्थः कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति च, तदेवं यथा घटं तथा शेषाण्यपि ॥३२ ॥

अनुवाद—यहां जो करण कहा है, उसे त्रयोदश प्रकार का जानना चाहिए। पाँचकर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि, अहंकार और मन ये तेरह प्रकार की इन्द्रियाँ हैं। इनमें आहरण धारण तथा प्रकाशन होता है। इनमें से आहरण करना इन्द्रियों का लक्षण है। धारण करना अभिमान का लक्षण है, प्रकाशन करना बुद्धि का लक्षण है, फिर इस पर पूछते हैं कि कौन सी वस्तु है जिसका आहरण, धारण और प्रकाशन किया जाता है। उत्तर में कहते हैं कि वह आहार्य धार्य और प्रकाश्य कार्य दश प्रकार का है। यह दशविध कार्य इस प्रकार है। शब्द, स्पर्श, रूप, रसगन्ध ये पाँच और वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग औरआनन्द ये पाँच, सब मिलाकर ये दशों विषय कार्य कहे जाते हैं। इन दश प्रकार के विषय को जिसे ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं और कर्मेन्द्रियाँ आहरण और धारण करती हैं। जैसे—घट को ज्ञानेन्द्रियां प्रकाशित करती हैं तथा कर्मेन्द्रियां धारण करती हैं, इसी तरह शेष वस्तुओं को भी ॥ ३२ ॥

प्रबोधिनी

चक्षुरादि पांच ज्ञानेन्द्रियां और वागादि पांच कर्मेन्द्रियां मन, बुद्धि, अहंकार ये सब मिलाकर तेरह इन्द्रियां हैं। सांख्य शास्त्र में इन्हें करण कहते हैं। और इनका कार्य आहरण, धारण और प्रकाश करना है। पाँच कर्मेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को आहरण करना है। मन, बुद्धि, अहंकार इन तीनों अन्तःकरणों का अपनी साधारण वृत्ति प्राणादि पञ्चवायु के द्वारा शरीर को धारण करना है। और चक्षुरादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करना है। करणों की इन तीन प्रकार की आहरण, धारण, प्रकाशन क्रियाओं के ग्रहण करने योग्य विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द ये दश प्रकार के हैं। ये दश प्रकार के विषय जो कि कार्य कहे जाते हैं। इनमें से पांच वचनादान विहरणादि दिव्यादिव्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार पाँच शब्द स्पर्शादि भी दिव्यादिव्य भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं ॥३२॥

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार के भेद से अन्तःकरण तीन प्रकार का है। और बाह्य इन्द्रियाँ दश प्रकार की हैं। जो त्रिविध अन्तःकरण के विषय (भोग्य) हैं। बाह्य इन्द्रियाँ वर्तमान विषय को ग्रहण करती हैं। आभ्यन्तर करण (मन, बुद्धि, अहंकार) त्रिकाल (भूत, भविष्य, वर्तमान) के विषय को ग्रहण करते हैं ॥३३॥

मा० वृत्ति—अन्तःकरणं त्रिविधमिति बुद्ध्यहङ्कारमनसां ग्रहणम् एतत् त्रिविधमन्तःकरण संज्ञितम्। दशधा बाह्यं बुद्धि-कर्मेन्द्रिय भेदात्। किं चान्यत्। त्रयस्य विषयाख्यं बुद्ध्यहङ्कारमनसां त्रयाणामन्तःकरणानां बाह्यं दशविधं करणं विषयाख्यं विषय उपभोग्यमिति। आभ्यन्तरं त्रिकं स्वामिभूतं बाह्यं दशविधं भृत्यभूतमित्यर्थः। किं चान्यत्—साम्प्रतकालं बाह्यम्। यदेतद् बाह्यं दशविधं करणमुक्तं तत् साम्प्रतकालं वर्तमान-विषयग्राहकं भवति। श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि वर्तमानान्ये व शब्दादीनि गृह्णन्ति। नातीतानि न च भावीनि। एवं वाक् पाणिपादपायूपस्थानि वर्तमानेषु वचनादेयभमि मलोत्सर्गानन्देषु प्रवर्तन्ते नातीतभविष्यतोः। किंचान्यत् —त्रिकालम् —आभ्यन्तरं मनोऽहङ्कार बुद्धिरूपं करणं प्रवर्तते। बुद्धिर्वर्तमानं घटं बुद्ध्यते अतीतं भविष्यन्तं च स्मरति, तद्यथा—युधिष्ठिर भीमसेनावास्ताम्, अतीतविषयग्राहिणी बुद्धिः।

कल्की भविष्यति भाविवस्तुग्राहिणी। एवमहङ्कारोऽपि त्रिकालवान् यथाऽहमस्मिन् गृहे स्वामी ग्रासं भविष्यामि चेति। एवं मनोऽप्यतीतं सङ्कल्पयति वर्तमानं भावि च। यत एवं तस्मादुच्यते "त्रिकालयाभ्यन्तरं करणम्" इति ॥३३॥

अनुवाद— त्रिविध अन्तःकरण से बुद्धि, अहंकार और मन का ग्रहण होता है। इन तीनों का नाम अन्तःकरण है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के भेद से बाह्य इन्द्रियाँ दश प्रकार की हैं। और भी ये दश इन्द्रियाँ त्रिविध अन्तःकरण के विषय हैं। विषय का अर्थ उपभोग्य है। अर्थात्—आभ्यन्तर त्रिविध अन्तःकरण स्वामी है। और बाह्य दश प्रकार की इन्द्रियाँ भृत्य हैं। और भी—बाह्य इन्द्रियाँ वर्तमान कालिक होती हैं। ये जो बाह्य दश प्रकार की इन्द्रियाँ हैं, ये वर्तमान विषयग्राहक हैं। श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा और घ्राण वर्तमान शब्दादिकों को ही ग्रहण करते हैं। भूत तथा भविष्य कालिक शब्दादिकों को नहीं। इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ वर्तमान कालिक वचनादान विहरण, उत्सर्ग, और आनन्द में ही प्रवृत्त होती हैं। अतीत तथा भविष्य में नहीं। और भी मन, अहंकार और बुद्धि यह आभ्यन्तर करण तीनों कालों में प्रवृत्त होता है। बुद्धि वर्तमान घट को जानती है, अतीत तथा भविष्य को भी स्मरण करती है। जैसे—युधिष्ठिर और भीमसेन हुए थे। यह अतीत विषयग्राहिणी बुद्धि है। आगे कल्की होगा। यह भविष्य विषय ग्राहिणी बुद्धि है। इसी प्रकार अहंकार भी तीनों कालों के विषय को ग्रहण करता है। जैसे—मैं इस घर का स्वामी था, आगे भी रहूँगा। इसी प्रकार मन भी अतीत, वर्तमान और भविष्य के विषय का संकल्प करता है। इसीलिए कहा गया है कि—"त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्" इति ॥३३॥

प्रबोधिनी

त्रयोदशविध करणों में उनके अवान्तर विभाग को प्रस्तुत करते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार ये शरीर के अभ्यन्तरवर्ती होने से इन्हें अन्तःकरण कहते हैं। अर्थात् —आभ्यन्तर इन्द्रियाँ। बाह्य इन्द्रियाँ दश प्रकार की हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ये दश प्रकार की बाह्य इन्द्रियाँ त्रिविध अन्तःकरण के विषयोपलब्धि में सहायक होती हैं। अर्थात् मन आदि जब किसी विषय विशेष का संकल्प करते हैं तो तदुपलब्धि में बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियाँ ही सहायक होती हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो अन्धादियों को भी रूपादि समुपलब्धि का प्रसंग होगा। क्योंकि अन्तःकरण तो उनमें भी विद्यमान है। इसमें ज्ञानेन्द्रियाँ

अपने आलोचनादि व्यापार द्वारा अन्तःकरण के लिए विषय उपस्थापित करती है। और कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार से, जैसे—प्रथम वागिन्द्रिय के द्वारा पदसमुदाय का उच्चारण किया जाता है। इसमें मन संकल्प करता है कि यह पद यहाँ प्रयोग के योग्य है। पश्चात् अहंकार अभिमान करता है कि इस पद का मैं प्रयोग कर सकता हूं। इसके बाद बुद्धि निश्चय करती है कि इस पद समुदाय से दूसरे को बोध कराऊँ। बाह्य इन्द्रियाँ वर्तमान काल के विषय को उपस्थापित करती हैं, यहाँ वर्तमान काल से वर्तमान समीप अनागत और अतीत का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे—लोक में व्यवहार भी होता है। "कब आये हो ?" यह पूछने पर "अभी आ रहा हूँ" "कब जाओगे ?" यह पूछने पर "यह जा ही रहा हूँ।" इस प्रकार अतीत और अनागत में भी वर्तमान का प्रयोग होता है। इसीलिए पाणिनि जी ने भी इसी तरह का सूत्र बनाया— "**वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा**"। अन्तःकरण तीनों भूत, भविष्य और वर्तमान कालिक विषयों को प्रस्तुत करता है। वृत्ति में जिसको सोदाहरण उपन्यस्त किया है ॥३३॥

अत्राह—कानि इन्द्रियाणि सविशेषं विषयं गृह्णन्ति, कानि निर्विशेषम्। अत्रोच्यते—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि[1]।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि[2] ॥ ३४ ॥

प्रश्न—कौन-सी इन्द्रियाँ सविशेष (स्थूल) विषय को ग्रहण करती हैं, और कौन-सी निर्विशेष (सूक्ष्म) विषय को ? इस पर कहते हैं कि—

उन बाह्य इन्द्रियों के मध्य में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विशेषाविशेष उभयविध विषयों को ग्रहण करती हैं। और कर्मेन्द्रियों के मध्य में वाक् शब्द को ग्रहण करती हैं। शेष पाणिपादादि भी शब्दस्पर्शादि युक्त पदार्थों को ग्रहण करती हैं ॥३४॥

मा० वृत्ति—तेषां करणानां मध्ये येषामयमधिकारो वर्तते तेषां यानि बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानि पञ्च तानि सविशेषं गृह्णन्ति, अविशेषमपि विषयं गृह्णन्ति। अत्राह— कस्य सविशेषं विषयं गृह्णन्ति कस्य निर्विशेषमिति। अत्रोच्यते— शब्दस्पर्शरस रूप गन्धाः पञ्च देवानां तन्मात्रसंज्ञिता निर्विशेषाः केवल सुखलक्षणत्वात्। यस्मात्तत्र दुःखमोहौ न स्तः, तस्मान्निर्विशेषास्ते इति। तथा हि, विशिष्यन्ते शान्तघोरमूढत्वादिनेति विशेषाः तैः सह सविशेषाः, केवला निर्विशेषा इति तात्पर्यम्। एवं शब्दादयो मनुष्याणां

सविशेषा सुखदुःखमोह युक्ता इत्यर्थः। देवानां तु बुद्धीन्द्रियाणि निर्विशेषं सुखात्मकं प्रकाशयन्ति। उक्तानि बुद्धीन्द्रियाणि देवानां मनुष्याणां च। कर्मेन्द्रियाणि वक्ष्यामः। वाग्भवति शब्दविषया शेषाण्यपि पञ्च विषयाणि। तत्र देवानां वाक् पादं पादार्धं श्लोकमुच्चारयति। अस्माकमपि तथैव। अतो देवानामस्माकं च वागिन्द्रियं तुल्यमित्यर्थः। किं चान्यत्—शेषाण्यपि पञ्च विषयाणि, इति। तेषां चतुर्णमेकैकं पञ्चविषयम्। पाणिस्तावत् शब्द स्पर्श रस रूप गन्ध युक्तः, एवं पञ्चलक्षणमेव पाणीन्द्रियं सन्निकृष्टं पञ्चलक्षणं घटं गृह्णाति। (यस्मात् पञ्चलक्षणं हस्तं हस्तेन्द्रियं च)। एवं शब्दादि पञ्चलक्षणः पादः पञ्चात्मिकायामेव भुवि विहरति। एवं पञ्चलक्षणे पायूपस्थे अपि पञ्चलक्षणावुत्सर्गानन्दौ कुरुतः। तस्मात् युक्तमभिहितम्—"शेषाण्यपि पञ्चविषयाणि" इति ॥३४॥

अनुवाद—उन इन्द्रियों के बीच में जिनका कि यहाँ वर्णाधिकार प्रस्तुत है। उनमें जो बुद्धीन्द्रियाँ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण पाँच हैं। वे सविशेष विषय को ग्रहण करती हैं और निर्विशेष विषय को भी ग्रहण करती हैं। यहाँ फिर पूछते है कि—किसकी इन्द्रियाँ सविशेष विषय को ग्रहण करती है और किसकी निर्विशेष विषय को। उत्तर में बतलाते हैं कि—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध की तन्मात्रायें जो कि निर्विशेष हैं, उन्हें देवताओं की इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। ये सुखलक्षण वाली हैं। क्योंकि वहाँ दुःख और मोह नहीं रहते हैं। इसी लिए उन्हें निर्विशेष कहते हैं। और जो शान्त घोर मूढादि धर्म से विशिष्ट हों, और उनके साथ रहें, उन्हें सविशेष कहते हैं। केवल (सुखात्मक) निर्विशेष होते हैं। इसी प्रकार शब्दादि विषय जो कि मनुष्यों के हैं वे सविशेष होते हैं। क्योंकि वे सुखदुःख मोह से युक्त होते हैं। देवताओं की ज्ञानेन्द्रियाँ निर्विशेष (केवल) सुख को ही प्रकाशित करती हैं। देवताओं तथा मनुष्यों के ज्ञानेन्द्रियों के विषय में कह दिया। अब कर्मेन्द्रियों के विषय में कहेंगे।

वाक् शब्द विषयक होती है। शेष चार कर्मेन्द्रियाँ पाँचों विषयों वाली होती हैं। इसमें देवताओं की वाणी श्लोक के पाद का या पादार्ध का उच्चारण करती हैं। हमारी भी वागिन्द्रिय वैसा ही उच्चारण करती है। अतः दोनों के वागिन्द्रिय में समानता है। और भी—शेष इन्द्रियाँ पञ्च विषयक हैं। उन चारों इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय पाँचों विषय वाली है। जैसे—हस्त शब्द स्पर्शरसरूपगन्ध युक्त है। इस तरह पञ्चविषययुक्त हस्तेन्द्रिय ही सन्निकृष्ट पञ्च विषयसम्पन्न घट का ग्रहण करता है। (क्योंकि पाँच लक्षणों से युक्त हस्त और हस्तेन्द्रिय दोनों हैं।) इसी तरह शब्दादि पञ्चलक्षण से

युक्त पाद पञ्चविषययुक्त पृथ्वी में विहरण करते हैं। इसी प्रकार पांच लक्षणों से युक्त पायूपस्थ भी पञ्चलक्षणयुक्त उत्सर्ग और आनन्द को करते हैं। इसलिए ठीक ही कहा है कि "शेषाण्यपि पञ्च विषयाणि" इति ॥३४॥

प्रबोधिनी

दश बाह्य इन्द्रियों में से पांच चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियां विशेष (स्थूल) और अविशेष (सूक्ष्म) उभयविध विषयों को ग्रहण करती हैं। इनमें से देवताओं की ज्ञानेन्द्रियां अविशेष (सूक्ष्म) सुखलक्षण तन्मात्राओं को ही ग्रहण करती हैं। और मनुष्यों की ज्ञानेन्द्रियां सविशेष (स्थूल) सुख-दुःख मोह लक्षण पञ्चमहाभूतों का ग्रहण करती हैं। परन्तु योगियों की ज्ञानेन्द्रियां सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के विषयों को ग्रहण करती हैं। इसका उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने अपने तत्व कौमुदी में किया है। माठर वृत्ति में योगियों का उल्लेख नहीं है। पांच कर्मेन्द्रियों के मध्य में वागिन्द्रिय शब्द का जनक होने से केवल स्थूल शब्द को ही ग्रहण करती है। सूक्ष्म शब्द वागिन्द्रिय का विषय नहीं होता। क्योंकि वागिन्द्रिय और सूक्ष्म शब्द (शब्दतन्मात्रा) दोनों एक ही अहंकार से उत्पन्न होते हैं। अतः देवताओं के, योगियों के और मनुष्यों के वागिन्द्रिय में समानता है। यद्यपि शब्दतन्मात्रा तामस अहंकार का कार्य है और वागिन्द्रिय सात्विक अहंकार का कार्य होने से कारणभेद हो सकता है, परन्तु आहंकारिकत्वाविशेष से दोनों की अभिन्नता ग्रहण कर ली जाती है। शेष चार कर्मेन्द्रियाँ स्वयं पञ्चविषययुक्त होकर पञ्च विषयों को ग्रहण करती हैं। क्योंकि शब्दादि तन्मात्राओं से ही घटादिकों की उत्पत्ति है, और शब्दादि पञ्चविषय सम्पन्न घट को ग्रहण करनेवाला हाथ भी पञ्चविषययुक्त ही होता है ॥३४॥

इदानीं बुद्धिविषय (.) ख्यापनाय इदमुच्यते—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

अब बुद्धि के विषय-व्याख्यान के लिए इस कारिका को प्रस्तुत करते हैं—

सान्तःकरण (अहंकार मन सहित) बुद्धि सभी विषयों को ग्रहण करती है। इसीलिए त्रिविध अन्तःकरण (मन बुद्धि अहंकार)—प्रधान हैं। शेष दस इन्द्रियां अप्रधान हैं॥३५॥

मा० वृत्ति—सान्तःकरणा अन्तःकरणे अहंमनसी ताभ्यां सह वर्तते

या बुद्धिः सा तथोक्ता सा बुद्धिः सर्वं विषयं निरवशेषं त्रिष्वपि कालेषु यस्मादवगाहते व्याप्नोति गृह्णाति शब्दाद्यं पञ्चविधं तस्मादेव तन्मनोबुद्ध्यहङ्कारलक्षणं त्रिविधमेव करणं साधनं, क्रियतेऽनेनेतिकृत्वा। शेषाणि पुनः द्वारि बाह्ये यानि बुद्धिकर्मेन्द्रियतया प्रतीतानि श्रोत्रवाक्प्रभृतीनि दश तानि तस्या' एव मनोऽहङ्कारयुक्ताया बुद्धेर्विषग्रहणाय द्वाराणि प्रतीकान्येव न तु करणतया सान्वयानि, तथा एतैर्दर्शिभर्द्वारैः सान्तःकरणा बुद्धिरेव विषयान् गृह्णातीति त्रिविधमेव करणमित्यर्थः ॥३५॥

अनुवाद—सान्तःकरणा अर्थात् अहंकार और मन सहित बुद्धि को "सान्त करणा बुद्धिः" कहते हैं। वही बुद्धि चूंकि सम्पूर्ण शब्दादि पञ्चविध विषयों का अवगाहन अर्थात् ग्रहण करती है इसीलिए मन, बुद्धि और अहंकार युक्त अन्तः करण को करण अर्थात् साधन (प्रधान्येन उपकारक) कहते हैं। जिसके द्वारा विषय ग्रहण किया जाय, इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी अन्त.करण प्रधान है। शेषाणि पुनः—यहाँ द्वारि का अर्थ बाह्य है। और जो बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ प्रतीत होती हैं। जैसे श्रोत्र वाक् इत्यादि दश, वे सब उसी मन अहंकार युक्त बुद्धि के विषय ग्रहण करने के लिए प्रतीकमात्र (सहायक) हैं। न कि करणतया सान्वय। अर्थात् अन्तः करण की तरह इनमें प्रधानता नहीं है। इन्हीं दश बाह्य इन्द्रियों के द्वारा सान्तःकरणा बुद्धि विषयों को ग्रहण करती है। अतः त्रिविध ही करण है ॥३५॥

प्रबोधिनी

अब त्रयोदश इन्द्रियों में कौन सी इन्द्रियाँ प्रधान हैं, और कौन सी अप्रधान हैं, इस पर विचार करते हैं। इन त्रयोदश इन्द्रियों में मन, बुद्धि, और अहंकार ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं। और मन अहंकार सहित बुद्धि सभी विषयों को ग्रहण करती है, इसलिए अन्त.करण की ही प्रधानता है। शेष दश इन्द्रियाँ द्वार अप्रधान हैं, क्योंकि बाह्य इन्द्रियाँ घट पटादि विषयों को देखकर निश्चय के लिए अन्त.करण के सामने उपस्थित कर देती हैं। तब मन्त्री के समान मन और अहंकार संकल्प और अभिमान् करके, बुद्धि को उपस्थित कर देते हैं। बाद में अन्तिम निश्चय करती है। इसलिए तीनों अन्तःकरण मंत्री और राजा की तरह प्रधान हुए। और बाह्य इन्द्रियाँ केवल सूचना देने वाले नौकरों के समान अप्रधान ही हैं। अन्तःकरण में भी बुद्धि पुरुष के योग में साक्षात् साधक होने के कारण प्रधान है। अतः सबकी अपेक्षा बुद्धि प्रधान है। और बाह्य करणों की अपेक्षा मन और अहंकार में प्राधान्य है, इसलिए अन्तःकरण प्रधान है और बाह्यकरण अप्रधान।

यद्यपि बुद्धि भी निश्चय करके पुरुष के लिए विषय समर्पण करती है। अतः पुरुष की अपेक्षा उसमें भी अप्राधान्य (द्वारत्व) आना चाहिए। परन्तु प्रकृत में करणों का ही परस्पर प्रधानाप्रधान भाव विवक्षित है, ना कि पुरुष का।

वाचस्पति मिश्र व अन्य आचार्यों ने "द्वारि" पद का अर्थ **"द्वारमस्यास्तीति"** इस व्युत्पत्ति से प्रधान किया है। परन्तु माठर ने वृत्ति में "द्वारि" पद को सप्त्यन्त मानकर उसका अर्थ "बाह्ये" अर्थात् "बाह्य इन्द्रियां" ऐसा किया है ॥३५॥

किञ्चान्यत्—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥ ३६॥

और भी—

ये ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तथा त्रिविध अन्तःकरण जो कि सत्वादि गुणों के परिणाम हैं। परस्पर विलक्षण होते हुए भी प्रदीपतुल्य हैं। ये द्वादश इन्द्रियां पुरुष के सम्पूर्ण भोग्य विषयों को प्रकाशित कर, बुद्धि को समपण कर देती हैं ॥३६॥

मा० वृत्ति—एते इति बुद्धिकर्मान्तःकरण भेदाः, त्रयोदश प्रदीपकल्पाः प्रदीपतुल्याः। किंचान्यत्। परस्पर विलक्षणाः। न स्पर्शादीन्, एवमितरन्न। वागवक्त्येव न गृह्णाति गच्छति विहरत्यानन्दति। एवं पाण्यादिषु। मनः सङ्कल्पयति नाहं कुरुते। अहङ्कारश्चाभिमनुते न सङ्कल्पयति। एवं द्वादशापि स्वं. स्वमर्थं पुरुषभोग्य तया प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति निक्षिपन्ति। तत् बुद्धिस्थं विषयं सुखदुःखाद्यं पुरुष उपलभते ॥३६॥

अनुवाद—ये बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और त्रिविध अन्तःकरण सहित त्रयोदश इन्द्रियां प्रदीप के समान हैं। किं च परस्पर भिन्न लक्षणवाली अर्थात् असमान हैं। क्योंकि श्रोत्र केवल शब्दमात्र का ग्रहण करता है, न कि स्पर्शादि का। इसी तरह और इन्द्रियां भी। वाक् इन्द्रिय बोलने का ही कार्य करती है, ग्रहण, गमन, विहरण तथा आनन्द का नहीं। मन संकलपमात्र करता है न कि अभिमान। अहंकार अभिमान मात्र न कि संकल्प। इस प्रकार ये बारह इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को जो कि पुरुष के भोग्य हैं, उन्हें प्रकाशित कर, बुद्धि के लिए समर्पण कर देती हैं। उस बुद्धिस्थ विषय सुख-दुःख को पुरुष प्राप्त करता है ॥३६॥

प्रबोधिनी

पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन और अहंकार ये बारह इन्द्रियाँ सभी अपने-अपने विषय को प्रकाशित करती हैं, अतः प्रदीप के तुल्य हैं। जैसे प्रदीप घटादि विषय को प्रकाशित कर देता है। ततः पुरुष उसे प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय रूप रसादि का जो कि पुरुष के भोग्य हैं, प्रकाशकर बुद्धि लिए समर्पण कर देती हैं। परन्तु ये इन्द्रियाँ परस्पर विलक्षण हैं। अर्थात् भिन्न-भिन्न विषय वाली हैं। इनकी विलक्षणता में गुण विशेष ही कारण है। ये सत्वादि गुणों के परिणाम हैं। इन सत्वादि गुणों में परस्पर विरुद्ध धर्म होने से इनके परिणामभूत इन इन्द्रियों में भी वैलक्षण्य आना स्वाभाविक ही है। फिर भी जैसे—वर्ति, तैल और वह्नि परस्पर विरुद्ध होते हुए भी घटादि प्रकाशनार्थ सम्मिलित होकर दीपक रूप से प्रकाशन करते हैं। वैसे ही ये सूक्ष्मभूत गुण भी बिरुद्ध होते भी पुरुष के भोग के लिए विषय को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पण कर देते हैं।

अभिप्राय यह है कि जिस विषय को बाह्य इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष करतीं हैं, वही विषय मन में प्रतिफलित होता है। फिर वही अहंकार में भासित होता है, जिससे कि अभिमान होता है। इसके बाद वह विषय बुद्धि में प्रति-विम्बित होता है। जिसका बुद्धि निश्चय करती है। बस विषय की गति यहीं तक है। इससे आगे विषय कहीं नहीं जाता है। इसलिए सर्वप्रधान बुद्धि ही है। सांख्यदर्शन के मत में इन्द्रियसंघात का अध्यक्ष बुद्धितत्व ही है। परन्तु नैय्यायिकों का मत इससे भिन्न है। उनके मत में सभी पदार्थों का ज्ञान साक्षात् सम्बन्ध से आत्मा में ही उत्पन्न होता है। और इन्द्रियाँ उसके साधन मात्र हैं। अतः आत्मा ही सब इन्द्रियों का अध्यक्ष माना गया है। साँख्यमत में तो सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान बुद्धि में ही रहता है। पुरुष (आत्मा) में तो विषय ज्ञान की छायामात्र रहती है। इसी से आत्मा में साक्षात् सम्बन्धेन विषय ज्ञान की भ्रान्ति ही है। अतः बुद्धि तत्व को ही इन्द्रियों में प्रधान माना है ॥३६॥

किञ्चान्यत्—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७॥

और भी—क्योंकि पुरुष के लिए सभी प्रकार के विषयों के उपभोग

का सम्पादन बुद्धि ही करती है। और वही बुद्धि बाद में प्रधान और पुरुष के सूक्ष्म भेद का विवेचन भी करती है।।३७।।

मा० वृत्ति—निर्विशेषं त्रिष्वपि कालेषु यो-यो विषयं प्रति उपभोगो देवतिर्यक् योनिसु तं-तं पुरुषस्य यस्मात् हेतोः, बुद्धिरेव साधयति निष्पादयति। राजामात्यवत्। यथा सर्वेषां भृत्यानां मन्त्री उपलब्धिं विधाय राजनि निवेदयति। एवं कर्मेन्द्रियाणि प्रकाश्य बुद्धौ-प्रयच्छन्ति। बुद्धिरपि पुरुषाय प्रयच्छति समर्पयति। अनेन प्रकारेण, बुद्धिरभ्युदयफलेन यावज्ज्ञानं नोत्पद्यते तावत् पुरुषं योजयति। स्वैरिणीव कामुकं मूढविज्ञानं घृताद्युपचारैः। बुद्धिप्रेरिता अहंमनोबुद्धिकर्मेन्द्रियाख्या विषयान् न स्वार्थं न च बुद्ध्यर्थं किं तु पुरुषार्थमेव साधयन्ति। यथा सलक्ष्मीकस्वैरिणी गृहे दास्यस्तदादेशेन रसवतीं न स्वार्थं न च स्वामितयाऽवस्थित स्वैरिण्यर्थं किंतु तयापहृत विवेकविज्ञानस्य कामुकस्य कृते निर्वर्तयन्ति तद्वत्। यावदसौ विमूढस्तावदनया बद्ध्या स्वैरिण्येव कामुको विषयैरुपह्लियते। यदासौ कथमपि गुरुशास्त्रात्मानुभवादि भिरात्मानं चेतयते तदा स्वैरिणीव बुद्धिरपि पुरुषं विहाय संशाम्यति। ततोऽसौ केवलतयाऽवतिष्ठते। तदनुभवावस्थितिर्मुक्तिरिति यत् किञ्चिदिदमप्रस्तुतम्। प्रस्तुतमुच्यते। किञ्चान्यत्। अतः सैव च विशिनष्टि ततः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्। सूक्ष्मम्-दुर्विज्ञेयम्। प्रधानपुरुषान्तरं नानात्वम्। सूक्ष्मत्वादतीव दुर्बोधमिति यावत्। बुद्धिर्हि अध्यवसायात्मिका स्वव्यापारेण चाध्यवसायेन साधयति। अहङ्कारेन्द्रियतन्मात्रभूताध्यवसायेन जगत् प्रधानपुरुषान्तरविवेचनेन विविच्य स्वयं म्रियते। अत एवोक्तम्—

अहङ्कारो धियं ब्रूते मनं सुप्तं प्रबोधय।
प्रबुद्धे परमानन्दे न त्वं नाहं न तज्जगत्।।
मयि तिष्ठत्यहङ्कारे पुरुषः पञ्चविंशकः।
तत्ववृन्दं परित्यज्य स कथं मोक्षमिच्छति।।
योऽसौ सर्वेश्वरो देवः सर्वव्यापी जगद्गुरुः।
देहीति पद्मभुच्चार्य हा मयात्मा लघुः कृतः।।

अकृतपुण्यचरणैं प्राप्यं प्रधानपुरुषयोर्नानात्वम्। तयोरेवान्तरं दर्शयति। त्वमन्यमात्मानं न वेत्सि। प्रधानमन्यत्। सत्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः प्राधानिका अमूर्ताः साम्यावस्थायां प्रधानाख्याः। तेषामेकतमोद्रेकात् त्रिगुणा बुद्धिरूया, अन्योऽहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राण्यन्यानि, एकादशेन्द्रियाण्यन्यानि इति बुद्ध्वा तत्वानि मोक्षं गच्छन्ति। नहि भगवतः कपिलस्य मते किमपि

कर्त्तव्यमनुष्ठेयतया, किं तु साङ्ख्यानां पञ्चविंशति तत्वज्ञानमेव साधर्म्येण वैधर्म्येण च निःश्रेयसहेतुः । उक्तं च—

हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुञ्ज कुरुच मा शङ्काम् । यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च ।।३७।।

अनुवाद—तीनों कालों में देवतिर्यक् आदि योनियों में सम्पूर्ण विषयों के प्रति जो-जो पुरुष का उपभोग है, उसका निष्पादन बुद्धि ही करती है। राजा और अमात्य की तरह। जैसे—मन्त्री सभी कर्मचारियों से तत्तकार्योपलब्धि को प्राप्त कर राजा के लिए निवेदित कर देता है। इसी तरह इन्द्रियाँ भी विषय को प्रकाशित कर बुद्धि के लिए समर्पण कर देती हैं। बुद्धि भी पुरुष के लिए समर्पण कर देती है, इस प्रकार जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक बुद्धि पुरुष को अभ्युदयफल से संयुक्त कराती है। किसी स्वैरिणी की तरह। जैसे वह कामुक को घृतादि उपचार से संयुक्त कराती है। बुद्धि द्वारा प्रेरित हुए अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तत्तत् विषयों को न अपने लिए न बुद्धि के लिए किन्तु पुरुष के लिए ही सिद्ध करती हैं। जैसे—किसी धनाढ्य स्वैरिणी के घर में दासियाँ उसके आदेश से जो पकवान बनाती हैं, वह न तो अपने लिए, और न मालकिन की हैसियत से स्थित उस स्वैरिणी के लिए किन्तु उसके द्वारा कुण्ठित विवेकविज्ञान वाले कामुक के लिए ही बनाती हैं। उसी तरह बुद्धिप्रेरित ये इन्द्रियाँ भी पुरुष के लिए ही विषयोपभोग निष्पन्न करती हैं। जब तक यह पुरुष, स्वैरिणी के द्वारा कामुक की तरह, विषयों से अपहृत रहता है (तभी तक बन्धन है)। परन्तु ज्यों ही यह गुरु शास्त्र तथा आत्मानुभव के द्वारा उद्बुद्ध होता है, तब स्वैरिणी जैसे कामुक को छोड़ देती है। उसी प्रकार बुद्धि भी पुरुष को छोड़कर शान्त हो जाती है तब पुरुष कैवल्य अर्थात् अपने स्वरूप में आ जाता है। इसी कैवल्यानुभव-स्थिति को मुक्ति कहते हैं। यहाँ बहुत कुछ बात हम अप्रस्तुत कह गये। अब प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं। और भी—इसीलिए बुद्धि, प्रधान और पुरुष के सूक्ष्म भेद को भी जानती है। सूक्ष्म का अर्थ दुर्विज्ञेय है। प्रधान पुरुषान्तर का अर्थ परस्पर भेद है, अर्थात् पार्थक्य। यह भेद सूक्ष्म होने से बहुत ही दुर्विज्ञेय है। अध्यवसायात्मिकाबुद्धि अपने निश्चयात्मक व्यापार से परस्पर भेद बतला देती है। यह बुद्धि अपने निश्चयात्मक व्यापार से अहंकार, इन्द्रियाँ, तन्मात्रायें, पञ्चमहाभूत, इत्यादि जगत्, प्रधान तथा पुरुष में विवेक द्वारा पार्थक्य दिखाकर स्वयं उपरत हो जाती है। इसीलिए कहा भी है—

अहंकार बुद्धि को कहता है कि इस सोये हुए पुरुष को मत जगाओ। परमानन्दस्वरूप पुरुष के जाग जाने पर न तो तुम ही रहोगी और न मैं ही, न जगत् ही। मेरे अहंकार के रहते-रहते पच्चीसवाँ तत्व पुरुष तत्वसमुदाय को छोड़कर मोक्ष कैसे चाहेगा। परन्तु जब ज्ञान होने लगता है, तब जीव खेद के साथ कहता है कि सर्वव्यापक सर्वेश्वर आत्मा को मैं परिच्छिन्न देहादि बुद्धि से देख रहा था।

अतः प्रचुरपुण्यों के बिना प्रकृति पुरुष का विवेक नहीं होता। उन्हीं में अब भेद दिखलाते हैं कि तुम अपने से अलग आत्मा को नहीं जानते हो। प्रधान अलग है, सत्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रधान के हैं। अमूर्त है, इनकी साम्यावस्था ही प्रधान (प्रकृति) है। इनमें से एक गुण के भी उद्रेक से बुद्धि, अहंकार और पञ्चतन्मात्रायें, एकादश इन्द्रियाँ, अलग-अलग उत्पन्न होती हैं, जो कि आत्मा से भिन्न हैं। इस तरह तत्वों के विवेक ज्ञान को जानकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। भगवान् कपिल के मत में फिर कुछ भी कर्त्तव्यतया अवशेष नहीं रह जाता। सांख्यदर्शनानुसार साधर्म्य तथा वैधर्म्य से पच्चीस तत्वों का ज्ञान ही मोक्ष है। कहा भी है—हंसो, खाओ-पीओ और मौज करो, विषयों का उपभोग करो, इसमें किसी प्रकार की शङ्का मत करो, यदि तुम्हें कपिल का सिद्धान्त अच्छी तरह मालूम है, तो अवश्य मोक्ष को प्राप्त करोगे ॥३७॥

प्रबोधिनी

सभी इन्द्रियों में बुद्धि की प्रधानता इसीलिए है, चूंकि बुद्धि ही पुरुष के लिए सभी प्रकार के विषयों के उपभोग का सम्पादन कर, बाद में पुरुष और प्रकृति का विवेक ज्ञान कराकर पुरुष को मुक्त भी करा देती है। इसीलिए इन्द्रिय संघात में बुद्धि की प्रधानता है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा आलोचित घट पटादि विषय अन्तःकरण में सन्निबिष्ट होते हैं। परम्परया वे विषय बुद्धि में भी संक्रान्त होते हैं। बुद्धि पुरुष के सन्निधान से चित् (चेतन) की छायापत्ति से चेतनवत् हो जाती है। जपाकुसुम के सन्निधान में जैसे स्फटिकमणि जपाकुसुम की तरह रक्त मालूम होता है। उसी तरह बुद्धि भी पुरुष की तरह हो जाती है। और बुद्धिस्थ विषयों का उपभोग (सुखदुःखान्यतर साक्षात्कार) पुरुष में आरोपित होता है। यही बुद्धि का पुरुष के प्रति भोग सम्पादन है। वस्तुतः निर्गुण शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव पुरुष में सुखदुःखादि गुणों का सम्भव नहीं है। बुद्धि और पुरुष पृथक्-पृथक् होते हुए भी अविवेक के द्वारा दुर्लक्ष्य

होने से, उनकी एकता की प्रतीति में अविद्यमान सुखदुःखादि भी पुरुष में प्रतीत होते हैं। परन्तु विवेकज्ञान द्वारा जब प्रधान पुरुष का पार्थक्य मालूम हो जाता है, तो फिर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। इसी को कैवल्य भी कहते हैं ॥३७॥

अत्राह--उक्तं भगवता पूर्वस्यामार्यायां "विशेषाविशेषविषयणीन्द्रियाणि" इति, तत्र के विशेषाः केऽविशेषा इति। अत्रोच्यते—

तन्मात्राण्यविशेषाः तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

संगति—पूर्व कारिका में भगवान् ईश्वर कृष्ण ने कहा था कि इन्द्रियाँ विशेष तथा अविशेष विषयक होती हैं, तब कौन सी विशेष हैं और कौन सी अविशेष कहलाती हैं, इसका विवेचन प्रकृत-कारिका में करते हैं—

सूक्ष्म शब्दादि पञ्च तन्मात्रायें अविशेष कही जाती हैं। उन्हीं शब्दादि पञ्च तन्मात्राओं से आकाशादि पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इन्हें विशेष कहते हैं। ये शान्त, घोर और मूढ लक्षण वाले होते हैं ॥३८॥

मा० वृत्ति यानि भूतादिसंज्ञात्तामसादहङ्कारादुत्पन्ननि पञ्च तन्मात्राणि शब्दादीनि तान्यविशेषा इत्युच्यन्ते। देवानां तन्मात्राणि सुखलक्षणां विषयाः तत्रापि रजस्तमसी स्तः, किन्तु तत्र सत्वमुत्कटत्वेन वर्तते तस्मादविशेषा इत्युच्यन्ते। न विशिष्यन्ते शान्तघोरमूढत्वादिभिः सत्वोद्रेकात् केवलसुखतया इत्यर्थः। तर्हि विशेषाः के ? अत्राह—तेभ्यो भूतानिपञ्च पञ्चभ्यः। शब्दादिभ्यः पञ्चभ्य आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते। एते स्मृता विशेषाः, अत्राह—एतेषां किं लक्षणमिति। अत्रोच्यते। एतानि पञ्चमहाभूतानि मनुष्याणां विषयाः। शान्ता घोरा मूढाश्च। तत्राकाशं शान्तं घोरं मूढं च। शान्तं तावत् सुखलक्षणम्। यथा कश्चिद्गर्भगृहात् निष्क्रान्तः, अवकाशस्थितः, तस्यतदाकाशं सुखहेतुत्वाच्छान्तं स्यात्। तदेवोष्णशीतवातादिसंयोगात् दुःखत्वात् घोरं स्यात्। पथि गच्छतः कान्दिशीकस्य केवलं सर्वत्राकाशं पश्यतो मार्गाद्यनभिज्ञस्य पुंसस्तदेव मूढं स्यात्। एव वायौ त्रैविध्यम्। यथा गर्भगृहवासिनो वातायनद्वारेण वायुः प्रविशन् सुखहेतुत्वाच्छान्तः। तेनैवोष्णयासि सम्पन्नेन दुः[illegible]ादकतया दुःखी स्यात् इत्यसौ वायुर्घोरः। स एव वायुः शीतकाले शीतं [illegible] मूढः। एवमग्निः शीतार्तस्य शान्तः। ग्रीष्मकाले तापार्तस्य घोरः। ग्रामादिदाहे प्रवद्धोऽग्निः पुंसो मोहोत्पादकतया मूढः। एवमापो घर्मार्तस्य सुखदत्वाच्छान्ताः।

हेमन्त दुःखदत्वात् घोराः। समुद्रमध्यगतस्य पुंसः तीरमपश्यतो मोहहेतुत्वान्मूढाः। एवं पृथ्वी नवशाब्दलोपचिता प्रावृषि सुखकारिणीति शान्ता। ग्रीष्मकाले उष्णावालुका घोरा। सैव पथिकस्य मार्गानभिज्ञस्य प्राणिग्रामाद्यपश्यतो मूढा। एवं देवानां निर्विशेषा विषयाः। तन्मात्रसंज्ञिता निर्विशेषाः केवला एवानन्दमयाः शान्तघोरमूढतयाऽविशिष्टाः। स्वभावरूपाः शर्कराकटुतिक्तादिरसा निश्चितं स्वभावमाधुर्यामृता उपमेयसुखशान्तिक्षीरमिव। माधुर्यक्षारकट्वादि पार्थिवगुणसंयुक्तं स्वभावरसं जलमिवामी विषयाः (?)। देवानामेवं निर्विशेषाः स्यु। तन्मात्रसंज्ञिताः सुखलक्षणा एव, मनुष्याणां विषदादिभूतमयत्वात् भूतानीव सुखदुाखमोहलक्षणास्ते इत्यर्थः ॥३८॥

अनुवाद—भूतादि संज्ञक तामस अहंकार से उत्पन्न जो शब्दादि पञ्चतन्मात्रायें हैं, उन्हें अविशेष कहते हैं। ये सुखलक्षणवाली पञ्चतन्मात्रायें देवताओं के विषय हैं। यद्यपि इनमें भी रजोगुण और तमोगुण रहता है, परन्तु सत्वगुण उत्कट होता है। अतः इन्हें अविशेष कहते हैं। सत्वगुण के आधिक्य से केवल सुखस्वरूप होने से शान्त, घोर और मूढादि धर्मों से ये अविशिष्ट रहते हैं। तब विशेष कौन से हैं ? 'तेभ्यो भूतानि'' इत्यादि से उत्तर देते हैं। अर्थात् शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं से आकाशादि पञ्चमहाभूत पूर्वपूर्व गुणानुप्रवेश से क्रमशः एक दो तीन चार पाँच गुणवाले उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को विशेष कहते हैं। तब इनका क्या लक्षण किया जाय ?। उत्तर में कहते हैं कि—ये पञ्चमहाभूत मनुष्यों के विषय हैं। और शान्त घोर मूढ धर्मवाले हैं। इनमें आकाश, शान्त घोर और मूढ धर्मवाला है शान्त का अर्थ सुखलक्षणवाला। जैसे—कोई सङ्कीर्ण बन्द कमरे से निकला बाहर अवकाश में आया तो आकाश उसके लिए सुखहेतु होने से शान्त है। वही आकाश उष्ण, शीत और वात के संयोग से दुःखदायक होने से घोर है। रास्ते में चलने वाले भयभीत, मार्ग से अनभिज्ञ, केवल सर्वत्र आकाश को ही देखने वाले पुरुष के लिए मूढ है। इसी प्रकार वायु भी तीन प्रकार का है, जैसे—घर में रहने वाले के लिए खिड़की से प्रवेश करता हुआ वायु सुख हेतु होने से शान्त है। पुनः गर्मी के समय में उसी वातायन के द्वारा लू युक्त वह वायु दुःखोत्पादक होने से घोर है। वही वायु शीतकाल में शैत्योत्पादक होने से मूढ़ है। इसी प्रकार अग्नि भी शीतार्त के लिए शान्त है, ग्रीष्मकाल में तापार्त के लिए घोर है, ग्रामादि दाह में प्रवृद्ध हुआ वही अग्नि पुरुष के लिए मोहोत्पादक होने से मूढ है। इसी तरह जल भी घर्मार्त के लिए सुखद होने से शान्त है। हेमन्त में दुःखद होने से घोर है। और समुद्र मध्य स्थित

तीर को न देखने वाले पुरुष के लिए मोहोत्पादक होने से मूढ है। इसी तरह पृथ्वी भी नवीन हरे हरे घास से सम्पन्न वर्षाकाल में सुखकारिणी होने से शान्त है, और ग्रीष्म काल में गरमवालुका युक्त होने से घोर है। और वही पृथ्वी मार्ग को न जाननेवाले, गाँव, प्राणिसमुदाय को न देखनेवाले पथिक के लिए मोह हेतुक होने से मूढ है। इस प्रकार देवताओं के विषय निर्विशेष होते हैं। अर्थात्—तन्मात्र संज्ञा वाले केवल आनन्दमय, शान्तघोर मुढादि अवस्थाओं से शून्य, (स्वाभाविक माधुर्यामृत स्वरूप, लौकिक शर्करातिक्त कटु आदि रसों से अमिश्रित सुन्दर दुग्ध की तरह। और विशेष विषय जल की तरह तत्तत् आश्रयानुसार मधुर लवण कटुकषायादि की तरह होते हैं। देवताओं के केवल निर्विशेष तन्मात्र संज्ञक सुखलक्षण वाले ही होते हैं। मनुष्यों के विषय आकाशादि भूतमय होने से पञ्भूतों की तरह सुख-दुःख मोह लक्षण वाले होते हैं ॥३८॥

प्रबोधिनी

भूतादि संज्ञक तामस अहंकार से शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। ये तन्मात्रायें अविशेष कहलाती हैं। क्योंकि इनमें उपभोग योग्य शान्तत्व, घोरत्व, मूढत्व विशेषतायें नहीं रहती हैं। अतः केवल सुखलक्षण ये तन्मात्रायें देवताओं के ही उपभोग्य हैं, न कि मनुष्यों के। विष्णु पुराण में भी कहा है—

"तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥ इत्यादि।

और इन पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं जिन्हें साँख्यशास्त्र में "विशेष" कहते हैं। क्योंकि इनमें शान्तत्व, घोरत्व और मूढत्व विशेषतायें स्पष्ट मालूम पड़ती हैं। वृत्ति में जिनको सोदोहरण विस्तार से समझाया है। ये विषय स्थूल होने से मनुष्यों के भोग्य हैं। इन स्थूलभूतों की उत्पत्ति में एक क्रम और यह है कि उत्तरोत्तर उत्पन्नभूत पूर्वपूर्वोत्पन्नभूत के गुण से समन्वित हो जाता है। जैसे—पूर्वोत्पन्न आकाश शब्दतन्मात्रा से उत्पन्न होने से केवल शब्दगुणयुक्त रहेगा। ततःवायु शब्द-स्पर्श उभयतन्मात्रा से उत्पन्न होने से शब्द-स्पर्श गुणयुक्त होगा। ततः शब्द स्पर्शरूप तन्मात्रा से उत्पन्न तेज शब्द-स्पर्शरूप गुणयुक्त रहेगा। ततः शब्द-स्पर्शरूपरस तन्मात्रा से उत्पन्न जल शब्दस्पर्शरूप-रस गुणयुक्त होगा, ततः शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध तन्मात्रा से उत्पन्न पृथिवी शब्द स्पर्श रूपरसगन्ध गुण युक्त होगी, यही पञ्चभूतों, के उत्पत्ति का क्रम है॥३८॥

अत्राह—किमेतावन्त एव विषयाः, न हि, किन्त्वन्येऽपि सन्ति। के पुनस्ते इति ? उच्यते—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९॥

सङ्गति—क्या इतने ही विषय हैं ? नहीं, और भी हैं। वे कौन से हैं ? उन्हीं को बतलाते हैं।

सूक्ष्मा (लिङ्गशरीर) मातापितृजा : (मातापिता से उत्पन्न हुआ शरीर) और प्रभूत (पञ्चमहाभूतों से बने हुए घट पटादि) ये तीन प्रकार के विशेष हुए। इनमें से सूक्ष्म (लिङ्गशरीर) नित्य है, और मातापितृज स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, और प्रभूत भी अनित्य है ॥३९॥

मा० वृत्ति—तत्र सूक्ष्मास्तावत् पञ्च तन्मात्रकाः, तैरेवादिसर्गे सूक्ष्मशरीराणि त्रयाणामपि लोकानां प्रारब्धानि। तत् सूक्ष्मशरीरमृतुकाले मातुरूदरं प्रबिशति। मातुरुधिर पितुः शुक्रम्। वेदान्त वादिनोप्येवमाहुः। प्राणिनः स्वर्गनरकादिषु स्वकर्म भोगानन्तरमत्राजिगमिषवः सोममण्डले लीना भूत्वा वृष्टयो भवन्ति। ततोऽन्नम्। तत् स्त्रीपुंसाभ्यामुपभुक्तं शुक्रशोणिते, ततः पुरुष इति। "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचस (छां० उ० अ०५ खं० ३ कं० ३१) इत्यारभ्य "इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप" (छाँ०उ० अ० ५ खं० ९ कं० १) इत्याहुः। पुराणेष्वपि—

सोम वृष्ट्यन्नरेतांसि पुरुषस्तत्र पञ्चमः।
स जीवत्यग्नये पश्चाद्धरन्त्यस्माद्यतोऽभवत् ॥ इति ॥

तदेवं सूक्ष्मशरीरस्योपचयं करोति। मातुरसित पीताभरसो मातृनाडीसम्बन्धेन प्रबिश्य सूक्ष्मशरीरस्य शुक्रशोणितमयस्योपचयं कुरुते। मातुश्च नाड्या बालस्य नाभिरन्ध्रं प्रविशति। यथैकेन मार्गेण शाकवाटस्याप्यायनमुदकं करोति। एवमन्नपानस्य रसो मातृनाडीगतो बालस्य नाभि प्रविशति। प्रविश्य बालशरीरस्याप्यायनं करोति। तत्र सूक्ष्मशरीरस्याकृतिः यादृगृलक्षणा बहिः शरीरस्य भवति हस्तपादशिरः पृष्ठोदरजङ्घागुल्फ इति। अपि च शिष्टा वदन्ति वहिः शरीरं षाटकौशिकमिति। रुधिरमांसत्वचो मातृजाः स्नाप्यस्थिमज्जानः पितृजाः। एवमेतद्बाह्य शरीरमाभ्यन्तर सूक्ष्मशरीरस्योपस्चयं कुरुते। तस्यैव वहिः शरीरोपचितस्य सूक्ष्मशरीरस्य प्रसवकाले योन्या निर्गतस्य मातुरुदरात् बाह्यानि पञ्चमहाभूतानि पृथिव्यादीनि विहरसंस्थानीयानि कृतानि। यथा कस्यचित् राजकुमारस्य मातापितृभ्यामुपचितस्य पञ्चमहाभूतानि कृतानि। आकाशमवकाशने, भूमिर्विहरणे, आपः पिण्डीकरणे शुद्धौ च, अग्निराहारपचने, वायुर्व्यूहने, अस्य शरीरस्यैवमेते विशेषाः

त्रिविधाः । सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैः । प्र इत्युपसर्गः । एवं सूक्ष्मा मातापितृजा भूतानि चेत्यर्थः । तानि च पृथिव्यादीनि । एवमेते त्रिधा विशेषाः । ये चान्ये प्रागभिहिता विशेषाः शान्ता घोरा मूढाश्च । अत्राह— एतेषु त्रिष्वपि विशेषेषु के नित्याः केऽनित्या इत्यत्रोच्यते—सूक्ष्मास्तेषां नियताः । सूक्ष्मा इति यैरादिसर्गारम्भस्ते नियता नित्या इत्यर्थः । तैरारब्धं सूक्ष्मशरीरमस्मिन् स्थूलशरीरे पतति तदधर्मेण संयुक्तं पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तानि पञ्च स्थानानि पश्यति । धर्माधर्मयोः साम्येन ब्रह्मणादीनि चाण्डालान्तानि पश्यति । एवं सूक्ष्मशरीरं नियतं यावत् संसारमित्यर्थः । तत् यावत् ज्ञानं गुणपुरुषान्तरोपलब्धि रूपं नोत्पद्यते तावत् संसरति उत्पन्ने ज्ञाने निवर्तते । तस्मिश्च निवृत्ते पुरुषो मोक्षं गच्छति । उक्तं च –

देहे मोहाश्रये भग्ने युक्तः स परमात्मनि ।
कुम्भाकाशइवाकाशे लभते चैकरुपताम् ॥

"यथा दर्पणाभाव आभासहानौ" इत्यादि तस्मादेतत् सूक्ष्मम् (१) (नियतम्) । मातापितृजा निवर्तन्ते, तत् सूक्ष्मशरीरं परित्यज्य मरणकाले मातापितृजं पतति । तत् सूक्ष्मशरीरं ज्ञानमविदुषां संसरति ॥३९॥

अनुवाद—सूक्ष्म का अर्थ है, पञ्चतन्मात्रायें, क्योंकि आदि सर्ग में इन्हीं से तीनों लोकों का शरीर निर्माण होता है । यही सूक्ष्मशरीर ऋतुकाल में माता के उदर में प्रविष्ट होता है—माता के रुधिर और पिता के शुक्र के रूप में । वेदान्तियों का भी यही कहना है । स्वर्ग नरकादि में स्थित प्राणी अपने-अपने कर्म भोग के बाद पृथिवी में आना चाहते हैं । प्रथम वे सोममण्डल में लीन होकर, वृष्टि में परिणत होते हैं, इसके बाद अन्न में । स्त्री-पुरुष के द्वारा खाया गया वह अन्न शुक्रशोणित रूप में परिणत हो जाता है । ततः जीव की उत्पत्ति होती है । जैसाकि कहा भी है—"छान्दोग्य उपनिषद् में विरथ यथा" इत्यादि । पुराण में भी—"सोमवृष्ट्यन्त्र" इत्यादि के द्वारा यही बात स्पष्ट की है । तब सूक्ष्मशरीर का उपचय इस प्रकार होता है । माता के द्वारा खाया पिया गया अन्न रस माता के नाड़ी के द्वारा प्रवेश कर शुक्र-शोणितमय सूक्ष्मशरीर का उपचय करता है । वह अन्नरस मातृनाड़ी से बालक के नाभिरन्ध्र में प्रवेश करता है । जैसे—किसी एक मार्ग (कुल्या) से पहुँचा हुआ जल पूरे शाकबाटिका को सिक्त कर देता है, उसी तरह अन्नपानरस भी मातृनाड़ी से बालक के नाभिरन्ध्र में प्रवेश करता है । फिर प्रविष्ट होकर पूरे शरीर को पुष्ट करता है । उस सूक्ष्म शरीर की भी आकृति बाह्य शरीर के ही समान होती है—हाथ, पैर, शिर, पृष्ठादि । शिष्ट लोगों का कहना है कि यह बाह्य शरीर षट्कौशिक है क्योंकि इसमें रुधिर, मांस, त्वचा ये तीन-

माता के शोणित से उत्पन्न होते हैं और स्नायु, अस्थि, मज्जा ये तीन पिता के शुक्र से उत्पन्न होते हैं। (ये सब मिलाकर छः तत्व हुए, अतः इन्हें षाट्कौशिक शरीर कहते हैं।) इस प्रकार माता-पिता का बाह्य शरीर आभ्यंतर शरीर को पुष्ट करता है। उसी वाह्य शरीर से पुष्ट, प्रसवकाल में माता के उदर से योनि मार्ग द्वारा निकले हुए इस सूक्ष्म शरीर के विहरण के लिए ये (प्रभूत) पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत हैं। जैसे—माता-पिता के द्वारा परिवर्धित किसी राजकुमार के उपयोग के लिए ये पञ्चमहाभूत होते हैं। आकाश अवकाश के लिए, भूमि विहरण के लिए, जल शुद्धि एवं स्निग्धता के लिए, अग्नि आहार पाचन के लिए, वायु व्यूहन के लिए। इस प्रकार शरीर के ये तीन प्रकार के विशेष होते हैं—सूक्ष्म, मातापितृज और प्रभूत। प्रभूत का मतलब पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत। इस तरह ये तीन प्रकार के विशेष हुए जिन्हें पहिले कह चुके हैं कि ये शान्त घोर और मूढ अवस्था वाले होते हैं। अब यह बतलाते हैं कि उन तीनों विशेषों में कौन नित्य है और कौन अनित्य। इनमें सूक्ष्म विशेष नित्य होते हैं। सूक्ष्म का अर्थ है कि जिनसे आदिसर्गारम्भ होता है, वे नित्य हैं। इनके द्वारा आरब्ध सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से आ जाता है, और वह फिर अधर्म से संयुक्त होकर पशुमृगादि स्थावर पर्यन्त योनियों में भटकता है और धर्मा-धर्म की समता में ब्राह्मणादि चाण्डाल पर्यन्त योनियों में भटकता है। इस तरह जब तक संसार है, तबतक यह सूक्ष्म शरीर भी रहता है। जब तक प्रकृति पुरुष विवेक साक्षात्कार नहीं होता तब तक यह सूक्ष्म शरीर संसरण करता रहता है। और जब तत्व साक्षात्कार हो जाता है, तब यह भी उपरत हो जाता है। सूक्ष्म शरीर के उपरत होने पर पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है। कहा भी है कि—मोहाश्रय देह के नष्ट हो जाने पर वह पुरुष परमात्मा में मिल जाता है। जैसे घटाकाश महाकाश में एकरूपता को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि—दर्पणाभाव में आभासहानि। तस्मात् यह सूक्ष्म नियत है और मातापितृज शरीर नष्ट हो जाता है। अर्थात् उस सूक्ष्म शरीर को छोड़कर मातापितृज शरीर मृत्यु काल में विलीन हो जाता है और वह सूक्ष्म शरीर भी अज्ञानियों का ही संसरण करता है ॥३६॥

प्रबोधिनी

विशेषों में भी अब अवान्तर विभाग दिखलाते हैं। ये विशेष तीन प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म, मातापितृज तथा प्रभूत। सूक्ष्म से तात्पर्य है लिङ्ग शरीर का जिसमें पञ्चतन्मात्रायें, दशइन्द्रियां, बुद्धि, अहंकार और मन होते हैं। यही सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीर है। यह मोक्षपर्यन्त बना रहता है। विज्ञान-

भिक्षु सूक्ष्म शरीर में सत्रह तत्व ही मानते हैं। वे अहंकार का अन्तर्भाव बुद्धि में ही कर देते हैं।

दूसरा विशेष है, माता-पिता के खाये हुए अन्नरस से बना हुआ जो शुक्रशोणित, उससे उत्पन्न स्थूल शरीर। इसको षाट्कौशिक शरीर भी कहते हैं।

तीसरा विशेष है प्रभूत। अर्थात् घटपटादि पृथिव्यादि पदार्थ जो नाश के समय अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाता है। यद्यपि ३८ वीं कारिका में "**तन्मात्राण्यविशेषाः**" इत्यादि, कहकर तन्मात्राओं को अविशेष ही बतलाया है। परन्तु महदादि सूक्ष्मपर्यन्त समुदाय को यहाँ विशेष कहा है। इनमें इन्द्रियाँ बुद्धि मन अहंकार के शान्त घोर मूढ़ अवस्था युक्त होने से '**अधिकेन व्यपदेशा भवन्ति**" इस न्याय से समुदायान्तर्गत होने के कारण यहाँ तन्मात्राओं को भी विशेष ही कहा गया है। '**एते स्मृता विशेषः**" इससे केवल महाभूतों को ही विशेष नहीं समझना चाहिए बल्कि शान्त घोर मूढत्व हेतु जहाँ भी रहे वे सब विशेष हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार में यह धर्म उपलब्ध है। अतः ये सब विशेष कहे जाते हैं। केवल तन्मात्रायें ही अविशेष हैं क्योंकि इनमें ये धर्म उपलब्ध नहीं हैं। पर विशेष मध्य पतित होने के कारण यहाँ तन्मात्राओं को भी विशेष कहा गया है ॥३९॥

अत्राह—उक्तं च भगवता—"मातापितृजा निवर्तन्ते तत् सूक्ष्मं संसरतीत्यर्थः। (कथमिति चेत्) अत्रोच्यते—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ ४०॥

सङ्गति—भगवान् ईश्वर कृष्ण ने पहिले कहा था कि मातापितृज शरीर नष्ट हो जाता है, और सूक्ष्म शरीर ही संसरण करता है। वह किस प्रकार संसरण करता है, इसी को बतलाते हैं—पूर्वोत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर जो कि महदादि सूक्ष्म तन्मात्रा पर्यन्त है, अव्याहत गतिवाला है, नित्य हैं, शब्दादि विषयभोग से रहित है और धर्माधर्म भावना से बासित होकर संसरण करता है ॥४०॥

मा० वृत्ति—पूर्वोत्पन्नमित्यादि। सर्गोत्पन्नमित्यर्थः। यावत् ज्ञानं नोत्पद्यते तावत् संसारे स्थिरतरं स्थितमित्यर्थः। किञ्चान्यत्—असक्तं, क्वचिन्न-सक्तमित्यसक्तम् देवमानुषतिर्यक्षु सूक्ष्मत्वात् नियतं नित्यमित्यर्थः। पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि मनोबुद्धिरहङ्कार एवमष्टा-

दश—महादिसक्ष्मपर्यन्तमिति । महान् यस्यादौ, सूक्ष्माणि तन्मात्राणि शब्दादि विषयाख्यायन्ते यस्य तत्तथोक्तम् । अन्तःकरण बहिःकरणानि त्रयोदश तन्मात्राणि पञ्च चेति । अत्राह—तत् किं करोति ? अत्रोच्यते—संसरति देवमानुष तिर्यक् योनिषु जीवभावमागच्छति । तद्धि निरुपभोगं शब्दादयो विषया उपभोगास्तैर्विरहितम् । त्रयोदशकरणात्मकमेवेत्यर्थः । भावैरधिवासितं देवमानुषतिर्यक्भावाधिवासितमेवेत्यर्थः । यथा तिलपतन वस्त्रवासनवत् ? तद्वत् शान्ताभावा भवन्ति । देवभावाः शुभेन मिश्रेण मानुषा, अशुभेन तिर्यक्त्वम् । लिङ्गं प्रलयकाले प्रधाने लयं गच्छति इति लिङ्गम् । प्रकर्षेण धीयते क्षिप्यतेऽत्र सर्वमिति प्रधानम् ॥४०॥

अनुवाद—पूर्वोत्पन्न अर्थात् आदि सर्ग में उत्पन्न जब तक ज्ञान नहीं हो जाता तब तक संसार में स्थिर रूप से स्थित, और भी—असक्त का अर्थ है कि सर्वत्र सङ्गरहितः । देव मनुष्य, तिर्यक् प्राणियों में सूक्ष्म होने के कारण अव्याहत गति वाला । नियत का अर्थ है नित्य । पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच-ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचतन्मात्रायें, मन्, बुद्धि, अहंकार, ये अठारह तत्व ही महदादि सूक्ष्म पर्यन्त इस सूक्ष्म शरीर में रहते हैं । व्युत्पत्ति दिखलाते हैं—महान् है आदि में जिसके और शब्दादितन्मात्रायें विषय है अन्त में जिसके उसे "महदादि सूक्ष्म पर्यन्त" कहते हैं । अन्तःकरण और बहिःकरण तेरह और पाँच तन्मात्रायें । तब वह सूक्ष्म शरीर क्या करता है ? उत्तर—देव मनुष्य तिर्यक् योनियों में संसरण अर्थात् जीवभाव को प्राप्त करता है । वह निरुपयोग, अर्थात् शब्दादि विषय भोगों से रहित होता है । (पाँच शब्दादि विषयों को छोड़कर) त्रयोदशकरणात्मक होता है और भावों से अधिवासित होता है । अर्थात् देव मनुष्यादियों के जो धर्माधर्म भावनायें, उनसे भावित (युक्त) होता है । तिलपतनवस्त्र वासन की तरह ये भाव शान्त रूप से सूक्ष्म शरीर में समन्वित होते हैं । शुभ भावना देवभाव को, मिश्रितभावना से मनुष्यत्व को, और अशुभ भावना से तिर्यक्त्व को प्राप्त करता है । लिङ्ग का अर्थ है प्रलय काल में प्रधान में लय होने वाला । क्योंकि प्रकृतया सब कुछ जहाँ आधान हो उसे ही प्रधान कहते हैं ॥४०॥

प्रबोधिनी

अठारह तत्त्वों का बना हुआ यह सूक्ष्म शरीर, सृष्टि के आदि में प्रत्येक शरीर में प्रधान से अलग-अलग उत्पन्न होता है । अतः यह असक्त—सङ्गरहित है । वस्तुवन्तर सङ्गराहित्य होने से ही सर्वत्र इसकी गति है । नियत अर्थात् मोक्ष पर्यन्त रहने वाला है । यह सूक्ष्म शरीर पूर्व पूर्व स्थूल देह के

परित्याग पूर्वक स्थूल देहान्तर को ग्रहण करता है। यही इसका संसरण है। वाचस्पति मिश्र ने भी तत्वकौमुदी में कहा है, **"उपात्तमुपात्तं षाट्कौशिकं शरीरं जहाति, हायं हायं=हित्वा हित्वा चोपाददते।"** क्योंकि स्थूल शरीर के बिना यह सुखदुःखादि का भोग नहीं कर सकता है, इसीलिए इसे निरुपयोग कहा है। धर्माधर्मादि भावों से अधिवासित होने से ही इसका संसरण भी होता है; क्योंकि धर्माधर्म निमित्तक ही संसार है। कहा भी है—

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्ये तु संयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

ये धर्माधर्म ज्ञानाज्ञान वैराग्य ऐश्वर्यादि भाव बुद्धिनिष्ठ ही होते हैं न कि पुरुषनिष्ठ। और उस बुद्धि से संयुक्त सूक्ष्म शरीर होता है। अतः इसका संसरण (संसार भाव में आना) उपयुक्त ही है। अपने-अपने शुभाशुभ (अदृष्टवश) शरीर का परिग्रहण करना ही संसार है ॥४०॥

अत्राह—सूक्ष्मशरीरेण नास्ति प्रयोजनम्। तर्हि त्रयोदशविधं करणमेव कथं संसरति? अत्रोच्यते—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो यथा विना छाया।
तद्वद्विनाऽविशेषैः[1] न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥ ४१॥

सङ्गति—अविशेषों से आरब्ध सूक्ष्म शरीर को यदि न माना जाय तो त्रयोदशविध करणों का संसरण नहीं हो सकता।

क्योंकि—जैसे किसी आधार के बिना चित्र नहीं लिखा जा सकता, जैसे वृक्षादि के बिना छाया नहीं रहती, उसी प्रकार अविशेषारब्ध सूक्ष्म शरीर के विना बुद्ध्यादि त्रयोदश करण भी निराधार नहीं रह सकते ॥४१॥

मा० वृत्ति—इहाश्रयाश्रयिणोः सम्बन्धो दृष्टः। न ह्याश्रयं विनाऽऽश्रयी तिष्ठति। कुड्यपटाश्रयं कृत्वा चित्रमवतिष्ठते। तदिदं सूक्ष्मशरीरं कुड्यपटस्थानीयं चित्रसंस्थानीयं त्रयोदशविधेकरणम्। तदेवं सति यदुक्तं भवता त्रयोदशविधं करणमेव संसरति इति तन्मिथ्या। किं चान्यत्—"स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया" इति। स्थाणुपुरुषादिभिर्विना यथा छाया न भवति। छायां विना ते च न भवन्ति। यथाऽग्निना विना प्रकाशो न भवति। तद्वद्विनाऽविशेषैस्तिष्ठति न निराश्रयं लिङ्गमिति। अविशेषा इति तन्मात्राणि स्वाभाविकक्षीरजलवत् शान्तघोरमूढत्व रहितत्वात्। तैरारब्धं सूक्ष्मशरीरम्। तेन सूक्ष्मशरीरेण सर्गादिप्रारब्धेन विना निराश्रयं त्रयोदशकरणाख्यं लिङ्गं न

तिष्ठति । अतो यदुक्तं भवता किमविशेषैरारब्ध सूक्ष्मशरीर कल्पनया प्रयोजनं त्रयोदशविधं करणमेव संसरति इति ' तत् मिथ्या ।।४१।।

अनुवाद—संसार में आश्रय तथा आश्रयीभाव सम्बन्ध देखा गया है। आश्रय के बिना आश्रयी नहीं रह सकता है। दीवार तथा पटादि के आश्रय में ही चित्र रहता है। तब यह सूक्ष्म शरीर कुड्यपटस्थानीय है और चित्र-स्थानीय त्रयोदश प्रकार के करण हैं। ऊपर जो यह शंका की गई थी कि त्रयोदश प्रकार के करण ही क्यों न संसरण करें, वह ठीक नहीं है। और भी—स्थाणु (वृक्ष) पुरुषादियों के बिना जैसे छाया नहीं रहती है, और छाया-रहित वे भी नहीं रह सकते। जैसे अग्नि के बिना प्रकाश नहीं रहता, उसी प्रकार अविशेष (तन्मात्रा) के बिना निराधार लिङ्ग शरीर भी नहीं रहता है। अविशेष से तात्पर्य है तन्मात्राएँ। ये स्वाभाविक क्षीर जल की तरह रहते हैं अर्थात् शान्त घोर मूढ अवस्थाओं से रहित। उनसे सूक्ष्म शरीर प्रारम्भ होता है। सर्गादि में प्रारब्ध उसी सूक्ष्मशरीर के बिना निरा-धार लिङ्ग शरीर नहीं रहता है। अतः जो आपने यह कहा कि अविशेष से आरब्ध सूक्ष्म शरीर की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं, अपितु त्रयोदशविध करण ही संसरण करें, यह बात ठीक नहीं है ।।४१।।

प्रबोधिनी

छाया और चित्र जिस प्रकार निराधार नहीं रहते उसी प्रकार यह लिङ्ग शरीर भी अविशेष (सूक्ष्मतन्मात्रा) के विना निराधार नहीं रह सकता है। क्योंकि मरण के वाद पुनः स्थूल शरीर ग्रहण पर्यन्त बुद्धयादि त्रयोदश करणों को कोई न कोई वर्तमान आधारभूत शरीर अवश्य चाहिए, इसके लिए सूक्ष्म शरीर (तन्मात्रा) ही आधार हो सकता है। अर्थात् यदि सूक्ष्मभूत तन्मात्राओं का सम्बन्ध स्वीकार न किया जाय, तो बुद्धयादियों का शरीर विशेष के आधार न होने से स्थिर होना असम्भव सा है। आगम भी इसमें प्रमाण है। महाभारत के सावित्री उपाख्यान में लिखा है—

'ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ।।

यहाँ अङ्गुष्ठमात्र यह सूक्ष्मता का ही उपलक्षक है और पुरुष से तात्पर्य सूक्ष्म शरीर का ही है क्योंकि आत्मा का तो निष्कर्षण हो नहीं सकता। "पुरि शरीरे शेते" इस यौगिक व्युत्पत्ति से भी पुरुष शब्द सूक्ष्म शरीरपरक ही है। "आत्मा" अर्थ में तो वह योगरुढ़ है ।।४१।।

अत्राह—सूक्ष्मशरीरं त्रयोदशविधकरण सम्पन्नं केन हेतुना संसरतीति ? अत्रोच्यते—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

संङ्गति—त्रयोदश प्रकार के करणों से सम्पन्न यह सूक्ष्म शरीर किस लिए संसरण करता है, इसी को स्पष्ट करते हैं :—

यह लिङ्ग (सूक्ष्म शरीर) भोगापवर्ग लक्षण पुरुषार्थ के लिए ही निमित्त (धर्मादि) नैमित्तिक (तज्जन्य स्थूल देहादि) अथवा (उर्ध्वगमनादि) प्रसङ्ग से, प्रकृति के व्यापक सम्बन्ध से (प्रभुत्व होने से) नट की तरह व्यवहार करता है ॥४२॥

मा० वृत्ति--पुरुषार्थः कर्त्तव्य इति प्रधानस्य तावत् प्रवृत्तिः । स चार्थो द्विविधः । शब्दाद्युपलब्धि लक्षणो गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च । शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मलोकादिषु भोगावाप्तिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष इति । तस्मादुक्तम्—पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरमिति । किंचान्यत्—निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन । तत्र निमित्तं धर्माद्यष्टविधम् । (१) (नैमित्तिकमूर्ध्वगमनादि) । तत् पुरस्तात् वक्ष्यामः "धर्मेण गमनमूर्ध्वम्" इत्यादि । प्रकृतिः प्रधानम् । विभुत्वं प्रभुत्वं तस्य योगात् (तद्विभुत्वयोगात्) यथा कश्चित् राजा प्रभुत्वयोगेन स्वराष्ट्रे यत् यत् इच्छति तत् तत् करोति । एवं प्रधानमपि प्रभुत्वयोगेन मानुष्यं वा दैवं वा तैर्यक्योन्यं वा कुरुते । एवं सूक्ष्मशरीरं त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं हस्तिन्या उदरं प्रविश्य हस्ती भवति । स्त्रीशरीरं प्रविश्य मनुष्यो भवति । (२) (पशुशरीरं प्रविश्य) पशुर्भवति । तस्मान्नटवत् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् । (३) (यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति पुनर्मानुषः, एवं लिङ्ग निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्गेन उदरान्तः प्रविश्य नानारूपं धत्ते ॥४२॥

अनुवाद--पुरुषार्थ करना चाहिए इसीलिए प्रधान विषयों की प्रवृत्ति होती है। वह पुरुषार्थ दो प्रकार का है। एक तो शब्दादि विषयों को उपलब्ध कराने वाला। दूसरा प्रकृति पुरुष विवेकसाक्षात्कारवाला। शब्दादि विषयोपलब्धि का अर्थ है कि ब्रह्मलोकादियों में विषयजन्य सुख की प्राप्ति। और गुणपुरुषान्तरोपलब्धि का अर्थ है मोक्ष। इसीलिए कहा है कि यह सूक्ष्मशरीर पुरुषार्थ के लिए ही संसरण करता है। और भी निमित्त और नैमित्तिक प्रसङ्ग से संसरण करता है। निमित्तधर्मादि अष्टविध है। नैमित्तिक है उर्ध्वगमनादि। इसे आगे स्पष्ट करेंगे। "धर्मेणगमनमूर्ध्वम् इत्यादि से।

प्रकृति का अर्थ प्रधान है। उसके विभुत्व अर्थात् प्रभुत्व योग से। जैसे कोई राजा अपने प्रभुत्व के बल से अपने राष्ट्र में जो जो कार्य करता चाहता है, वह सब कर देता है। इसी तरह प्रधान भी अपने प्रभुत्व योग (व्यापक सम्बन्ध) से मनुष्यभाव को, दैवभाव को और तिर्यक्भाव को प्राप्त करता है। यह सूक्ष्म शरीर त्रयोदशविधकरण से संयुक्त होकर हस्तिनी के उदर में प्रवेश करके हस्ती बन जाता है, और स्त्री के शरीर में प्रवेश कर मनुष्य बन जाता है, और पशु के शरीर में प्रवेश कर पशु हो जाता है। जैसे कोई नट पटान्तर से प्रवेश कर देवरूप धारण कर बाहर रङ्गमञ्च में उपस्थित होता है पुनः मानुष रूप भी धारण कर लेता है। इसी प्रकार यह लिङ्गशरीर भी निमित्त नैमित्तिक प्रसङ्ग से उदरान्तः प्रवेश कर नाना रूपों को धारण करता है। इसीलिए कहा है कि लिङ्गशरीर में नट की तरह व्यवहार करता है।।४२।।

प्रबोधिनी

यह सूक्ष्मशरीर भोगापवर्ग लक्षण पुरुषार्थ के लिए धर्माधर्मादि निमित्त से अनेक प्रकार के योनियों में तथा लोकों में भ्रमण करता हुआ, तत् फल-स्वरूप मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्थूल शरीर को धारण कर उसी प्रकार व्यवहार करता है, जिस प्रकार नट अनेक रूप धारण कर कभी राम कभी युधिष्ठिर, वत्सराजादि बनकर विविध प्रकार का व्यवहार करता है। सांख्यसूत्र में भी कहा है कि—"**पुरुषार्थंसंसृतिलिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः** (।।३।। १६।।)

अर्थात्—लिङ्ग शरीर का संसरण पुरुषार्थ के लिए होता है। जिस प्रकार सूपकार (पाचक) राजा के लिए पाकशाला में जाता है।।४२।।

अत्राह—उक्तं पुरा भावैरधिवासितं लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं संसरति। तत के भावा इति? अत्रोच्यते—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च[1] धर्माद्याः।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः॥ ४३॥

सङ्गति—पहले कहा था कि भावों से अधिवासित होकर यह सूक्ष्म-शरीर संसरण करता है। तब भाव कौन से हैं, इन्हीं का व्याख्यान करते हैं—

भाव तीन प्रकार के होते हैं। सांसिद्धिक (स्वतः सिद्ध), प्राकृतिक (अकस्मात् उत्पन्न) और वैकृतिक (नैमित्तिक)।

धर्मादि आठ भाव करणाश्रयी होते हैं और कललादिभाव कार्याश्रयी हैं, अर्थात् स्थूल शरीराश्रित ।।४३।।

मा० वृत्ति—त्रिविधा भावाश्चित्यन्ते । तत्र केचित् सांसिद्धकाः, केचित् प्राकृत्तिकाः, केचित् वैकृताः । तत्र सांसिद्धिकास्तावत् यथा कपिलस्य भगवतः परमर्षेरादिसर्गे उत्पन्नस्य इमे चत्वारो भावाः सहोत्पन्ना धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति । एते सांसिद्धिका उच्यन्ते । प्राकृतिका नाम ब्राह्मणः पुत्राः किल सनकादयो वभूवुः । तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरवतां षोडशवर्षाणाः-मेवेते चत्वारो भावा अकस्मादेवोत्पन्ना निधिदर्शनवत् । एते च प्राकृतिका भावा उच्यन्ते । वैकृतिका यथा—आचार्यादिमूर्तिमधिकृत्य उत्पन्ना वैकृतिका इत्युच्यन्ते । आचार्यं निमित्तं कृत्वा ज्ञानमुत्पद्यते । ज्ञानात् वैराग्यं, वैराग्याद्धर्मो, धर्मादैश्वर्यम् । एवमेते चत्वारो भावा अस्मदादिष्वपि वर्तन्ते । तदेवं वैकृता इत्युच्यन्ते । एवमेते त्रिधा भावा व्याख्याता यैरधिवासितं महदादि लिङ्ग संसरति । अत्राह—धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यम् अधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम् । एवमेतेऽष्टौ भावाः क्ववर्तन्ते ? । पूर्वर्षिभिः दृष्टाः करणश्रमिण.करणान्युच्यन्ते बुद्धिकर्मान्त.करणभेदाः त्रयोदश । तान्याश्रित्याष्टौ भावाः प्रवर्तन्ते । उक्तं हि—"अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग.ऐश्वर्यम्" इत्येवमादि । किञ्चान्यत्—कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः । यथा सूक्ष्मशरीर मुत्पत्तिकाले मातुरुदरं प्रविशति । मातुः रुधिरं पितुः शुक्रं तस्य सूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुरुते । कललबुद्बुदघनमांसपेशीगर्भकुमारयौव-नस्थाविरादयोऽन्नपानरस निमित्ता उत्पद्यन्ते । तत उच्यते—"कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः" इति । कललग्रहणं विरागनिमित्तम् ।।४३।।

अनुवाद—त्रिविध भावों के विषय में विचार किया जाता है । इसमें कुछ भाव सांसिद्धिक हैं, कुछ प्राकृतिक और कुछ वैकृतिक । सांसिद्धिक भाव जैसे—सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए भगवान् कपिल के धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, ये चार भाव साथ ही उत्पन्न हुए । अतः इन्हें सांसिद्धिक कहते हैं । प्राकृतिक भाव—जैसे ब्रह्मा जी के सनकादि चार पुत्र हुए । कार्य-कारण भाव पूर्वक उत्पन्न हुए । उनके सोलह वर्ष की अवस्था में ही अकस्मात् ये धर्मादि चार भाव उत्पन्न हो गये । जैसे अकस्मात् किसी को निधि दिखाई दे । इन्हें प्राकृतिक भाव कहते हैं । वैकृतिक भाव—जैसे आचार्यादि मूर्ति को निमित्त बनाकर जो धर्मादि भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें वैकृतिक भाव कहते हैं । आचार्य को निमित्त मानकर ज्ञान उत्पन्न होता है । ज्ञान से वैराग्य, वैराग्य से धर्म, धर्म से ऐश्वर्य उत्पन्न होता है । इस तरह ये चार भाव हम लोगों में भी रहते हैं । इसलिए इन्हें वैकृत भाव कहते हैं । इस प्रकार

त्रिविध भावों की व्याख्या कर दी, जिनसे अधिवासित होकर यह लिङ्गशरीर संसरण करता है। फिर प्रश्न करते हैं कि—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, ये आठ भाव कहाँ रहते हैं? उत्तर—प्राचीन महर्षियों ने इन्हें करणाश्रयी बतलाया है। करणों को बतलाते हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और त्रिविध अन्तःकरण को मिलाकर तेरह हैं। इन्हीं का आश्रय लेकर ये धर्मादि आठ भाव प्रवृत्त होते हैं। कहा भी है—"अध्यवसायोबुद्धिः" इत्यादि। और ये कललादि (रज और वीर्य का मिश्रण) कार्य (स्थूल देह) के आश्रय में रहते हैं। जैसे उत्पत्ति के समय में सूक्ष्म शरीर माता के उदर में प्रवेश करता है। माता का रुधिर तथा पिता का शुक्र सूक्ष्म शरीर का उपचय करते हैं। फिर अन्न रसपान के निमित्त से कलल, बुद्बुद्, घन, मांस, पेशी, मर्म, कुमार, यौवन, स्थविर भाव को धारण करते हैं। अर्थात् तत्तत् रसपानादि के द्वारा तत्तत् अवस्था को प्राप्त करते हैं। इसीलिए कहा है कि कललादि कार्य (स्थूल शरीर) के आश्रित रहते हैं। कललादि जुगुप्सित् पदार्थों का ग्रहण यहाँ वैराग्यद्योतन के लिए हैं ॥४३॥

प्रबोधिनी

सांसिद्धिक (स्वाभाविक), प्राकृतिक (अकस्मात् उत्पन्न) और वैकृतिक (नैमित्तिक) ये तीन प्रकार के भाव होते हैं। सांसिद्धिक भाव वे हैं, जो जन्म समय से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे—महर्षि भगवान् कपिल जी सृष्टि के आदि में धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य सम्पन्न होकर प्रादुर्भूत हुए थे। प्राकृतिक भाव वे हैं जो उत्पन्न होने के बाद अकस्मात् उत्पन्न हो जाए। जैसे ब्रह्मा के मानसपुत्र सनक, सनन्दन सनातन और सनत्कुमार, उत्पत्ति के बाद इन्हें एकाएक धर्मादि चार भाव स्वयं उत्पन्न हो गये। वैकृत भाव वे हैं, जो जन्म के बाद किसी निमित्त विशेष (उपाय) से उत्पन्न होते हैं। जैसे—वाल्मीकि मुनि को गुरुपदेश के बाद रामनाम के जप से धर्म ज्ञान वैराग्य आदि भावों का प्रादुर्भाव हुआ एवं एकलव्य को द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर अभ्यास करने से बाण चालन विद्या का ज्ञान हुआ था। धर्माधर्मादि ये आठ भाव करण (बुद्धि आदि) के आश्रय में रहते हैं और कललादि स्थूल शरीराश्रित रहते हैं।

सांख्य कारिका की टीका तत्वकौमुदी में इसकी व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है। यहाँ भावों का विभाजन दो प्रकार से किया है। प्राकृतिक भाव जो कि सांसिद्धिक हैं और वैकृतिक भाव जो कि असांसिद्धिक हैं। तथा

अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य, ये भी सांसिद्धिक तथा असांसिद्धिक होते हैं। और ये धर्माधर्मादि आठों भाव करणाश्रित हैं, और कललादि कार्याश्रित। ये भी गर्भस्थ शिशु के कललादि चार भाव सांसिद्धिक और बाल्यादि भाव अन्न पानरस भोजन कृत शरीरोपचय निमित्तक होने से असांसिद्धिक हैं। अन्य टीकाकारों ने माठर का ही अनुसरण किया है ।।४३।।

उक्तं पूर्वस्यामार्यायां "निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्गेन" नटवत् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्" इति, तत्र किं निमित्तं किं च नैमित्तिकमिति ? अत्रोच्यते—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

सङ्गति—पूर्व आर्या में कहा था कि यह लिङ्ग शरीर निमित्त नैमित्तिक प्रसङ्ग से नट की तरह व्यवहार करता है। तो फिर कौन निमित्त है कौन नैमित्तिक है, इसी को बतलाते हैं—धर्म (निमित्त) के द्वारा उर्ध्व गमन (नैमित्तिक) होता है। अर्थात् स्वर्गादि लोकों में गमन होता है। और अधर्म (निमित्त) के द्वारा अधोगमन (नैमित्तिक) होता है। अर्थात नरक-पाताल लोकों में गमन होता है। ज्ञान (निमित्त) से अपवर्ग (नैमितिक) अर्थात् मोक्ष होता है। और अज्ञान (निमित्त) से बन्ध (नैमित्तिक) अर्थात् जन्म-मरण चक्र होता है ।।४४।।

मा० वृत्ति—तत्र धर्मो निमित्तम् इह लोके धर्म यः कुरुते तन्निमित्तं कृत्वा सूक्ष्म शरीर मूर्ध्वं गच्छति। उर्ध्वमिति अष्टानां देव योनीनां ग्रहणम्। तत्र आद्यं ब्राह्मम्। प्राजापत्यम्, ऐन्द्रं, पित्र्यं, गान्धर्वं, याक्षं, राक्षसं, पैशाचम्, इत्येतान्यष्टौ स्थानानि सूक्ष्मशरीरं गच्छति। तत्र धर्मो निमित्तम्, उर्ध्व गमनं नैमित्तिकम्, किं चान्यत्–गमनमधस्ताद्भवत्य धर्मेण। इह लोके यमनियम-लक्षणो धर्म स्तद्विपरीतो ह्यधर्मः तेना धर्मेण सूक्ष्मशरीरम धस्ताद् गच्छति पश्वादि। पशु मृग पक्षिसरीसृपस्थावरमिति पञ्चधा तिर्यक स्थावरान्तम्। अत्राऽधर्मो निमित्तम्, अधोगमनं नैमित्तिकम्। किं चान्यत् ज्ञानेन चापवर्गः। यत् पञ्च विंशति तत्व ज्ञानं तेन ज्ञानेन तत्सूक्ष्मशरीरं निवर्तते। परमात्माऽपवर्गं प्राप्नोति मोक्षं गच्छतीत्यर्थः। अतो ज्ञानं निमित्तं, अपवर्गो नैमित्तिकः अन्यच्च विपर्ययादिष्यते बन्धः। कस्य विपर्ययात्। ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानं तेनाज्ञानेनाहं दर्शनीयः सुभगोऽहं भोक्ताऽहमिति मन्यते। तेनाज्ञानेन मनुष्य-तिर्यक् देवेष्वात्मानं निबध्नाति। न मोक्षं गच्छतीत्यर्थः। अतोऽज्ञानं निमित्तं बन्धो नैमित्तिकः। स च बन्धस्त्रिविधः। प्रकृतिबन्धो वैकारिक बन्धो दक्षिणा-बन्धश्चेति। तत्र प्रकृतिबन्धो नामाष्टासु प्रकृतिषु परत्वेनाभिमानः। वैकारिक-बन्धो नाम ब्रह्मादिस्थानेषु श्रेयोबुद्धिः। दक्षिणाबन्धो नाम गवादिदानेज्या-निमित्तः। एवं चतुर्विधं निमित्त नैमित्तिकं व्याख्यातम् ।।४४।।

अनुवाद—यहाँ धर्म निमित्त है। जैसे इस लोक में जो धर्म का आचारण करता है, उसी धर्म के निमित्त वह सूक्ष्मशरीर के द्वारा उर्ध्व लोकों को जाता है। उर्ध्व लोक से यहाँ आठ प्रकार के देवयोनियों का ग्रहण होता है। उसमें पहला—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पित्र्य, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच इन आठ स्थानों में सूक्ष्मशरीर जाता है। इनमें धर्म निमित्त है, और उर्ध्व गमनादि नैमित्तिक हैं। और भी—अधर्म के द्वारा अधोगति होती है। इस लोक में यम नियम लक्षण वाला धर्म है। उससे जो विपरीत हो वह अधर्म है। उसी अध के द्वारा सूक्ष्म शरीर अधोगति को प्राप्त होता है, अर्थात् पश्वादि योनियों में। पशु, मृग, पक्षि, सरीसृप, स्थावर, इस तरह से यह तिर्यक् योनि पांच प्रकार की है। यहाँ पर अधर्म निमित्त है और अधोगमनादि नैमित्तिक हैं। और भी ज्ञान के द्वारा अपवर्ग (मोक्ष) होता है। पञ्चविंशति तत्वज्ञान के द्वारा सूक्ष्म शरीर निवृत्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए यहाँ ज्ञान निमित्त है और अपवर्ग नैमित्तिक है। और भी—अतत्वज्ञान से बन्ध होता है। तत्व ज्ञान का विपर्यय अतत्व ज्ञान है। उसी अतत्वज्ञान अर्थात् अज्ञान से पुरुष, मैं दर्शनीय हूँ, सुन्दर हूँ, भोक्ता हूँ, ऐसा मानता है। इस अज्ञान से मनुष्य तिर्यक देवयोनियों में अपने को बांधता है, मोक्ष को प्राप्त नहीं करता। यहाँ अज्ञान निमित्त है और बन्ध नैमित्तिक है। यह बन्ध तीन प्रकार का होता है। प्रकृतिबन्ध, वैकारिक बन्ध और दक्षिणा बन्ध। आठ प्रकृतियों में आत्मा का अभिमान करना प्रकृतिबन्ध है। ब्रह्मादि लोकों को ही मोक्ष समझना वैकारिक बन्ध है। गोदान, यागादिजन्य स्वर्गादि में श्रेयोबुद्धि रखना दक्षिणा बन्व है।

इस प्रकार धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान चार प्रकार से निमित्त नैमित्तिक की व्याख्या कर दी ॥४४॥

प्रबोधिनी

किस निमित्त (हेतु) से कौन सा नैमित्तिक (फल) प्राप्त होता है, इसी बात का प्रकृति कारिका में विस्तार से वर्णन है। धर्म करने से स्वर्गादि लोकों में जीव का गमन होता है और देवादि शरीर प्राप्त होता है। और अधर्म से अधोगति होती है, और नरक, पातलादि लोकों की प्राप्ति होती है तथा पशु, पक्षी, आदि निम्न श्रेणी की योनियों में जन्म होता है। ज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) होता है और अज्ञान से बन्धन (जीवन मरण चक्र) होता है। यह बन्धन भी तीन प्रकार का होता है। प्राकृत, वैकारिक, दक्षिणाबन्ध—वृत्ति में इनका विस्तार से वर्णन किया है।

मृत्यु लोक से ऊपर ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी लोक हैं वे सब पुण्यात्माओं को प्राप्त होते हैं। सात्विक गुण प्रधान जीव उन लोकों को प्राप्त करते हैं और जो रजोगुण प्रधान जीव हैं, वे इसी मृत्य लोक में जन्म ग्रहण करते हैं; और जो तमोगुण प्रधान जीव हैं, वे मृत्यु के बाद नरक में यम यातना का भोग करके वृक्षादि नीच योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। कहा भी है—

"शुभैराप्नोति देवत्वं निसिद्धैर्नारकीं गतिम्।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः॥

यही सर्वशास्त्र सम्मत निष्कर्ष है। भगवती श्रुति भी इसी बात का प्रतिपादन करती हैं। "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह्यत्ते रमणीयां योनिभापधेरन्, ब्राह्मण योनि वा क्षत्रिय योनि वा वैश्ययोनि वा, अथ य इह कपूय चरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापधेरन् श्वयोनिं वा सूकर योनि वा चाण्डालयोनिं वा (छा०५।१०।७) इत्यादि।

जिस प्रकार बन्धन तीन प्रकार का है इसी तरह अपवर्ग (मोक्ष) की भी तीन कोटियां हैं। कहा भी है—

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन, द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥ इति॥

रागक्षय का अर्थ है विषयों में अनाशक्ति, इसमें हेतु है वशीकार संज्ञक वैराग्य। कृच्छक्षय का तात्पर्य है सर्वत्र वासना की उच्छित्ति। इसमें हेतु है, असंप्रज्ञात समाधि और सभी कर्मों के क्षय हो जाने से मोक्ष हो जाता है। इसमें ज्ञान ही हेतु है। कहा भी है कि—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन॥ इति॥
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टेपरावेर॥ इत्यादि॥

अतएव कारिका में भी कहा कि—"**ज्ञानेन चापवर्गः॥ ४४॥**

अन्यदप्ये वंविधमुच्यते चतुर्धा—

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः॥ ४५॥

और इस प्रकार भी निमित्त नैमित्तिक भाव चार तरह का होता है।—

केवल वैराग्य से प्रकृतिलय होता है और राजस राग से संसार (अर्थात् जन्म-मरण) होता है। ऐश्वर्य से इच्छा का विघात नहीं होता है और अनैश्वर्य से सर्वत्र इच्छा का विघात होता है॥४५॥

मा०वृत्ति—यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति।(जितेन्द्रियो विषयेभ्यो विरक्तो न यम नियम परः केवलम्)न तु ज्ञानमस्ति गुणपुरूषान्तराख्यम्। तेनाज्ञानेन वैराग्यपूर्णेन नास्ति मोक्षः। केवलमष्टासु प्रकृतिषु लयो भवति प्रधान बुद्धय हङ्कारतन्मात्रेषु। तत्र लीनमात्मानं मुक्तमित्यवगच्छति। भूयः संसरण काले संसरति त्रिषुलोकेषु शरीरोत्पत्ति र्भवति। तत्र वैराग्यं निमित्तं प्रकृतिलयो नैमित्तिकः। किं चान्यत्—संसारो राजसाद् भवति रागात्। योऽयं राजसो रागोऽवैराग्यम्, यज्ञं करोति दानं ददाति अमुना अमुस्मिन् लोके सुखं ये भावीति तेन रामेण संसारो भवति। ब्रह्मादि स्थानेसु जन्म भवति। तत्र रागो तिमित्तं संसारो नैमित्तिकः। किं चान्यत्—ऐश्वर्याद विघातः यत् पूर्वमश्वर्यमणिमादिकमष्टविधं निर्दिष्टं तस्यादैश्वर्यात् प्रार्थितानामविघातो भवति न मुक्तः। अविघातोऽस्खलनम्। विपर्ययात्तद्विपर्यासः। विपर्ययादनैश्वर्यात्तद्विपर्यासः प्रार्थितानामप्राप्तिरित्यर्थ.। तत्रानैश्वयं निमित्ताम्। प्रार्थितस्याप्राप्ति लक्षणो विपर्यासो नैमित्तिकः। एवं षोऽशको(नित्य)निमित्त नैमित्तिकप्रसङ्गो व्याख्यातः। प्रकृतिलयः प्रकृतिबन्ध इत्युच्यते। यज्ञादिभिर्दक्षिणा बन्ध इत्युच्यते, ऐश्वर्यादि निमित्तो भोगो वैकारिक इत्युच्यते ॥४५॥

अनुवाद—जैसे किसी को केवल वैराग्य है। (अर्थात् केवल जितेन्द्रिय व विषयों से विरक्त है, यमनियम परायण नहीं।) परन्तु प्रकृतिपुरुष विवेकात्मक ज्ञान नहीं है। उस अज्ञान से वैराग्य के कहने पर भी मोक्ष नहीं होता। वह तो केवल प्रधान, बुद्धि, अहंकार, और पञ्चतन्मात्रा, इन आठ प्रकृतियों में ही लीन होता है, इनमें लीन अपने को मुक्त समझता है। पुनः संसरण काल में संसरण करता है। अर्थात् तीनों लोकों में जन्म ग्रहण करता है। इसमें वैराग्य निमित्त है और प्रकृतिलय नैमित्तिक। और भी राजसराग से संसार होता है। जो यह राजसराग अर्थात अवैराग्य है, यज्ञ करता है, दान देता है इस आशय से कि परलोक में मुझे सुख मिलेगा। इस प्रकार के राग से संसार होता है। यहाँ संसार का अर्थ जन्म है अर्थात ब्रह्मादि लोकों में जन्म लेना। इसमें राग निमित्त है, और संसार नैमित्तिक। और भी—ऐश्वर्य से इच्छा का विघात नहीं होता। जो पहले अणिमादि आठ प्रकार का ऐश्वर्य बतलाया है। उस ऐश्वर्य से प्रार्थित वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है, मुक्ति नहीं। अविघात का अर्थ है, अस्खलन(निर्बाध) और अनैश्वर्य से इच्छा विघात होता है। विपर्यय का अर्थ है अनैश्वर्य। उससे प्रार्थित पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती। इसमें अनैश्वर्य निमित्त है। प्रार्थित की अप्राप्ति रूप विपर्यास नैमित्तिक है। इस प्रकार सोलह प्रकार के निमित्त् नैमित्तिक प्रसङ्ग का वर्णन कर दिया। प्रकृतिलय प्रकृतिबन्ध को कहते हैं और यज्ञादियों से दक्षिणाबन्ध होता है। ऐश्वर्यादिजन्य भोग को वैकारिक कहते हैं ॥४५॥

प्रबोधिनी

तत्वज्ञान रहित विरक्त पुरुष को भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता, अपितु तत्वज्ञान से ही मोक्ष लाभ होता है। प्रकृति कारिका में इसी बात को स्पष्ट किया है। केवल वैराग्य से प्रकृतिलय होता है। लौकिक तथा पारलौकिक विषयों में जो तृष्णा का सर्वथा अभाव, अथवा उनमें जो उपेक्षा बुद्धि है, उसे वैराग्य कहते हैं। पातंजल योगसूत्र में कहा है "**दृष्टानु श्रविक विषय वितृष्ठास्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** (१।१५।)' इस प्रकार के केवल वैराग्य से प्रकृतिलय होता है। प्रकृतिलय का अर्थ है प्रकृति में लीन होना, न कि मुक्ति। "प्रकृतिलयत्वम्" का अर्थ करते हुए तत्ववैशारदी टीका में आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं, "**प्रकृतिमेवात्मानमभिमन्यमानाः प्रकृत्युपासकाः प्रकृतौ साधिकारायामेव लीनास्तेषां भावः प्रकृतिलयत्वम्।**" अर्थात्-- प्रकृति या प्रकृति के कार्य जो महदादि हैं, उनमें ही आत्मबुद्धि करनेवाले प्रकृति के उपासक, उसी उपासना के द्वारा प्रकृति में ही उनका लय (विराम) हो जाता है। पुनश्च संसार में आवागमन होता रहता है, मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार केवल वैराग्य से भी मोक्ष नहीं मिलता, जब तक कि प्रकृति पुरुष का विवेकज्ञान न हो जाय। इसी प्रकार रजोगुण का कार्य जो राग है, उससे भी संसार ही होता है। यहाँ राग तो केवल उपलक्षण मात्र है, इससे द्वेषादि का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। सुख अथवा सुख के साधन में जो तृष्णा है, उसे राग कहते हैं। दुःख अथवा दुःख के साधन में जो क्रोध है उसे द्वेष कहते हैं। ये सब रजोगुण के कार्य होने से, इनके उपयोग के लिए शरीर ग्रहण करना पड़ता है। अतः रजोगुण जन्य राग से संसार होना स्वाभाविक है। ऐश्वर्य से इच्छाओं का विघात कभी नहीं होता। अर्थात् अष्टविध अणिमादि सिद्धियों के द्वारा जब जिस वस्तु की इच्छा करता है तब वही प्राप्त कर लेता है। और अनैश्वर्य (सिद्धियों का अभाव) से सर्वत्र इच्छाओं का प्रतिघात हो जाता है जिससे किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती है ॥४५॥

ननु निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गः कियात्मक इति ? अत्रोच्यते—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः[1]।
गुणवैषम्यविमर्द्देन[2] तस्य[3] भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

शङ्का—निमित्तिनैमित्तिक प्रसङ्ग का क्या स्वरूप है ? उत्तर में कहते हैं कि—

यह प्रत्ययसर्ग (अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न हुआ सोलह प्रकार का निमित्तनैमित्तिक सर्ग) पुनः विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के भेद से

चार प्रकार का होता है। और गुणों की विषमता (न्यूनाधिकभाव) से, परस्पर अभिभव होने के कारण पचास प्रकार का हो जाता है ॥४६॥

मा० वृत्ति—एष इति। आर्याद्वयेन षोडशविधो नैमित्तिकः सर्ग उक्तः। प्रत्ययसर्ग उच्यते। प्रत्ययात् बुद्धेरुत्पन्नो यस्मात् तस्मात् प्रत्ययसर्ग इत्युच्यते। उक्तं हि पुरस्तात् "अध्यवसायो बुद्धिः" इत्यादि। सोऽयं प्रत्ययसर्गो भूयश्चतुर्धा भिद्यते। यस्मादाह—विपर्ययाशक्तितुष्टि सिद्धयाख्यः। संशयबुद्धिः विपर्ययः स्थाणुरयं पुरुषो वेति। भूयोऽपि स्थाणु प्रसमीक्ष्य न शक्नोत्यन्तरं गन्तुमेवास्याशक्तिरुत्पन्ना। ततस्तृतीयः (विपर्ययः)। तमेव स्थाणुं ज्ञातुं संशयितुं वा नेच्छति किमनेनास्माकमित्येषा तुष्टिः। भूयश्चतुर्थो (दृष्टे यस्तस्मिन्) स्थाण्वादिरुढां वल्लींपश्यति शकुनिं वा। ततोऽस्य निश्चय उत्पद्यते स्थाणुरयमित्येषा सिद्धिः। एवमेष प्रत्ययसर्गो भिन्नश्चतुर्धा विपर्यया शक्तितुष्टि सिद्धयाख्यः। तस्य चतुर्विध प्रत्ययसर्गस्य गुणवैषम्यविमर्देन। यदा सत्वमुद्रिक्तं तदा रजस्तमसी गौणे। यथाऽऽदित्योदयान्नक्षत्रतेजसो गौणत्वम्, एवं यदा रजसा सत्वतमसी तमसा सत्वरजसी गौणे तदा तद्विमर्दो भवति। तेन विमर्देन तस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशत् भेदा भवन्ति ॥४६॥

अनुवाद—एष इत्यादि—दो आर्याओं द्वारा जो सोलह प्रकार का निमित्त नैमित्तिक सर्ग कहा गया है, उसी को प्रत्ययसर्ग कहते हैं। क्योंकि, यह बुद्धि से उत्पन्न होता है। इसीलिए इसे प्रत्ययसर्ग (बुद्धि सृष्टि) कहते हैं। पहले कहा भी है—"अध्यवसायो बुद्धिः" इत्यादि। यह प्रत्ययसर्ग फिर चार प्रकार का होता है। इसीलिए कहा भी है,—"विपर्ययाशक्तितुष्टि-सिद्धयाख्यः"। संशयबुद्धि को विपर्यय कहते हैं। जैसे—यह स्थाणु है अथवा पुरुष, इत्यादि। पुनः उसी स्थाणु को देखकर निश्चय नहीं कर पाता यही अशक्ति है। तीसरा विपर्यय यह है कि उसी स्थाणु को जानने की या संशय करने की इच्छा ही नहीं रखता। इसे जानकर ही क्या होगा इत्यादि, यह तुष्टि है। चौथा, उस स्थाणु के देख लेने पर उसमें आरुढ शाखा को अथवा पक्षी को देख लेता है, तब इसे निश्चय हो जाता है कि यह स्थाणु ही है। यह सिद्धि है। इस प्रकार इस प्रत्यय सर्ग के चार भेद होते हैं। विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि। इस चतुर्विध प्रत्यय सर्ग के गुणों के विषमता से परस्पर अभिभव के कारण पचास भेद होते हैं। सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इनमें न्यूनाधिकता के कारण परस्पर जो विमर्द उससे, जब सत्व गुण की अधिकता रहती है, तब रजो गुण और तमोगुण गौण रहते हैं। जैसे—आदित्य के उदय होने से नक्षत्रों का तेज मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार रजोगुण के आधिक्य से सत्व और तम गौण हो जाते हैं, और तमोगुण

के आधिक्य से सत्व और रज गौण हो जाते हैं। इस प्रकार के विमर्द से चतुर्विध प्रत्यय सर्ग के पचास भेद हो जाते हैं ।।४६।।

प्रबोधिनी

पूर्वोक्त धर्माधर्मादि जो आठ भाव हैं, वे ही निमित्त तथा नैमित्तिक भेद से सोलह प्रकार के हो जाते हैं, ये सब बुद्धि के ही सर्ग (परिणाम) हैं। प्रकृत कारिका में इसी प्रत्ययसर्ग का पुनः चार प्रकार से वर्गीकरण किया है। विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि। बुद्धि के त्रिगुणात्मिका होने से पुनश्च तत्तद् गुणों के वैषम्य तथा विमर्द आगे इनकी संख्या पचास तक पहुँच जाती है। कारिका में इन्हें प्रत्ययसर्ग कहा है, प्रत्यय का अर्थ है, बुद्धि, "**प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः, तस्य सर्गः**" (तत्व कौ०) १. विपर्यय का अर्थ अविधा -- अज्ञान है, यह एक प्रकार का बुद्धि का ही धर्म है। अर्थात् बुद्धि की वह अवस्था जिसमें तमोगुण की प्रधानता हो। २. अशक्ति भी, बुद्धि का ही धर्म है। इसका अर्थ है असामर्थ्य "अयं घट एव" इत्यादि निश्चय में जब बुद्धि सक्षम न हो, तब बुद्धि के इस अवस्था को अशक्ति कहते हैं। बुद्धि की यह अवस्था, इन्द्रियों की शिथिलता के कारण आती है। ३. तुष्टि का अर्थ है सन्तोष जो कि मोक्ष का विरोधी हो, केवल प्राकृतिक सन्तोष। ४. सिद्धि का अर्थ है ज्ञान प्राप्ति, जिससे कि प्रमात्मक निश्चय हो सके। इसी चतुर्विध प्रत्ययसर्ग में धर्माधर्मादि आठ भावों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे अज्ञान का विपर्यय में, और अधर्म अवैराग्य तथा अनैश्वर्य का अशक्ति में, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का तुष्टि में, और ज्ञान का सिद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः ये सभी बुद्धि के ही परिणाम हैं। किन्तु सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणों के न्यूनाधिक्य तथा एक के प्रबल और दूसरे के निर्बल होने से विपर्ययादि इन चारों भेदों के पचास भेद हो जाते हैं, जिन्हें आगे दिखायेंगे ।।४६।।

तानाह—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ।। ४७ ।।

उन्हीं प्रत्ययसर्ग के पचास भेदों की गणना करते हैं—विपर्यय (मिथ्याज्ञान) के पाँच भेद होते हैं। और करण (बुद्धित्व व इंद्रियों) के अपाटव से अशक्ति अठाईस प्रकार की होती है। तुष्टि नौ प्रकार की होती है और आठ प्रकार की सिद्धि होती है। ये सब मिलाकर पचास भेद होते हैं ।।४७।।

मा० वृत्ति—सुगमम्। विपर्ययस्य च तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रोऽन्धतामिस्त्र इति पञ्च भेदाः। तेषां भेदान्तराण्याह ॥४७॥

अनुवाद—यह कारिका सुगम है। अतएव ज्यादा अर्थ विस्तार की आवश्यकता नहीं है। विपर्यय के तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अन्धतामिस्त्र ये पांच होते हैं। इनके और अवान्तर भेदों को आगे कारिका में कहेंगे ॥४७॥

प्रबोधिनी

प्रकृत कारिका में प्रत्ययसर्ग के पचास भेदों का परिगणन कर दिया है। इनमें विपर्यय पांच प्रकार का है। और करण के दोष से जायमान अशक्ति अठाइस प्रकार की होती है। और तुष्टि नौ प्रकार की होती है, सिद्धि आठ प्रकार की। इनके विशेष भेद आगे गिनायेंगे। विपर्यय का स्वरूप योग दर्शन में इस प्रकार दिखलाया है—"**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रुपप्रतिष्ठम्**" विपर्यय यह लक्ष्य है, और मिथ्याज्ञान इसका लक्षण है। अर्थात् जो ज्ञान तद्रुपेण प्रतिष्ठित न हो, वह मिथ्याज्ञान है। और मिथ्याज्ञान ही विपर्यय है। अतएव यह प्रमाण नहीं माना जाता है क्योंकि प्रमाण सत्यविषयक होता है। योगशास्त्र में विपर्यय को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश वाला बतलाया है। यहाँ सांख्य दर्शन में जिन्हें क्रमशः तम्, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अन्धतामिस्त्र कहा है।

अनित्य, अशुचि, दुखः और अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुखात्मज्ञान रखना ही अविद्या है, इसी को सांख्याचार्य "तम" कहते हैं।

पुरुष (आत्मा) और बुद्धयादि प्रकृतिवर्ग को एक समझना ही अस्मिता (अहंकार) है। इसे सांख्याचार्य मोह कहते हैं। सुख तथा सुख के साधनों में जो अभिलाषा है, वही राग है, इसे महामोह कहते हैं।

दुःख तथा दुःख के साधनों में जो क्रोध है, उसे द्वेष कहते हैं। सांख्य ने इसे तमिस्त्र कहा है। प्राक्तन संस्कारवश मृत्यु में मूर्खों की तरह विद्वानों का भी जो त्रास है, उसे अभिनिवेश कहते हैं। सांख्य ने इसी को अन्धतामिस्त्र कहा है।

विष्णुपुराण में इनका निर्देश इस प्रकार किया है—

तमो मोहो महामोह स्तामिस्त्रो ह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्यापञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥

इन पञ्च विपर्ययभेदों के मूल में अविद्या होने से इन्हें पञ्चपर्वा अविद्या कहा है। ऐसा वार्षगण्य आचार्य का मत है, इसका निर्देश वाचस्पति मिश्र ने तत्वकौमुदी में किया है ॥४७॥

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८॥

तम (अविद्या) और मोह (अस्मिता) आठ प्रकार के होते हैं। महा-मोह (राग) दस प्रकार का होता है। तामिस्त्र (द्वेष) अठारह प्रकार का होता है। और अन्धतामिस्त्र (अभिनिवेश) भी अठारह प्रकार का होता है ॥४८॥

मा० वृत्ति--तमसस्तावदष्टविद्या प्रकृतिः। तद्वस्तु मलयतीति तमः। तस्य परमष्टासु प्रकृतिषु लयो भवति। तद्यथा प्रधानं बुद्धिरहङ्कारः पञ्च-तन्मात्राणीत्येषु। तत्र लीनमात्मानं मुक्तोऽहमिति मन्यते। सच तस्य विपर्ययः। एवं तमसोऽस्टधा भेदः। मोहस्य च अष्टविध एतेत्यर्थः। यत्तदणिमाद्यष्टविध-मैश्वर्यमुक्तं तस्मिन् सक्ता ब्रह्मादयो देवता न मोक्षपदमिच्छन्ति। तस्यैश्वर्यस्य शुभकर्मणोपात्तस्य क्षये पुनः संसरन्ति। अयमष्टविधो मोहस्यापि भेदः। महामोहस्य दशविधो भेदः। देवानां शब्दादयः पञ्चतन्मात्राख्या विषया अविशेषाः केवलानन्दरूपा निरुपाधिदुग्ध वच्छान्तादिसञ्जातसुखादिविरहिता ये भवन्ति स्वर्गप्राप्तौ। एवं मनुष्याणां भौतिकशरीरतया सुख दुःख मोह-सम्पन्नाः शान्तघोरमूढा भवन्तीत्येष दशविधो महामोहः। तदेतेषु दशसु ब्रह्मेन्द्रादयो देवा मनुष्याश्च तिर्यग्योन्यासक्ताश्च दृश्यन्ते। ते न हि विषयेभ्यः परमस्तीति मूढविज्ञानास्तदासक्तया गुणपुरुषान्तरोपलब्धि रूपं नित्यनिरति-शयसुखाभिव्यक्तये ज्ञानावबोधं न कुर्वन्ति इत्येष महामोहः। तेनामी ते मुक्ति न भजन्ते। तामिस्त्रोऽष्टादशधेति। देवमनुष्याणां दश विषयाः प्रागभिहिता अविशेषविशेषतया। अणिमाद्यैश्वर्यं चाष्टगुणम् एवमष्टादशधा भवति। तेभ्यः केनचिद्दैगुण्येनाप्राप्तयाऽभिहतस्य यः क्रोधः स तमिस्त्रइत्युच्यते। तथा अष्टादशधा चेत्यर्थः। अन्धतामिस्त्रोऽपि भवति तत्सङ्ख्य एव। तथा एवमष्टा-दशधात्रापि (१) तेषु च मरणत्रासात् दुःखमुत्पद्यते। ऐश्वर्ये विद्यमाने ऐश्वर्यं परित्यज्य मृत्युना ह्रियमाणस्य गच्छामीतिसङ्कल्पयतो यस्त्रासः सोऽन्धतामिस्त्र इत्युच्यते। दशविषयानैश्वर्यं प्राप्यापि भोक्तु न लभते, अन्तरालेऽपि म्रियत इति यावत्। एवममी विपर्ययस्य तमःप्रभृतयः पञ्चभेदा विभिद्यमाना द्विषष्टि भेदाः सञ्जाताः। अत उर्ध्वमशक्तेरष्टाविंशतिभेदान् वक्ष्यामः ॥४८॥

अनुवाद--तम (अविधा) अष्टविध प्रकृतिवाली है। (अर्थात् आठ प्रकार की) वस्तु को मलिन करना तम का कार्य है। तब वह आठ प्रकृतियों में लीन हो जाता है। प्रधान, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रायें इनमें लीन होता है, इनमें लीन अपने को मुक्त समझने लगता है। यही उसका विपर्यय (अज्ञान) है। इस प्रकार तम के आठ भेद हुए। और मोह के भी आठ प्रकार के ही भेद होते हैं। आठ प्रकार के अणिमादि ऐश्वर्य जिनका पहिले वर्णन

किया है। उनमें आसक्त हुए ब्रह्मादि देवता मोक्ष पद को नहीं चाहते हैं। शुभ कर्मों के द्वारा प्राप्त उस ऐश्वर्य के क्षय हो जाने पर फिर संसार में जन्म लेते हैं। यह आठ प्रकार का मोह है। महामोह दस प्रकार का होता है। देवताओं के स्वर्ग में पञ्चतन्मात्र संज्ञक अविशेष शब्दादि विषय केवल स्वरूप होते हैं। क्योंकि वे शान्तघोरमूढादि से समुत्पन्न सुखदुःखादि से रहित निरुपाधि दुग्धवत् स्वच्छ होते हैं। और मनुष्यों के भौतिक शरीर होने से वे शब्दादि विषय, शान्तघोरमूढदशाओं से समुत्पन्न सुखदुःख मोह वाले होते हैं। इस प्रकार यह दस प्रकार का महामोह है। इन दस प्रकार के शब्दादि विषयों में सभी ब्रह्मादि देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि आसक्त दिखाई देते हैं। ये मन्दमति, विषयों में आसक्त हुए, इन्हें ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। नित्य-निरतिशय सुख की प्राप्ति के लिए प्रकृतिपुरुष विवेक ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते। यही महामोह है। इसीलिए वे मुक्ति नहीं प्राप्त करते। तामिस्त्र भी अठारह प्रकार का होता है। देवताओं तथा मनुष्यों के अविशेष तथा सविशेष रूप से शब्दादि दस विषय होते हैं जिन्हें पहले कह चुके हैं। और आठ प्रकार के अणिमादि ऐश्वर्य, इस तरह सब मिलाकर अठारह प्रकार का होता है। इन्हीं में से किसी विषय की विकलता से या अप्राप्ति से उपहत हुए व्यक्ति का जो तद्विषयक क्रोध है, वही तामिस्त्र कहा जाता है। इसी प्रकार अन्धतामिस्त्र भी अठारह प्रकार का होता है। पुनः प्राप्त उन विषयों में जो मृत्युजन्य त्रास होता है उससे दुःख उत्पन्न होता है। अर्थात्—ऐश्वर्य के विद्यमान रहते हुए मृत्यु के द्वारा हरण किये जाते व्यक्ति का "मैं ऐश्वर्य को छोड़कर जा रहा हूँ" इस प्रकार के विचार से जो त्रास, वही अन्धतामिस्त्र है। दस विषयों को और आठ प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी भोग नहीं कर सकता बल्कि अन्तराल (बीच में ही) मर जाता है। इस प्रकार विपर्यय के ये तम प्रभृति पाँच भेद, फिर अवान्तर भेदों से विभक्त होते हुए बासठ भेद हो जाते हैं। इसके बाद अशक्ति के अठाईस भेदों को कहेंगे ॥४८॥

प्रबोधिनी

पञ्च विपर्यय भेदों के अवान्तर भेद जो कि बासठ होते हैं, उन्हीं की व्याख्या उक्त कारिका में की है। आत्मा से सर्वथा भिन्न प्रधान, बुद्धि, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रायें इन अष्टविध प्रकृति में आत्मबुद्धि करना तथा इनमें लीन अपने को मुक्त समझना ही तम है। इसी को योग में अविद्या कहा है। मोह भी आठ ही प्रकार का होता है, जिसे योग में अस्मिता कहा है। देवता लोग अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर अपने को अमर समझने लगते हैं, तदतिरिक्त मोक्ष की इच्छा नहीं करते। ये सिद्धियाँ भङ्गुर हैं,

इनमें अमृतत्व का अभिमान करना ही अस्मिता या मोह है। महामोह दस प्रकार का होता है। यही शब्दस्पर्शादि पांच विषय दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार के होते हैं। इन दस प्रकार के विषयों में बलवती लिप्सा को ही महा-मोह कहते हैं। योग में इसे राग कहा है। वस्तुतः अनिष्टसाधनीभूत दशविध शब्दादि विषयों में जो इष्टसाधनता ज्ञान है, वह एक प्रकार का विपर्यय ही है। तन्मूलक यह राग भी विपर्यय का ही एक प्रकार है। तामिस्त्र अठारह प्रकार का होता है। योग में जिसे द्वेष कहा है। दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार के शब्दादि विषय परस्पर एक दूसरे से उपहत होते हैं। तद्विषयक क्रोध ही द्वेष है। इसे तामिस्त्र कहते हैं। विषयोपलब्धि के साधनीभूत अष्ट-विध अणिमादि सिद्धियों में भी द्वेषविषयता रहती है। अतः ये सब मिलाकर अठारह प्रकार के होते हैं।

अन्धतामिस्त्र भी अठारह प्रकार का ही होता है। योग में जिसे अभि-निवेश कहा है। देवता लोग आठ प्रकार की सिद्धियों के सहायता से दिव्या-दिव्य भेद से दस प्रकार के शब्दादि विषयों का भोग करते हुए असुरों से हमेशा भयभीत रहते हैं, कि कहीं ये हमारे विषयों को छीन न लें। इसी अविधाजन्य भय को योग में अभिनिवेश तथा सांख्य में अन्धतामिस्त्र कहा है जो कि अठारह प्रकार का है ॥४८॥

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

ग्यारह प्रकार का इन्द्रियवध (स्वविषयग्रहणासामर्थ्य) होता है। तुष्टि तथा सिद्धि के विपर्यय से (अर्थात् नौ प्रकार की अतुष्टियों और आठ प्रकार की असिद्धियों को मिलाकर) सत्रह भेद बुद्धिवध (बुद्धि असामर्थ्य) के होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर अशक्ति के अठाईस भेद होते हैं ॥४९॥

भा० वृत्ति—एकादशेन्द्रियवधाः। आन्ध्य बाधिर्यघ्राणवाक् जडत्व-कुष्ठत्वमूकत्वकुणित्वपङ्गुत्वगुदावर्तक्लैव्योन्मादा इत्येकादशेन्द्रियवधा.। इन्द्रि-याणां स्वविषयग्रहणासामर्थ्यं वध इव वधः। यथेह लोके कश्चित् देवदत्तो यज्ञदत्तमाहूय अब्रवीत्—भो दुःखितोऽस्मि किं करवाणीति। स तेनोक्तः सांख्यज्ञानाधिगमं कुरुष्व दुःखान्तं मोक्षं प्राप्स्यसीति। एवमुक्तोऽसावाह—नाहमेतदभ्यासं कर्तुमलम्। बाधिर्यात् गुरुवचनं न श्रृणोमि, शुश्रूषायाम-समर्थोऽस्मि। आन्ध्यकुणित्वपङ्गुत्वादिदोषाश्रयत्वात् कुतो मम ज्ञानाधिगम इति। एवमेवान्ध्यमूकत्वोन्मादादय इन्द्रियोपघाता विद्याग्रहणे असमर्था (प्रतिबन्धा) बोधव्याः। एवमेते एकादशेन्द्रियवधा अशक्ते रुच्यन्ते। किञ्च—सह बुद्धिवधैरिति। बुद्धेर्वधा बुद्धिवधास्तैः सह। के ते बुद्धिवधाः? सप्तदश-

सङ्ख्याः । ते च सप्तदशापि—नवतुष्टिभेदा अष्टौ सिद्धयः । तन्निरूपणप्रस्तावे व्याख्यास्यामः ॥४६॥

अनुवाद— इन्द्रियवध एकादश हैं। अन्धापन्, बहिरापन्, अजिघ्रता (सूंघने का असामर्थ्य) रसना की जड़ता, कुष्ठित्व, मूकत्व, कुणित्व (लूलापन्) पङ्गुत्व (लंगड़ापन्) गुदावर्त (मलादि का सम्यक् निःसरण न होना) नपुंसकता, और उन्माद—ये एकादश इन्द्रियवध हैं। अर्थात् इंद्रियों का अपने-अपने विषय ग्रहण करने में, असामर्थ्य । इन्द्रियों के ग्रहणशक्ति के नष्ट होने से इन्हें इन्द्रियवध कहते हैं। जैसे लोक में कोई देवदत्त नामक व्यक्ति यज्ञदत्त को बुलाकर बोला कि अरे भाई ! मैं तो दुःखी हूं क्या करूँ। उसने कहा—सांख्य ज्ञान को प्राप्त करो, इससे दुःखनिवृत्ति मोक्ष होगा। इस प्रकार कहने पर उसने कहा—मैं सांख्यशास्त्राभ्यास करने में असमर्थ हूँ। बाधिर्य के कारण गुरुवचन नहीं सुन सकता हूँ। सेवा में भी असमर्थ हूं। और आन्ध्य, पङ्गुत्व, कुणित्वादि दोषों के आश्रय होने से मुझे ज्ञान प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसी प्रकार आन्ध्य, मूकता, उन्मादादि इंद्रियोपघात भी विद्याग्रहण में प्रतिबन्धक समझने चाहिए। यही एकादश अशक्ति के इंन्द्रियवध कहे जाते हैं। और भी बुद्धिवध के साथ ये सब मिलकर अठाईस होते हैं। बुद्धि का जो स्वविषयग्रहण सामर्थ्य है, उनके साथ वे बुद्धिवध कितने हैं ? सत्रह होते हैं। वे सत्रह इस प्रकार—नौ तुष्टि के भेद और आठ सिद्धि के भेद । यथावसर इनका निरूपण करेंगे ॥४६॥

प्रबोधिनी

अशक्ति के अठाईस भेद इस प्रकार होते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, एक मन, ये ग्यारह सदोष होने से अशक्ति के ये इंद्रियवध ग्यारह भेद हो गये। जैसे—श्रोत्र का शब्दग्रहणासामर्थ्य, बाधिर्य कहा जाता है। त्वक् का स्पर्शग्रहणासामर्थ्य कुष्ठत्व कहा जाता है। चक्षु का रूपग्रहणासामर्थ्य अन्धत्व कहा जाता है। रसना का रसग्रहणा सामर्थ्य जाड्य कहा जाता है। और नासिका का गन्धग्रहणा सामर्थ्य अजिघ्रता कहा जाता है। इसी प्रकार वाणी का वचनासामर्थ्य मूकता कहा जाता है। पाणि का लूलापन कुणित्व कहा जाता है और पैरों का लंगड़ापन पङ्गुत्व कहा जाता है। मैथुनासामर्थ्य क्लीबता कहते हैं। गुदा के दोष विशेष को गुदावर्त कहते हैं और मन वैचित्य अर्थात् सुखादि विषयग्रहणासामर्थ्य को, अथवा मानसिक शक्ति के ह्रास को मन्दता कहते हैं। ये एकादश इन्द्रियों की अशक्तियां बुद्धि की अशक्ति में कारण बनती हैं। अतः कार्यकारण अभेद होने से ये भी एक प्रकार से बुद्धि की ही अशक्तियां कही जाती हैं। इस प्रकार इन्द्रियवैकल्य द्वारा बुद्धि के अशक्तियों को कहकर स्वरूपतः भी बुद्धि

के विकलता (असामर्थ्य) को दिखाते हैं। बुद्धि के धर्म जो नौ तुष्टियाँ हैं, उनके विपर्यय से (अर्थात्—नवविध तुष्टि के प्रतिबन्धक जो नवविध बुद्धि के दोष हैं।) अतुष्टियाँ भी नौ ही होंगी और आठ प्रकार की जो सिद्धियाँ हैं उनके विपर्यय से (अर्थात्--अष्टविधि सिद्धिप्रतिबन्धक बुद्धि के दोष) असिद्धियाँ भी आठ ही होंगी। ये दोनों मिलकर सत्रह प्रकार के बुद्धिवध कहे जाते हैं। पूर्वोक्त ग्यारह इंद्रियवध और सत्रह बुद्धिवध सब मिलाकर अशक्ति के अठाईस भेद हुए ॥४९॥

तत्र नवधा तुष्टिमाह—

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, नव तुष्टयोऽभिहिताः[1] ॥ ५० ॥

नौ प्रकार की तुष्टियों की व्याख्या करते हैं —

प्रकृति उपादान, काल, भाग्य, ये चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं और शब्दस्पर्शादि पाँच विषयों के उपरम (वैराग्य) से पाँच बाह्य तुष्टियाँ हैं। सब मिलाकर नौ तुष्टियाँ कही गयी हैं ॥५०॥

सा० वृत्ति—(अध्यात्मं भवा आध्यात्मिक्यः) आत्मन्यधि कृत्य प्रवर्तन्ते ताश्चतस्रस्तुष्टयः। प्रकृतितुष्टिरुपादानतुष्टिः कालतुष्टिः, भाग्यतुष्टिश्चेति। यथा कश्चित् प्रकृतिमात्रं वेत्ति न तु जानीते सगुणागुणत्वनित्यानित्यत्वचेतनाचेतनत्वसर्वगतत्वधर्मानस्याः केवलं प्रकृत्यस्तित्वमात्रज्ञानेन अहं जानामीति तुष्टः प्रव्रजितस्य नास्ति मोक्ष.। एषाः प्रकृतितुष्टिः कश्चित् त्रिदण्डकुण्डिकाक्षमालाकृष्णाजिनोपादानमात्रेणैवाहं। मुक्त इत्यभिमानी ब्रूते। तेन मम मोक्षो भावीति। एतावन्मात्रेण तुष्टो ज्ञानाधिगमे न प्रवर्तते। तस्यापि न मोक्ष इत्येषा उपादानतुष्टिः। कश्चिदेवं ब्रूते कालेन स्वयं मोक्षो भावी तत्वज्ञानेनेति। ज्ञाने अप्रवृत्त्यैव तुष्टः। तस्यापि न मोक्ष इति कालतुष्टिः। कश्चिदेवमाह भाग्येनैव मुक्तो भवति। तस्मात् ज्ञानमसाधकं मुक्तेः स्यात् इति तावता तुष्टः, तस्य न मोक्ष एषा भाग्यतुष्टिः। एवमेता आत्मन्यधिकृत्य जायन्ते इत्याध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः। बाह्यास्य पञ्च तुष्टयः। पञ्चानां विषयाणामुपरमाद्भवन्ति अर्जनरक्षणक्षयातृप्तिर्हिसादोषान् भावयतः पञ्च। एवमुयभयत्र नव तुष्टयः। तत्रार्जनं नाम विषयाणां तदर्थं कृषिपाशुपाल्यादि व्यवसायदुखमवधार्य तेभ्य एवोपरतस्तुष्टिं लभते। एषा पञ्चमी तुष्टिः अर्जितानामपि राजचौरादिभ्यो दुःखं विषयाणां रक्षणं कर्तुं तस्मान्न विषयैः कार्यमित्युपरतस्तुष्टिं लभते सा षष्ठी तुष्टिः। रक्षणेऽपि कृते उपभुज्यमानास्ते क्षीयन्ते इति न तैः कार्यमित्युपरत स्तुष्टिं लभते एषा सप्तमी। तथाऽर्जनक्षयादिप्रतीकारैरपि कृतं नास्ति इन्द्रियाणां वैतृष्ण्यम्. तस्मान्न तैः कार्यमित्युपरतस्याष्टमी तुष्टिः। प्रोक्तानां

प्रतीकारे कृतेऽपि अर्जनादिप्रवृत्तेन हिंसामन्तरेण भूतापरोधं विनामी न प्राप्यन्ते तस्मान्न तैः कार्यमित्युपरतस्तुष्टिं लभते एषा नवमी तुष्टिः। एवमेताः पञ्च बाह्यास्तुष्टयः। उभयं (मिलिता) नव भवन्ति। (एवमेताभिस्तुष्टिभिः, ज्ञानं विना मोक्षोऽस्तीति केवलेनवैराग्येण तुष्टः।) आसां नवानामपि तुष्टीनां ग्रन्थान्तरे संज्ञान्तराणि। तद्यथा अम्भः, सलिलम्, ओघो, वृष्टिः, तारं, सुतारं, सुनेत्रं, सुमरीचम्, उत्तमाम्भसिकमिति। आसां विपरीताः अतुष्टय अनम्भ इत्याद्याः। एवं तुष्ट्यतुष्टयो व्याख्याताः ॥५०॥

अनुवाद – आत्मा को अधिकृत कर प्रवर्तित होने वाली चार तुष्टियाँ हैं। प्रकृतितुष्टि, उपादानतुष्टि, कालतुष्टि और भाग्यतुष्टि। जैसे – कोई केवल प्रकृति को जानता है, परन्तु इसके सगुणागुणत्व, नित्यानित्यत्व, चेतना चेतनत्व और सर्वगत्वादि धर्मों को नहीं जानता। केवल प्रकृति के अस्तित्व-मात्र ज्ञान से "मैं ज्ञानी हूँ" इस प्रकार तुष्ट होकर सन्यास ले लेने से मोक्ष नहीं होता। यही प्रकृतितुष्टि है। कोई त्रिदण्ड, कमण्डलु, मृगचर्म आदि सामग्री से ही "मैं मुक्त हूँ" ऐसा अभिमान करता है। इन्हीं सामग्री से मेरा मोक्ष होगा। इतने से तुष्ट हुआ ज्ञानार्जन की ओर प्रवृत नहीं होता उसका भी मोक्ष नहीं होता। यह उपादान तुष्टि है। कोई कहता है कि समय आने पर अपने आप मोक्ष हो जायेगा। तत्वज्ञान से क्या करना है। ज्ञान के बिना प्रवृत्त हुए तुष्ट हो जाता है। उसका भी मोक्ष नहीं होता है। यह कालतुष्टि है। किसी का कहना है कि भाग्य से ही मुक्ति मिलती है। इसलिए मुक्ति के लिए ज्ञान साधन नहीं है। इतने मात्र से जो तुष्ट रहता है, उसे भी मोक्ष नहीं मिलता। यह भाग्यतुष्टि है। इस प्रकार आत्मा को अधिकृत कर जो तुष्टियाँ प्रवृत्त होती हैं, वे आध्यात्मिक तुष्टियां कही जाती हैं। बाह्य तुष्टियाँ पाँच होती हैं। वे पाँचों शब्द स्पर्शादि विषयों के उपरम से होती हैं। अर्जन, रक्षण, क्षय, अतृप्ति और हिंसादि दोषों का विचार करते हुए विषयों से वैराग्य होने पर ये पाँच तुष्टियाँ होती हैं। इस प्रकार दोनों नौ तुष्टियाँ हुई। अर्जन विषयों का होता है। इसके लिए कृषि पशुपालनादि व्यवसायों में कष्ट का अनुभव करके उनसे उपरत होकर तुष्ट हो जाना, यह पाँचवीं तुष्टि है। अर्जित विषयों का भी राजा व चोर से रक्षा करना कष्टसाध्य ही है। इस-लिए इन विषयों से क्या करना है, इस प्रकार विषयों से उपरत होकर तुष्ट हो जाना यह छठी तुष्टि है। रक्षा करने पर उपयोग करने से इनका नाश हो जाता है। अतः ऐसे विषयों से क्या करना है। इस प्रकार उपरत होकर तुष्ट हो जाना, सातवीं तुष्टि है। अर्जन व क्षयादि का प्रतीकार करने पर भी विषयवासनाओं से इंद्रियों को तृप्ति नहीं होती, अतः इनसे क्या लाभ,

इस प्रकार विषयों से उपरत होकर तुष्ट हो जाना, यह आठवीं तुष्टि है। उक्त विषय विघातक दोषों के प्रतीकार करने पर भी विषयों का अर्जन हिंसादि दोष के बिना या प्राणियों के पीडन के बिना नहीं हो सकता, अतः इसके अर्जन से क्या लाभ, इस प्रकार विषयों से उपरत होकर तुष्ट हो जाना, यह नवमीतुष्टि है। इस तरह ये दोनों तुष्टियाँ मिलाकर नौ होती हैं। (तब ज्ञान के बिना ही इन तुष्टियों के वैराग्य से सन्तुष्ट रहता है।) इन नौ तुष्टियों के अन्य ग्रंथों में कुछ और नाम हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं:—

अम्भ, सलिल, ओज, वृष्टि, तार, सुतार, सुनेत्र, सुमरीच उत्तमाम्भ, इनसे विपरीत अतुष्टियाँ हैं—अनम्भ इत्यादि। इस प्रकार तुष्टि तथा अतुष्टियों की व्याख्या की गई ॥५०॥

प्रबोधिनी

तुष्टियाँ नौ होती हैं। प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य, ये चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ कही जाती हैं। और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन पाँच विषयों में वैराग्य होने पर, इससे उत्पन्न हुई पाँच तुष्टियाँ बाह्य तुष्टियाँ कही जाती हैं। ये सब मिलाकर नौ तुष्टियाँ हैं। आध्यात्मिक तुष्टि कहने का मतलब यह है कि प्रकृत्यादियों में हो आत्मबुद्धि कर सन्तोष किया जाता है, इसीलिए इन्हें आध्यात्मिक तुष्टि कहते हैं।

(१) **प्रकृति तुष्टि**—जैसे किसी ने उपदेश किया कि विवेक साक्षात्कार प्रकृति का परिणाम विशेष है, अतः प्रकृति उस विवेक साक्षात्कार को स्वयमेव निष्पन्न कर देगी, तुम्हें उसके लिए ध्यानाभ्यासादि यत्न करने की आवश्यकता नहीं, यह जो शिष्य की प्राकृती तुष्टि (अर्थात् प्रकृति के ऊपर ही निर्भर रहना) है, इसी को प्रकृतितुष्टि कहते हैं। ग्रंथान्तर में इसी को अम्भ कहा है।

(२) **उपादान तुष्टि**—विवेक साक्षात्कार प्रकृति का परिणाम होने पर भी, प्रकृति के सबके प्रति समान होने से, सबको विवेक साक्षात्कार हो जाना चाहिए। इसलिए हे वत्स, तुम सन्यास धारण करो, संन्यास सामग्री विशेष से ही मोक्षप्राप्ति होनी है। इस प्रकार के उपदेश से शिष्य को जो तुष्टि होती है, उसे उपादान तुष्टि कहते हैं। (अर्थात् फलसाधन सामग्री मात्र से सन्तुष्ट) ग्रन्थान्तर में इसी को सलिल कहा है।

(३) **कालतुष्टि**—यद्यपि सन्यास से ही मुक्ति मिलती है, किन्तु तत्काल मात्र नहीं, अर्थात् यही सन्यास समय से सिद्धि देगा। अतः इसमें जल्दीबाजी की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार के उपदेश से, शिष्य को जो तुष्टि होती है उसे कालतुष्टि कहते हैं। इसी को ग्रंथान्तर में "मेघ" कहा है।

(४) भाग्यतुष्टि मोक्ष न तो काल से होता है और न उपादान (सन्यास सामग्री) से ही, किन्तु वह तो भाग्य से होता है। जैसे— मदालसा के पुत्र बालक होते हुए भी केवल माता के उपदेशमात्र से विवेकख्याति प्राप्त किये। अतः भाग्य ही इसमें कारण है। प्रकृत उपदेश से शिष्य की जो भाग्यविषयक तुष्टि है, इसे भाग्यतुष्टि कहते हैं। अन्य ग्रंथों में इसे "वृष्टि" कहा है।

पांच बाह्य तुष्टियां हैं। ये बाह्य अनात्म विषयों के अवलम्बन से होती हैं। अतः इन्हें बाह्यतुष्टि कहा है। क्योंकि शब्दादि भोग्य विषय पांच होते हैं। इन में अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग, हिंसा इन पांच दोषों के होने से तत्तद् विषयों में जो उपरति (वैराग्य) से जो तुष्टियां होंगी वे, भी पांच ही होंगी।

(१) धनार्जन के लिए सेवा प्रभृति साधनों में दोष दृष्टि से जो विषयोपरति वह प्रथम तुष्टि है, जिसे तार भी कहते हैं।

(२) संगृहीत धनराशि भी राजचोरादि से नष्ट हो जायेगी, इसकी रक्षाजन्य कष्टानुभव से जो विषयोपरति वह द्वितीय तुष्टि है। इसे सुतार कहते हैं।

(३) परिश्रम से संगृहीत धन भी भोग द्वारा नष्ट हो जाता है। उस क्षय भावना के दुःख से जो विषयोपरति वह तृतीय तुष्टि है। इसे सुनेत्र कहते हैं।

(४) विषयों के भोग से कामनायें बढ़ती ही रहती हैं, और विषय की अप्राप्ति में दुःख होता है। इस प्रकार भोग दोष को जानने से जो विषयोपरति वह चौथी तुष्टि है। इसे समरीच कहते हैं।

(५) परपीड़न के बिना विषयोपभोग सम्भव नहीं, इस प्रकार हिंसादि दोष से जो विषयोपरति वह पाँचवीं तुष्टि है, इसे उत्तमाम्भ कहते हैं। इस प्रकार चार आध्यात्मिक और पांच बाह्य तुष्टियां सब मिलाकर नौ तुष्टियां होती हैं ॥५०॥

इदानीं सिद्धयो व्याख्यायन्ते—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

अब सिद्धियों की व्याख्या करते हैं—

उह सिद्धि, शब्द सिद्धि, अध्ययन सिद्धि, तीन प्रकार के दुःखों के विघात के लिए त्रिविध सिद्धि, तथा सुहृत्प्राप्ति, एवं दानसिद्धि, ये आठ सिद्धियां हैं। पूर्वोक्त विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि ये त्रिविध प्रत्ययसर्ग इन सिद्धियों के अङ्कुश (प्रतिबन्धक) हैं ॥५१॥

मा० वृत्ति—तत्र उहो नाम यथा कश्चित् चिन्तयति, किं परं याथात्म्यं, किं निश्रेयसम्, किं कृत्वा सुखं प्राप्यते । एवमस्य चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते स्वतः शास्त्रतो गुरुतो वा । यत् प्रधानबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतान्यन्यानि, अहमन्य इति ततो मोक्षं गच्छति, एषा उहसिद्धिः प्रथमा । चोरसाधुतदनुगामिस्वामिपथिकसंयोगादिवत् । प्रकृतिपुरुषशिष्यगुरुक्रमज्ञानम् । तद्यथा ग्राममाच्छिद्य चोरा यान्ति । तत्सार्थमध्ये साधुरेको गच्छति । तदनुगामी च स्विामी । चतुर्थः पथिकस्तदभिज्ञः । पथिकचोरमध्ये साधुरपि चोर गुणास्पृष्टोऽप दनुगामिना चोरतयाप्रतीतस्ताहग्गणनायां, (प्रतीतः) तदभिज्ञेन पथिकेन स्वामत सम्बोधितो यदहं सर्वं जानामि अमी चोरा अयं साधुरेव तत्सार्थानुवर्तीति । एवं चोरस्थानीयोबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूत समवायः, साधुस्थानीयश्च पुरुषः, तदनुगामिस्थानीयः शिष्यो, भेदेन बोद्धयाः । पथिकस्थानीयो गुरुः । तस्माज्जानं प्रतीकत्रयेणैवागम्यते—गुरुतः, शास्त्रतः, स्वत इत्यूहासिद्धिः प्रथमोक्ता । शब्दो नाम यथा कस्यचित्पठतः (तमस्य जनं) शब्दं श्रुत्वाऽन्यत् प्रधानमन्योऽहमिति तन्मार्गप्रवृत्तिप्रबुद्धो मोक्षं गच्छति एवमेषा द्वितीया सिद्धिः शब्दत उत्पन्ना । कश्चित् गुरूपासनया ततोऽधीत्यावगम्य सकलं ज्ञानमाप्नोति । तृतीयाध्ययन सिद्धिः सांख्यज्ञानमधीत्य सञ्जाता, एवमेतास्तिस्रः सिद्धयः । शेषा व्याख्यायन्ते । दुःखविघातत्रयमिति । यथा कश्चिदादावभिहितध्यात्मिकादिदुःखत्रयेणाभिभूतोऽस्य प्रतीकाराय उहं शब्दमध्ययनं वा प्रतिपद्य ज्ञानमधिगम्य मोक्षं यातीति दुःखविघाताय यत्रोहादित्रयमधिकुरुते तदपि सिद्धित्रयम् । एवं षट् सिद्धयः । कश्चिद्दुर्मेधा गुरोः सकाशात् नावधारयति । तत् केनचित् प्रत्युपकारानपेक्षेण सुहृदा तस्मात् संसारकूपात् उज्जिहीर्षुणा तदनुकूलतया कृपावता सुगमवचोभिर्वैराग्यपूर्वकं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपं सांख्यज्ञानमुपदिशता समुद्धृतमालोक्याह भगवान् शास्त्रकारः सुहृत्प्राप्तिरिति । ते हि सुहृदस्तथोपदिशान्ति सुहृत्तया यथा पाषाणोऽप्यवबुध्यते ।

उक्तं च—

एष आतुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया विभुः ।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो यदाचार्यानुवर्तनम् ॥

एषा सप्तमी सिद्धिः कश्चिदावाहन संवाहन भिक्षापात्र वस्त्रच्छत्र कमण्डलुप्रभृतिदानेन गुरुनाराध्य सांख्यमधिगम्य मोक्षं गच्छतीत्येषाऽष्टमी सिद्धिः, दानादिभिरुपायैर्निष्पन्ना । आसामष्टानां पूर्ववन्नामान्तराणि । तारं, सुतारं, तारतारं, प्रमोदं, प्रमुदितं, मोहनं, रम्यकं, सदाप्रप्रमुदितमिति । विपरीता असिद्धयः । तद्यथा अतारमित्याद्याः । ततश्च एकादशेन्द्रियवधानवानां तुष्टीनां

विपर्ययाः, प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्यानां पञ्चविषयोपरमतुष्टीनां च। अष्टानां सिद्धिनां विपर्यया अनूहादयः। सप्तदशवधा बुद्धेरेवमेकादश सप्तदश चाष्टाविंशति भेदा अशक्तेरभिधीयन्ते। एवं विपर्ययाशक्तितुष्टि सिद्धीनामुद्देशः (निर्देशः) कृत इति वाक्यशेष.। सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः या ऊहाद्या अष्टधा सिद्धिस्तस्याः पूर्वो विपर्ययाशक्ति तुष्टि रुपोऽङ्कुशो नियामकः। त्रिविधास्त्रि प्रकार इत्यर्थः। यथा अङ्कुशेन गृहीतो गजो वश्यो भवति। एवं विपर्ययाशक्ति तुष्टिरूपं त्रिविधं प्रत्ययसर्गं हित्वा सिद्धिः संसेव्या सिद्धेस्तत्व ज्ञानं तस्माच्च मोक्ष इति तात्पर्यम् ॥५१॥

अनुवाद—उह सिद्धि—जैसे कोई सोचता है कि वास्तविक तत्वकार है, और कल्याण क्या है, क्या करके सुख प्राप्त होता है, इस प्रकार विचार करते हुए, ज्ञान कभी स्वतः और कभी शास्त्र से या गुरुमुख से प्राप्त हो जाता है।। क्योंकि प्रधान, बुद्धि, अहंकार तन्मात्रायें और पञ्चमहाभूत अन्य हैं, और पुरुष (आत्मा) अन्य है। इस प्रकार विवेक ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है, यह प्रथम उह सिद्धि है। यह चोर साधु तदनुगामी स्वामी और पथिक संयोग की तरह, प्रकृति-पुरुष, शिष्य-गुरु क्रम से ज्ञान है। यह प्रकरण इस तरह है। जैसे किसी गाँव को लूटकर चोर जा रहे थे। उनके साथ-साथ उसी समुदाय में एक साधु भी जा रहा था, और इनके पीछे से स्वामी (धनाढ्य), और चौथा पथिक भी है, जो कि इनको ठीक-ठीक जानता है। पथिक और चोर के मध्य सम्मिलित साधु, चोर न होता हुआ भी, उनके साथ चलने से चोरों की गणना में आ गया। परन्तु इनको ठीक-ठीक जानने वाले पथिक ने स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहा कि मैं ठीक-ठीक जानता हूँ। ये चोर हैं, और यह साधु है, परन्तु इनके साथ चल रहा है। इस प्रकार चोर स्थानीय बुद्धि अहकार, तन्मात्रायें और पञ्चमहाभूत समुदाय है, और साधु स्थानीय पुरुष है। और तदनुगामी स्वामी स्थानीय शिष्य है। ये सब पृथक्-पृथक् जानने योग्य हैं। और पथिकस्थानीय गुरु हैं। इसीलिए कहा जाता है कि तीन साधनों से ज्ञान प्राप्त होता है। गुरु से, शास्त्र से और स्वतः। यही प्रथम वह सिद्धि है। शब्द सिद्धि—जैसे –किसी के पढ़ते हुए शब्द को सुनकर कि प्रधान अन्य है और पुरुष (आत्मा) अन्य है, इसी प्रकार की धारणा से प्रबुद्ध होकर मोक्ष प्राप्त करता है। यह दूसरी सिद्धि, शब्द से उत्पन्न हुई। कोई गुरु की उपासना पूर्वक अध्ययन करके सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। यह तीसरी अध्ययन सिद्धि है। यह सांख्य ज्ञान प्राप्त कर हुई है। इस प्रकार ये तीन सिद्धियां हैं। अवशिष्ट सिद्धियों की व्याख्या करते हैं। दुःख विघातक तीन सिद्धियां हैं। जैसे—कोई पूर्ववर्णित त्रिविध दुःख से सन्तप्त हाता है और उन त्रिविध दुःखों के प्रतीकार के लिए उहसिद्धि अध्ययन

सिद्धि और शब्द सिद्धि को प्राप्त कर ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार त्रिविध दुःखविधात के लिए ऊहादि तीनों सिद्धियों का उपयोग करता है। अतः ये तीन सिद्धियाँ हुईं। इस प्रकार ये सब मिलाकर छः सिद्धियाँ हुईं। कोई दुर्बुद्धि गुरु से शास्त्र नहीं समझता। पर किसी निःस्वार्थी मित्र के द्वारा, जो कि उस संसार रूपी कूप से उसका उद्धार करना चाहता है, तदनुकूल, कृपापूर्वक, सरल व्याख्यान से वैराग्यपूर्वक, प्रकृति पुरुष का विवेक ज्ञान रूपी सांख्यज्ञान का उपदेश दे देता है और उसका उद्धार कर देता है। ऐसे मित्र को ही लक्ष्य कर भगवान् शास्त्रकार ने सुहृत्प्राप्ति कहा। ऐसे मित्रों का सुगम उपदेश पाषाण हृदयों पर भी असर करता है; मनुष्य में तो क्या कहना। कहा भी है — सांसारिक विषयों के बुभुक्षा से आतुर चित्त वाले जनों के लिए आचार्य का उपदेश संसाररूपी सागर में नाव की तरह है। यह सुहृत्प्राप्ति सातवीं सिद्धि है। कोई आमन्त्रण सेवा सत्कार पूर्वक भिक्षापात्र, वस्त्र, छत्र, कमण्डल आदि दान के द्वारा गुरु की आराधना करके सांख्यज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को पाता है। यह दानादि उपायों से निष्पन्न आठवीं दान सिद्धि है। इन आठ सिद्धियों के पूर्ववत् अन्य नाम भी हैं। तार, सुतार, तारतार, प्रमोद, प्रमुदित, मोहन, रम्यक, सदाप्रमुदित, इनके विपरीत असिद्धियाँ हैं। वे अतार, इत्यादि। तब एकादश इंद्रियवध नौ तुष्टियों के विपर्यय, प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य तथा पाँच विषयों में वैराग्य होने से पांच तुष्टियाँ, आठ सिद्धियों के विपर्यय अनूहादि हैं। इस तरह बुद्धिवध सत्रह हुए और एकादश इंद्रियों के, ये सब मिलाकर अशक्ति के अठाईस भेद होते हैं। इस प्रकार विपर्ययाशक्ति तुष्टि सिद्धयों का निर्देश कर दिया। पूर्वोक्त त्रिविध (विपर्ययाशक्तितुष्टि) इन सिद्धियों का अङ्कुश है जो ऊहादि अष्टविध सिद्धियाँ हैं। उनके ये विपर्ययाशक्तितुष्टि अङ्कुशरूप अर्थात् नियामक हैं। जैसे अङ्कुश से गृहीत हाथी वश्य हो जाता है, उसी तरह ये भी सिद्धियों के नियामक हैं। अतः विपर्ययाशक्तितुष्टि रूप त्रिविध प्रत्ययसर्ग को छोड़कर सिद्धि की उपासना करनी चाहिए। सिद्धि से तत्वज्ञान प्राप्त होता है, तत्वज्ञान से मोक्ष होता है ॥५१॥

प्रबोधिनी

सिद्धियां आठ होती हैं। इनमें प्रथम उह नामक सिद्धि—जिसमें गुरुमुख से या शास्त्र से अथवा पूर्वजन्माभ्यास से स्वतः तत्व ज्ञान हो जाता है। अथवा—गुरु के उपदेश के बिना ही पूर्वजन्म के संस्कारों के बलपर तर्क से शास्त्रों के अर्थ का निश्चय करना उह है, जैसा कि उह वितर्के इस धात

का अर्थ भी है। दूसरी शब्द सिद्धि है—जहाँ किसी अन्य के सांख्यशास्त्रीय अध्ययन को सुनकर तत्वज्ञान हो जाता है, उसे शब्दसिद्धि कहते हैं; क्योंकि यह ज्ञान शब्दजन्य अर्थ विषयक है। अतः लक्षणा से कार्य में ही कारण का आरोप कर इसे शब्द सिद्धि कहा है। तीसरी अध्ययन सिद्धि है—जहाँ गुरु शिष्य सम्बन्धपूर्वक सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों से अर्थानुसन्धानपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे अध्ययन सिद्धि कहते हैं। त्रिविध दुःखों के विघात के लिए जहाँ ऊहादि त्रिविध सिद्धियों का आश्रय लिया जाय, इस तरह ये तत्तद्दु खविघातक तीन सिद्धियां हुई। ये सब मिलाकर छः सिद्धियां हो जाती हैं। सातवीं सिद्धि सहृत्प्राप्ति है—किसी तत्वज्ञानी, निःस्वार्थी, अकारणकरुणा-वरुणालय मित्र की प्राप्ति हो जाने से, उससे तत्वज्ञान को प्राप्त कर लेना यह सुहृत्प्राप्ति है। अथवा न्यायतः स्वयं परीक्षित अर्थ को भी जब तक गुरुशिष्य तथा सहाध्यायियों से संवाद (मिलान) नहीं कर लेता, तब तक तत्वज्ञान का निश्चय नहीं होता। अतः स्वयं निर्णीत अर्थ का भी मित्रादि से संशोधन या संवाद कराना सुहृत्प्राप्ति है। न्यायसूत्र में लिखा भी है कि—"**ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च संवादः**" ४।२।४७) "**ते शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्** ("४।२।४८") इत्यादि। आठवीं सिद्धि दान है—यहाँ यह दान शब्द शुद्ध्यर्थक दैप् (शोधने) इस धातु से निष्पन्न है। जिसका अर्थ है विवेकज्ञान की शुद्धि। जैसा कि योगसूत्र में पतञ्जलि ने भी कहा है—"विवेकख्यातिर-विप्लवा हानोपायः" इत्यादि, अर्थात् संशयविपर्ययादि दोषों के परिहारपूर्वक विवेकज्ञान की परिशुद्धि ही दानसिद्धि है। अथवा—धनादि दान से सन्तुष्ट होकर गुरु जब प्रसन्न होता है, तब वह तत्वज्ञान देता है। यही दान सिद्धि है।

ये आठों सिद्धियां मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं। अतः ये मुमुक्षुओं के लिए उपादेय हैं। और पूर्वोक्त विपर्ययाशक्ति तुष्टि ये तीनों इन सिद्धियों के प्रति-बन्धक हैं। अतः ये त्याज्य हैं।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्वकौमुदी में इन सिद्धियों का व्याख्यान भिन्न क्रम से किया है। उन्होंने पहिले मुख्य व गौण भेद से सिद्धियों का विभाजन किया है जिसमें दुःखविघातादि त्रिविध सिद्धियों को मुख्य माना है। अन्य पांच सिद्धियों को गौण माना है, इसमें उपपत्ति यह है कि सिद्धि का अर्थ पुरुषार्थ निष्पत्ति है। पुरुष का प्रयोजन ही पुरुषार्थ है। वह प्रयोजन इच्छा का विषय है। प्राणिमात्र की इच्छा दुःखनिवृत्तिपूर्वक सुख प्राप्ति ही होती है। अतः दुःखविघात निष्पत्ति ही मुख्यसिद्धि है और ऊहादि सिद्धि तो तदुपाय होने से गौण हैं ॥५१॥

अत्राह—भगवता उक्तं पूर्वस्याभार्यायां भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरति। तत्र किं लिङ्गं पूर्वोत्पन्नम्, आहोश्वित् भावा इत्यलोच्यते—लिङ्गं तावत् सूक्ष्मं तान्मात्रिकं शरीरमनादिकालोत्पन्नं त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं भावैरधिवासितं संसरति। करणानि बुद्ध्यहङ्कार मनोबुद्धिकर्माख्यानि त्रयोदश। एवं त्रयोदशविधकरणमाश्रित्य सूक्ष्मशरीरं तान्मात्रिकं संसरति। शरीरं करणानि च एतािल्लङ्गमित्यत्रोच्यते। भावैरधिवासितमिति भावा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि चत्वारः सात्विकाः। विपरीतास्तामसाः। एवमष्टौ भावाः। तत्र सन्देहः, किं लिङ्गं पूर्वोत्पन्नम्, उताश्वित् भावा इति। उच्यते—

न विना भावैर्लिङ्गं न लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥५२॥

प्रसङ्ग—भगवान ईश्वर कृष्ण ने पूर्व आर्या में कहा था कि भावों से अधिवासित लिङ्ग शरीर संसरण करता है। इसमें सन्देह होता है कि क्या लिङ्ग शरीरपूर्वोत्पन्न है या भाव। उत्तर में कहते हैं कि लिङ्ग जो कि एक सूक्ष्म तान्मात्रिक शरीर है, वह अनादिकाल से ही उत्पन्न है और तेरह करणों से संयुक्त रहता है, भावों से अधिवासित होकर संसरण करता है। करण का मतलब है बुद्धि, अहंकार, मन और ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियों सहित तेरह इन्द्रियाँ। इस प्रकार तेरह करणों का आश्रय लेकर तन्मात्र निर्मित सूक्ष्म शरीर संसरण करता है। यही तान्मात्रिक शरीर और इन्द्रियाँ दोनों मिलकर लिङ्ग कहलाती हैं। ऊपर कहा है कि भावों से अधिवासित होकर संसरण करता है। भाव—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार सात्विक भाव कहलाते हैं। इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, ये तामस भाव कहलाते हैं। ये सब मिलकर आठ भाव हैं। फिर सन्देह होता है कि क्या लिङ्ग पहिले उत्पन्न हुआ अथवा भाव। इसी का समाधान इस कारिका में किया है—

भाव (प्रत्ययसर्ग) के बिना लिङ्ग (तन्मात्रिक सर्ग) नहीं होता। और लिङ्ग के बिना भाव की निष्पत्ति नहीं होती। तस्मात् लिङ्ग व भाव उभय सर्गों की उत्पत्ति बुद्धि तत्व से युगपत् होती है ।।५२।।

मा० वृत्ति—लिङ्गेन बिना भावो न भवति, भावैश्च बिना लिङ्गं न भवति। यथाऽग्निना बिना तौष्णत्वमुष्णत्वं विना नाग्निः। एवमेतयोर्लिङ्गभावयोर्युगपदुत्पत्तिः। गोविषाणवत्, कुमारीस्तनवत्। यत्र लिङ्गं तत्र भावा यत्र भावास्तत्रलिङ्गम्। तस्मादुच्यते—लिङ्गाख्यो भावाख्यः। लिङ्गेन

आख्यायते स लिङ्गाख्यः। भावैराख्यायत इति भावाख्यः, तस्मात् द्विधा सर्गो भवति जायते ॥५२॥

अनुवाद—लिङ्ग सर्ग के बिना भाव सर्ग नहीं होता और भावसर्ग के बिना लिङ्ग सर्ग नहीं होता। जैसे—अग्नि के बिना उष्णत्व नहीं और उष्णत्व के बिना अग्नि नहीं। इसी प्रकार इन लिङ्ग तथा भाव सर्गों की भी युगपत् (एक साथ) उत्पत्ति होती है। गाय के सींगों की तरह या कुमारी के स्तनों की तरह। जहाँ लिङ्ग शरीर रहेगा वहाँ भाव भी, और जहाँ भाव रहेंगे वहाँ लिङ्ग शरीर भी। इसीलिए कहा कि लिङ्गाख्योभावाख्य इत्यादि। लिङ्ग नामक तथा भाव नामक दोनों प्रकार के सर्ग बुद्धितत्व से युगपत् उत्पन्न होते हैं ॥५२॥

प्रबोधिनी

बुद्धितत्व से दो प्रकार की सृष्टि होती है। भाव सृष्टि और लिङ्ग सृष्टि। इसमें भाव सृष्टि का संक्षेप रूप धर्माधर्मादि आठ प्रकार का है। इन्हीं के विस्तार से पचास भेद होते हैं। इसी प्रकार लिङ्गसृष्टि का भी संक्षेप रूप त्रयोदशविध करण हैं जिसका विस्तार स्थूल देह प्रभृति स्थावर जङ्गमादि में होता है। इन दोनों प्रकार की सृष्टि के विषय में यह प्रश्न होता है कि बुद्धि ने ये दोनों प्रकार की सृष्टि क्यों की। एक प्रकार की सृष्टि से भी तो काम चल जाता। फिर दोनों प्रकार की सृष्टि में पहिले किसकी उत्पत्ति हुई। इसी का समाधान कारिका तथा वृत्ति में किया गया है कि भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ साधन के लिए उभयविध सृष्टि का होना आवश्यक है। क्योंकि लिङ्गसर्ग जोकि तन्मात्राओं से निर्मित है, वह भाव सर्ग के बिना पुरुषार्थसाधन योग्यता में तथा स्वरूपोलब्धि में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार भाव सर्ग जिसे प्रत्ययसर्ग भी कहते हैं, जो कि संक्षेप में धर्माधर्मादि भेद से अष्टविध है वह भी तन्मात्र सर्ग के बिना पुरुषार्थसाधन योग्यता में तथा स्वरूपोपलब्धि में समर्थ नहीं है। अतः उभयविध सर्ग की आवश्यकता है।

निष्कर्ष यह है कि भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए तीन वस्तुओं की अपेक्षा रहती है। १. भोग्य—विषय। २. भोगायतन—शरीर। ३. योगसाधन—इन्द्रियाँ। इनमें योग्य शब्दादि विषय तथा योगायतन-स्थूल सूक्ष्म शरीर, तन्मात्र सर्ग (लिङ्ग सर्ग) के बिना नहीं बन सकते। अतः यह लिङ्ग सर्गसुतरां अपेक्षित है। इसी प्रकार भोगपुरुषार्थ के साधनभूत इंन्द्रियाँ अन्तःकरण के बिना नहीं बन सकतीं और वह अन्तःकरण धर्माधर्मादि भावों के

बिना नहीं हो सकता। अतः पुरुषार्थ भोग के लिए भावसर्ग भी परमावश्यक है क्योंकि शरीर धर्मादिजन्य है, और धर्मादि शरीरजन्य हैं। अतः दोनों की युगपत् उत्पत्ति और अन्योन्याश्रित पुरुषार्थ साधकता मानने में कोई हानि नहीं। तस्मात् दोनों में बीजाङ्कुरवत् अनादि कार्यकारण भाव मानने से अन्योन्याश्रयजन्य दोष भी परिहृत हो जाता है ॥५२॥

अत्राह—किं द्विविध एव सर्गः किं तस्मादन्यस्तृतीसोऽप्यस्ति इति। अत्रोच्यते—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषश्चैकविधः समासतोऽयं त्रिधा सर्गः[1] ॥ ५३ ॥

प्रश्न—क्या दो प्रकार का ही सर्ग है? अथवा तदतिरिक्त तृतीय प्रकार का भी है। उत्तर में कहते हैं कि—तृतीय भौतिक सर्ग भी है जिसमें आठ प्रकार की देव सृष्टि है, और पाँच प्रकार की तिर्यक योनियाँ (पशु पक्षी आदि) की सृष्टि है, और एक प्रकार की मनुष्यों की सृष्टि है। यही संक्षेप में भौतिक सर्ग है। ॥५३॥

मा०वृत्ति—अष्टविकल्पो दैव इति। तद्यथा-ब्राह्मं प्राजापत्यम् ऐन्द्रं पैत्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमित्येवमष्ट विधो देवसर्गः। तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। अत्र तुल्यलिङ्गत्वाद् भवति पशुपक्षि मृग सरीसृप स्थावरान्तश्च इति। मानुष्य एकविधस्तुल्य लिङ्गत्वात् ब्राह्मणादि चाण्डालान्तः। समासतः सङ्क्षेपेण त्रिविधोऽयं भूतमयः सर्गः, एवं चतुर्दश विधः ॥५३॥

अनुवाद—देवों की सृष्टि आठ प्रकार की है, वह इस प्रकार ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच, इस प्रकार आठ तरह का देवसर्ग है। तिर्यक् योनियों की सृष्टि पांच प्रकार की है। समान चिह्न (संस्थान) होने से ये पांच तरह के होते हैं। पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप और स्थावर, मनुष्यसृष्टि एक ही तरह की होती है। सभी मनुष्यों में समान चिह्न (संस्थान) होने से—ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक। संक्षेप में यह भूतमय सर्ग तीन प्रकार का है और इस भौतिक सर्ग के अवान्तर भेद चौदह होते हैं ॥५३॥

प्रबोधिनी

द्विविध प्रत्ययसर्ग (भाव तथा लिङ्ग) का विभाग पूर्वक वर्णन करके अब तृतीय भौतिक सर्ग का विभाजन करते हैं। संक्षेप में भौतिक सर्ग तीन प्रकार का है। देव सर्ग, तिर्यक् योनिसर्ग और मनुष्य सर्ग, परन्तु इनके अवान्तर भेद चौदह होते हैं जैसे—देवसर्ग-ब्राह्म-ब्रह्मलोकवासी प्राजापत्य-प्रजापति

लोकवासी, ऐन्द्र-स्वर्गलोक वासी, पैत्र-पितृ लोक वासी-या चन्द्र लोक वासी, शास्त्रों में कहा है "सोमाधाराश्च पितरः।" गान्धर्व-गन्धर्व लोक वासी, याक्ष-यक्षलोक वासी, राक्षस-राक्षस लोक वासी, पैशाच-पिशाच लोक वासी, ब्रह्मादि से पिशाच पर्यन्त देवयोनि विशेष होने से इन्हें दैवसर्ग कहा गया है क्योंकि मनुष्यों की अपेक्षा इनमें अधिक शक्ति है। तिर्यक् योनियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। पशु-चार चरण वाले गाय-अश्व आदि। मृग—जंगली चौपायें हरिणादि। पक्षि-पंखों वाले, गीध आदि। सरीसृप-चरण रहित अथवा अल्पचरण वाले सर्पादि। स्थावर-प्रत्यक्ष चेष्टा रहित वृक्षादि। मनुष्यों की सृष्टि एक प्रकार की ही है। यद्यपि मनुष्यों में भी तत्तद् जाति भेद से अनेक भेद हो सकते हैं। परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणत्वादि जाति भेद के होने पर भी परस्पर अवयव-संस्थान भेद (आकृति भेद) के न होने से एक ही प्रकार की मनुष्य सृष्टि बतलाई गई है।

अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में छः प्रकार की दैवादि सृष्टि का वर्णन किया है। उन्होने "**दैवादि प्रभेदाः (॥४६॥)**" इस सूत्र की वृत्ति में इस प्रकार लिखा है। **आदि शब्दात् षड् भेदाः। तथाचोक्तम्-दैवादि षट् विधश्चस्यात्, संस्कारः कर्मसम्भवः। सुरोऽसुरो नरः प्रेतो नारकस्तिर्यकस्तथा"**।

स्थावराद्दीनां नारकेष्वन्तर्भावः ॥४६॥ परन्तु विज्ञानभिक्षु का भाष्य-कारिकानुसारी है ॥५३॥

अत्राह—एतेषु त्रिषुस्थानेषु कतरो गुण उत्कटत्वेन वर्तते।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः[2] ॥ ५४ ॥

सङ्गति—पूर्वोक्त तीनों सर्गों में कौन गुण किस सर्ग में प्रधानतया वर्तमान है। उत्तर में कहते हैं कि—

उर्ध्व लोक में अर्थात् देवसर्ग में सत्वगुण अधिक है और मूल में अर्थात् निम्नसर्ग, तिर्यक् योनि सर्ग में तमोगुण अधिक है। मध्य में अर्थात् मनुष्यसर्ग में रजोगुण अधिक है। ब्रह्मादि से स्तम्ब (लतागुलमादि) पर्यन्त सभी लोक तीनों गुणों से व्याप्त हैं ॥५४॥

मा०वृत्ति—उर्ध्वमिति। ब्रह्मादि पिशाचान्तो योऽष्टविधः **सर्गः** असौ सत्वबहुलः। यस्मात्तेषु सत्वमुत्कटत्वेन वर्तते। तत्रापि रजस्तमसी स्तः किंतु सत्वस्योद्रिक्तता। तस्मात् सुखप्राया देवाः। तमोविशालश्च मूलतः पश्वदिषु तमस उद्रेकात् पश्वादि स्थावरपर्यन्तः (तमो बहुलः)। यस्मात्तेषु तम उत्कटत्वेन वर्तते तत्रापि गौणतया सत्वरजसी स्तः। तस्मात्ते तमो बहुलाः। मध्ये

रजोविशालः । तत्रापि सत्वतमसी स्तः । किंतु रजउत्कटत्वेन वर्तते । तस्मात्तो दुःखप्राया मनुष्याः । ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तः, चतुर्विध एष स्वेदजाण्डजादिन भूतसर्गः ॥५४॥

अनुवाद—उर्ध्वम् का अर्थ है—ब्रह्मादि से लेकर पिशाचान्त जो आठ प्रकार का सर्ग बतलाया है, वह सत्वप्रधान है। क्योंकि उसमें सत्वगुण की अधिकता है। यद्यपि वहाँ भी रज और तमोगुण रहते हैं, परन्तु अधिकता सत्व की ही रहती है। इसीलिए देवता लोग सुखी हैं। मूलतः, अर्थात् निम्नसृष्टि तमोगुण प्रधान रहती है। पश्वादियों में तमोगुण की अधिकता रहने से पश्वादि स्थावरपर्यन्त तमोगुण प्रधान है। क्योंकि उसमें तमोगुण की अधिकता है, वहाँ भी गौणरूप से सत्व और रजोगुण रहते ही हैं। इसीलिए तिर्यकसर्ग तम (मोह) प्रधान है। मध्ये अर्थात् मनुष्यसर्ग रजोगुण प्रधान है। यहाँ भी सत्व और तमोगुण रहते हैं, परन्तु प्रधानता रजोगुण की ही है। इसीलिए मनुष्य प्रायः दुःखी है। ब्रह्मादि से स्तम्ब पर्यन्त स्वेदजाण्डजादि का (पृथक्) मिलाकर चार प्रकार का यह भूतसर्ग है ॥५४॥

प्रबोधिनी

पुनः भौतिक सर्ग का सत्व, रज और तमोगुण के उत्कर्षापकर्ष निमित्त विभाजन करते हैं। उर्ध्वलोक स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक तक सत्व प्रधान है। यही दैव सर्ग है। इसमें रजोगुण व तमोगुण के रहने पर भी सत्वगुण की ही प्रधानता है। इसीलिए वे सदा सुखी रहते हैं। सुख धर्मजन्य होने स उनमें धार्मिक प्रवृत्ति लक्षित होती है। यहाँ लोक पद की लक्षणा तत्तत लोकवासी जीवों में होगी क्योंकि सुखानुभव तथा ज्ञानादि धार्मिक प्रवृत्ति की तभी सङ्गति हो सकती है। कारिका में आया हुआ मूलतः यह पद निम्न जीवपरक तथा निम्नलोकपरक है। अतः यह निम्नसर्ग अर्थात् पशु पश्वादि स्थावरान्त सर्ग तमोगुण प्रधान है। इसीलिए वे मूढ हैं।

मध्यसर्ग—अर्थात् मनुष्यसृष्टि, भूलोक, जिसमें सप्तद्वीपों तथा सप्त-समुद्रों का सन्निवेश है, वह मानवसृष्टि रजोगुण प्रधान है। यद्यपि यहाँ भी सत्व तथा रज रहते हैं तथापि अधिकतर मनुष्यों के धर्माधर्मादि प्रवृत्तिपरायण होने से दुःख की ही प्रधानता है। धर्म का फल सुख है और अधर्म का दुःख परन्तु वह सुख भी दुःखमिश्रित होने से दुःख के ही समान है। पातञ्जल सूत्र में कहा भी है—"**परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वविवेकिनः** (२।१५।) **अर्थात्**—जितने भी वैषयिक सुख हैं वे परिणाम ताप संस्कार दुःखों से, गुणवृत्तियों के विरोध से, विवेकी पुरुष के लिए सब दुःखकल्प ही हैं। गीता में भी कहा है। "**ये हि संस्पर्शजा भोगा**

दुःखयोनय एव ते" इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्मादिस्तबपर्यन्त यह सभी सृष्टि सत्वादि गुणों ने व्याप्त है। और इन्हीं गुणों के द्वारा तत्तत् सर्गों में उत्कर्षापकर्ष भी है। माठर ने वृत्ति में तिर्यक्योनि सर्ग में एक स्वेदज और अण्डज के द्वारा अवान्तर भेद दिखलाकर भूतसर्ग चतुर्विध बना दिया।।५४।।

अत्राह—भूतसर्ग उत्पन्नो भावसर्गः सम्पन्नो लिङ्गसर्गः सम्पन्न इति यत्र सर्गाः प्राधानिका इति प्रधानकार्यं समाप्तमिति। उत्पन्नास्त्रयो लोकाः प्रधानं चोपरतमुत्पाद्य लोकान् इति तेषु देवमनुष्यतिर्यग्योनिगतेषु दुःखं कोऽनुभवति। किं चतुर्विंशतितमं प्रधानम्, आहोस्वित् महदादित्रयोविंशतिकम्, उतस्वित् पुरुष इति ? अत्रोच्यते—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेः, तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

प्रश्न—भूतसर्ग, भावसर्ग तथा लिङ्गसर्ग समुत्पन्न हो चुके। ये सर्ग प्राधानिक, अर्थात् प्रधान (प्रकृति) जन्य हैं। अतः प्रधान का कार्य समाप्त हुआ। तीनों लोक उत्पन्न हो चुके। तीनों लोकों को उत्पन्न कर प्रधान स्वयं उपरत हो चुका। तब इन देव मनुष्य तिर्यक् योनियों में दुःख का अनुभव कौन करता है ? क्या चौबीसवाँ तत्व प्रधान अथवा महदादि तेईस तत्व या पुरुष ? उत्तर में कहते हैं—

इन तीनों लोकों में तथा तीनों सर्गों में चेतन (चैतन्यवान्) पुरुष ही जरामरणजन्य दुःख को प्राप्त करता है; जब तक कि (ज्ञान द्वारा) लिङ्ग शरीर की निवृत्ति न हो जाय, तब तक (संक्षेप में) तीनों सर्गों में पुरुष ही दुःख को प्राप्त करता है ।।५५।।

मा० वृत्ति—अत्र त्रिषु लोकेष्विति, देवलोके मनुष्यलोके तिर्यग्योनौ च जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। तत्र जराकृतं वलीपलितैरभिभूतः कासश्वासैः परिगृहीतो यष्टिम्भगामी पुत्रस्नुषाद्यभिभूतो यद्दुःखमनुभवति तज्जराकृतम्, मरणकृतमिति। अष्टविधमैश्वर्यमस्ति यत् प्रागभिहितमणिमादि, दश विषयाः सन्ति। देवानां पञ्चाविशेषाः केवल सुखरुपाः, मनुष्याणां सविशेषास्त एव शब्दादय सुखदुखमोहसम्पन्नाः तन्मरणपातावस्थायां यद्दुःखमुत्पद्यते तन्मरणकृतमित्येव। एवमेतै दुःखैरन्तकाले च जनितदुःखानि सर्वाणि प्राप्नोति चेतनः पुरुष एव प्रधानादीनामचेतनत्वात्। तर्हि कियन्तं कालं पुरुषो दुःखमाप्नोति। अत्रोच्यते—लिङ्गस्याविनिवृत्तेः, यावन्महदादि लिङ्गं न निवर्तते तावत्कालं पुरुषो दुःखभोक्ता। तस्माद्दुःखं समासेन—सङ्क्षेपेण प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। यदा तु तत् प्रतिनिवर्वते महदादि लिङ्ग

ज्ञानोत्पत्त्या ततो मोक्षं प्राप्नोति । मोक्षं गतस्य दुःखं नास्ति । ज्ञानेन हि लिङ्गं निवर्तते । यदा प्रत्येकं प्रधानमहदहं तन्मात्रेन्द्रियभूतान्यन्यानिः अहमन्य इति ज्ञानं तदा लिङ्गाभावः ।।५५।।

अनुवाद—तीनों लोकों में अर्थात् देवलोक, मनुष्यलोक और तिर्यक्योनि में, चेतन पुरुष जरामरणजन्य दुःख को प्राप्त करता है। वृद्धावस्था में समुत्पन्न दुःख को जराकृत दुःख कहते हैं जिसमें बाल सफेद हो जाते हैं तथा कास श्वास मे ग्रस्त होकर केवल लाठी के सहारे चलने वाला, पुत्र व पुत्रवधू से पराभूत होकर जिस दुःख का अनुभव करता है वह जराकृत दुःख है। मरणकृत दुःख इस प्रकार है: अष्टविध ऐश्वर्य हैं, अणिमादि, जिन्हें पहिले कहा जा चुका है। दस विषय हैं; (शब्दादिभोगा सामग्री)। ये विषय देवताओं के लिए तो पांच अविशेषरूप (अर्थात् तन्मात्रस्वरूप) जो कि केवल सुखस्वरूप होते हैं। और ये ही पाँच शब्दादि विषय मनुष्यों के लिए सविशेष (अर्थात् स्थूल पृथिव्यादिरूप) होने से सुखदुःख मोह सम्पन्न होते हैं। मरणावस्था में इनसे जो दुःख उत्पन्न होता है वह मरणकृत दुःख कहा जाता है। इस प्रकार अन्तःकाल में इन दुःखों को चेतन पुरुष ही प्राप्त करता है, क्योंकि प्रधानादियों के जड़ होने से। तब कब तक पुरुष दुःख को प्राप्त करता है? उत्तर में कहते हैं कि—लिङ्ग शरीर की विनिवृत्ति पर्यन्त, अर्थात् जब तक लिङ्ग शरीर की निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक चेतन पुरुष ही दुःख को प्राप्त करता है। परन्तु जब ज्ञान द्वारा लिङ्ग शरीर की निवृत्ति हो जाती है तब पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष मिलने पर दुःख नहीं रहता। जब प्रत्येक के विषय में प्रधान, महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, पञ्चमहाभूत, ये सब पृथक् हैं, और आत्मा इनसे पृथक् है, ऐसा ज्ञान हो जाता है, तब लिङ्ग शरीर का भी लय हो जाता है, अर्थात् मोक्ष हो जाता है ।।५५।।

प्रबोधिनी

सभी लोकों में जीव को जरामरणादि दुःख प्राप्त होता है। यद्यपि देवादि शरीर में सुखप्रचुर है, तथापि वह भी क्षयिष्णु है। मरणादि सर्वत्र अवश्यम्भावी है। शारीरिक परिणामों से जन्य यह दुःख तब तक नहीं मिटता जब तक कि लिङ्ग शरीर की निवृत्ति न हो जाय। इसकी निवृत्ति केवल विवेक ज्ञान से हो सकती है। तभी मोक्ष भी सम्भव है। उस मोक्षसाधक ज्ञान की ओर प्रवृत्ति तभी हो सकती है जब कि इन सर्गों (लोकों) में दुःख बहुलता का आभास हो तथा दुःख निवृत्ति के लिए चेष्टा हो। जब तक लिङ्ग शरीर की निवृत्ति नहीं होती, तब तक (अर्थात् मोक्ष पर्यन्त) पुरुष ही दुःख को प्राप्त

करता है। आपाततः यह बात (पुरुष का दुःख प्राप्त करना) सांख्य सिद्धान्त के विरुद्ध मालूम पड़ती है। इस दर्शन में सुखदुःखादियों का भोग तो बुद्धि का ही माना है। यहाँ उसका आरोप पुरुष में कर दिया है। तात्पर्य यह है कि पुरुष पद का यौगिक अर्थ 'पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः' है और लिङ्ग शरीर दुःखमिश्रित होता है, अतः तत्सम्बन्धी सूक्ष्मशरीरवर्ती पुरुष (जीव) भी तत्तत् दुःखों वाला प्रतीत होता है। जैसे—स्वच्छ स्फटिकमणि—जवा-कुसुम के सम्पर्क से रक्त मालूम पड़ती है, इसी प्रकार यह पुरुष भी, (अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य वेदान्त में जिसे जीव कहा है।) जरामरणादि दुःखों से सम्पृक्त लिङ्ग शरीर के सम्पर्क से दुःखी जैसा प्रतीत होता है। वास्तव में पुरुष (आत्मा) के सुखदुःखादि धर्म नहीं हैं। विवेकज्ञान के द्वारा जब प्रकृत्या-दियों से आत्मा का पार्थक्य मालूम हो जाता है और सांसारिक विषयों की दुःखरूपता निश्चित हो जाती हैं; तब वैराग्यपूर्वक विवेक का उदय होता है। तदनन्तर लिङ्ग शरीर की निवृत्ति हो जाती है और पुरुष मुक्त हो जाता है ॥५५॥

प्रकृतेः किं निमित्तारम्भ इत्यत्रोच्यते—

इत्येष प्रकृतिकृतौ[2] महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

तब प्रकृति का यह सर्ग किस लिए है ? उत्तर में कहते हैं कि यह महदादि भूत पर्यन्त पूर्ववर्णित सर्ग प्रकृतिकृत है। यह प्रकृति का आरम्भ (सर्ग) प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए है, स्वार्थ की तरह पुरुषार्थ (परार्थ) के लिए प्रवृत्त होता है ॥५६॥

मा० वृत्ति—इत्येष प्रकृतिकृत इति, एवमादिर्यः पूर्वमुपवर्णितो लिङ्ग-सर्गो महदादिभूत पर्यन्तः एष प्रकृतिकृत इति। अत्राह—एवं लिङ्गसर्गः प्रधा-नेन किमर्थं कृत इति ? अत्रोच्यते—प्रतिपुरुष विमोक्षार्थम्, पुरुषं पुरुषं प्रति विमोक्षस्तदर्थं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम्, देवलोकगतानां मनुष्यलोकगतानां तिर्यक्योनिगतानां च मोक्षार्थमित्यर्थः। स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः। स्व-कीयोऽर्थः स्वार्थः। इवोपमायाम्, यथा कश्चित् स्वार्थमिव मित्रार्थं करोति तथा स्वार्थमिव प्रधानं पुरुषार्थं करोति। स चार्थो द्विविधः शब्दाद्युपलब्धिरादि गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तश्च। त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषं योजयति। अन्ते च गुणपुरुषान्तरोपलब्ध्या मोक्षं कुरुते ॥५६॥

अनुवाद—इस प्रकार यह प्रकृतिकृत सर्ग है। पूर्व वर्णित लिङ्गसर्ग, जो कि महदादि भूतपर्यन्त है, यह प्रकृतिकृत ही है। इस पर पूछते हैं कि—प्रधान

ने लिङ्ग सर्ग का आरम्भ किसलिए किया ? उत्तर—प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए। देवलोकस्थ, मनुष्यलोकस्थ तथा तिर्यक्योनिगत जीवों के मोक्ष के लिए स्वार्थ की तरह परार्थ के लिए प्रवृत्त होता है। स्वकीय (अपने) 'अर्थ (प्रयोजन) को स्वार्थ कहते हैं। इव शब्द यहाँ उपमापरक है। जैसे कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ की तरह मित्र के लिए भी प्रवृत्त होता है। वैसे ही प्रधान भी स्वार्थ की तरह पुरुषार्थ (भोगापवर्ग लक्षण पुरुषार्थ) के लिए प्रवृत्त होता है। वह पुरुषार्थ दो प्रकार का है। प्रथम—शब्दादि विषयों की उपलब्धि, और द्वितीय—गुणपुरुषान्तरोपलब्धि। तीनों लोकों में शब्दादि विषयों से पुरुष को संयुक्त कराना, और अन्त में गुणपुरुषान्तरोपलब्धि (विवेक ज्ञान) द्वारा मोक्ष कराना ।।५६।।

प्रबोधिनी

यह महदादि भूत पर्यन्त जो सृष्टि है वह प्रधान कृत ही है। यद्यपि इस बात को सृष्टि वर्णन प्रसङ्ग में बाइसवीं कारिका में भी कह चुके हैं। "प्रकृतेर्महान्" इत्यादि से फिर भी विविध वादियों के विप्रतिपत्ति निरास के लिए पूर्वोक्त सिद्धान्त को और भी दृढ़ कर देते हैं, साथ ही साथ प्रकृति की परार्थता को भी इस प्रसङ्ग में सूचित कर देते हैं।

सांख्यदर्शन का ही समानतन्त्र योगदर्शन है, जिसमें ईश्वराधिष्ठित प्रकृति से सृष्टि मानी गई है। परन्तु सांख्यदर्शन ईश्वर की अधिष्ठातृता को मान्यता नहीं देता। जब कि वह निष्क्रिय व निर्व्यापार है तो अधिष्ठाता कैसे हो सकता है। वेदान्तियों का ब्रह्म भी उपादान कारण नहीं बन सकता है, क्योंकि श्रुति कहती है **"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्"** तब ब्रह्म के निरवयव होने से परिणाम नहीं हो सकता, और परिणाम के विना रूपवत् सावयव वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि जब ब्रह्म का स्वरूप ही विज्ञानानन्दात्मक है, और वही सृष्टि का उपादान है, तब तो सारा विश्व आनन्दात्मक होना चाहिए, परन्तु विश्व तो सुखदुःख मोहात्मक है। अतः यह वेदान्त सिद्धान्त भी सर्वमान्य नहीं है। न चार्वाकादि सम्मत स्वभाव ही सृष्टि का कारण हो सकता है। क्योंकि स्वभाव के नित्य रहने से नित्य सृष्टि का प्रसङ्ग हो सकता है। और न ही बौद्धादि सम्मत असत् ही जगत् का कारण हो सकता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध पृथिव्यादि सत् कार्यों का असत्वादि (अलीक) कारण असिद्ध है। तस्मात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही त्रिगुणात्मक जगत् को उत्पन्न करने में समर्थ है।

प्रश्न—परिणामशीला जड़प्रकृति स्वयं विपरिणत होकर जो सृष्टि करती है, उसमें उसका अपना क्या स्वार्थ (प्रयोजन) है ?

उत्तर—प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए ही प्रधान की यह सर्ग प्रवृत्ति है। अर्थात् – प्रकृति का परार्थ व्रत है कि प्रत्येक पुरुष को प्रथम शब्दादिविषयोपलब्धि कराकर फिर विवेक ज्ञान द्वारा उन्हें मोक्ष दिलाना। यह परार्थ प्रकृति का स्वार्थ की तरह है अथवा प्रकृति का स्वार्थ भी परार्थ (पुरुषार्थ) के बिना सिद्ध नहीं होता। उसका अपना स्वार्थ है भोगापवर्गसम्पन्न पुरुष से अपना विमोचन। जिस प्रकार भोजन बनाने वाला (पाचक) भोजन बनाने के लिए प्रवृत्त होता है, और भोजन बन जाने पर उस कार्य से निवृत्त हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को भोगापवर्ग प्रदान कर स्वयं भी निवृत्त हो जाती है ॥५६॥

अत्राह—उक्तं भगवता प्रधानं स्वार्थमिव परार्थमारभते। अथ च त्वया प्रधानमचेतनमुक्तं तत् कथं प्रवर्तते। (उच्यते) अचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा निवृत्तिश्च।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

सङ्गति—पहले कहा था कि प्रधान स्वार्थ की तरह परार्थ के लिए प्रवृत्त होता है। प्रधान को तो आपने अचेतन बताया है। तब वह कैसे प्रवृत्त होगा? उत्तर—अचेतनों की भी प्रवृत्ति देखी गई है, और निवृत्ति भी। जैसे अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति वत्स के पोषण के लिए स्वयमेव होती है, उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष के भोगापवर्ग के लिए अचेतन प्रधान भी स्वयमेव प्रवृत्त होता है ॥५७॥

मा० वृत्ति—यथा तृणोदकं गवा भक्षितं पीतं च क्षीरभावेन परिणमति, वत्सवृद्धिं करोति, पुष्टे वत्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्याज्ञस्य प्रवृत्तिः ॥५७॥

अनुवाद—जैसे गाय के द्वारा खाये व पीये गये घास व जल, दूधरूप में परिणत हो जाते हैं और वह दूध वत्स का पोषण करता है। फिर वत्स के पुष्ट हो जाने पर निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार पुरुष (जीवात्मा) के मोक्ष के लिए अचेतन प्रधान की भी प्रवृत्ति होती है ॥५७॥

प्रबोधिनी

न केवल चेतन ही स्वार्थ या परार्थ के लिए चेष्टा करते हैं, अपितु अचेतनों की भी प्रवृत्ति स्वार्थ और परार्थ के लिए देखी गयी है। जैसे बछड़े

के पोषण के निमित्त अचेतन दूध गाय के बिना किसी प्रयत्न के प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार अचेतना प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है न कि चेतन की प्रेरणा से। क्योंकि किसी भी चेतनायुक्त प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति या तो स्वार्थ से होती है अथवा करुणा (पर दुःख प्रहाणेच्छा) से। ईश्वर स्वयं आप्तकाम होने से न तो स्वार्थवश सृष्टि का प्रेरक है और न करुणा से ही, क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों की सत्ता ही नहीं है। अतः केवल पदार्थ के लिए ही अचेतन प्रकृति भोगापवर्ग पुरुषार्थ के लिए स्वयं सृष्टि में प्रवृत्त होती है, ऐसा सांख्याचार्यों का मत है।

ईश्वर कृष्ण की यह कारिका दार्शनिक जगत् में समालोचकों के लिए आलोचनास्थल बनी हुई है। फलतः इसी का आश्रय लेकर लोग सांख्यदर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन भी कहते हैं। इसी प्रकार सांख्यसूत्र के **"ईश्वरासिद्धे"** इस सूत्र को भी अनीश्वरवादी होने में प्रमाणतया उपस्थित करते हैं। परन्तु वहाँ यह सूत्र ईश्वर के निषेधाभिप्राय से नहीं लिखा गया, अपितु वादी के प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति दोष देना था, अन्यथा ईश्वरकायादिनिषेध इष्ट होता तो **"ईश्वराभावात्"** ऐसा लिखते।

सांख्यसूत्र में यह धेनु वत्स दृष्टान्त करणों की पुरुषार्थ प्रवृत्ति के लिए दिया गया है। जिस प्रकार प्रधान की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए होती है, इसी प्रकार करणों की प्रवृत्ति भी पुरुषार्थ के लिए ही होती है। इसमें दृष्टान्त **"धेनुवद्वत्साय"** इस सूत्र के द्वारा दिया है। प्रकृत कारिका के वृत्त को उन्होंने **"अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य"** (५९) इस सूत्र में उपस्थित किया है। इस पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य इस प्रकार है—**"यथा क्षीरे पुरुष-प्रयत्न नैरपेक्ष्येण स्वयमेव दधि रूपेण परिणयते एवमचेतनत्वेऽपि परप्रयत्नं बिना महदादिरूपपरिणामःप्रधानस्य भवतीत्यर्कः ॥५९॥**

वस्तुतः साधारण रीति से वत्सपोषणार्थ अचेतन दुग्ध की जैसे प्रवृत्ति होती है, वैसे ही पुरुष के भोगापवर्ग के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति भी होती है। ऐसा स्वीकार करने पर भी समष्टि व्यष्टि प्रकृति में जब तक चेतन पुरुष अथवा जीव का अधिष्ठान नहीं होता, तब तक जड़प्रकृति में परिणाम-कारिणी शक्ति का आना सम्भव नहीं होता। अतः पुरुष का सान्निध्य सर्वथा अपेक्षित है। सांख्यसूत्र में कहा भी है **"तत् सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्"** इत्यादि। जैसे—अयस्कान्त मणि के सन्निधान मात्र से लोहे में क्रिया उत्पन्न हो जाती है, इसी प्रकार चैतन्य पुरुष के सन्निधान में समष्टि प्रकृति भी अपना कार्य करती है, और जीव भावापन्न पुरुष के अधिष्ठान से व्यष्टि

प्रकृति भी अपना कार्य करती है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है—"**अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।**" इस प्रकार समष्टि तथा व्यष्टि प्रकृति के साथ ईश्वर का सम्बन्ध सांख्य दर्शन में प्रतिपादित है। सांख्य निरीश्वर है, यह प्रवाद निर्मूल ही है। यह दूसरी बात है कि वेदान्त में ईश्वरेच्छामात्र से सृष्टि क्रिया स्वीकार की गई है। परन्तु सांख्य में कूटस्थ चैतन्य के सन्निधिमात्र से ही प्रकृतिपरिणाम स्वीकार किया गया है। स्मृतिकारों का भी कहना है कि—

"निरिच्छेसं स्थिते रत्ने यथा लोह प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चेयं जगज्जनिः॥ इत्यादि ॥५७॥

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ ५८॥

जैसे—लोग अपनी इच्छानिवृत्ति के लिए तत्तत् क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रधान की भी प्रवृत्ति होती है।५८॥

मा० वृत्ति—यथा लोक इष्टविषयौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्यर्थं क्रियासु गमनागमनासु प्रवर्तते कृतकार्यो निवर्तते। तथाऽव्यक्तं पुरुषस्य विमोक्षार्थं शब्दादिभोगलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं द्विविधं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते ॥५८॥

अनुवाद—जैसे लोग इष्टविषयक इच्छा के होने पर, उसकी निवृत्ति के लिए गमनागमनादि क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रधान भी पुरुष के मोक्ष के लिए शब्दादि भोग लक्षण तथा गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूप द्विविध पुरुषार्थ को सम्पन्न कर निवृत्त हो जाता है ॥५८॥

प्रबोधिनी

जिस प्रकार संसारी मनुष्य अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए तत्तत् कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होती है। अर्थात् परोपकार के लिए ही प्रकृति शब्दादि विषय, सूक्ष्मशरीर और स्थूल शरीर की सृष्टि करती है; क्योंकि इनसे ही पुरुष का भोग और अपवर्ग सिद्ध होता है। यह सब कार्य प्रकृति का वस्तुतः निस्वार्थ है।

जिस प्रकार एक सेवक अपनी इच्छा के बिना भी केवल स्वामी के इष्टसाधन के लिए कार्य में स्वतः प्रवृत्त होता है, ऐसे ही प्रकृति की भी यह

नि:स्वार्थ चेष्टा केवल पुरुष के लिए ही है। सांख्यप्रवचनभाष्य में इस विषय में एक और भी विकल्प दिया है। वह सूत्र इस प्रकार है—"कर्माकृष्टे र्वाडनादितः" (॥६२॥) अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अनादि कर्म द्वारा आकृष्ट होकर प्रकृति का यथाविधि परिणाम होता है॥५८॥

किञ्चान्यत्—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्[1]।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते[2] प्रकृतिः॥५९॥

और भी—जैसे नर्तकी रङ्गशाला में स्थित पुरुषों को अपना नृत्य दिखाकर, नृत्य से निवृत्त हो जाती है इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर पुनः निवृत्त हो जाती है॥५९॥

मा० वृत्ति—यथा नर्तकी शृङ्गारादिरसैर्हावभावैश्च निबद्ध गीतवादिन्दनृत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्तते, एवं प्रकृतिर्महदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतभावेन देवमानुषतिर्यग्रूपासु योनिषु सुखदुखमोहाकृतिः शान्तघोरमूढविषयासतो आत्मानं पुरुषस्यप्रकाश्य निवर्तते। तस्यां च निवृत्तायामसौ केवलः पुरुषो दुःखत्रयं नानुभवति। यथा जलवाहकस्य घटाभावे तदाधेयस्योदकस्याभावः, तथा दुःखाभावः। ततोऽसौ मोक्षं गच्छति॥५९॥

अनुवाद—जैसे नर्तकी रङ्गस्थलस्थित पुरुषों को, शृङ्गारादि रसपूर्ण हाव भावों के द्वारा नृत्य दिखाकर अपना कार्य समाप्त होने पर फिर नृत्य से निवृत्त हो जाती है, इसी प्रकार प्रकृति भी, महत्, अहंकार, तन्मात्रा' इन्द्रियसंघात, पञ्चभूत भाव से देव, मनुष्य, तिर्यक् योनियों में, सुखदुःखमोहाकृति तथा शान्तघोर, मूढावस्थायुक्त होकर, अपना स्वरूप पुरुष को दिखाकर, निवृत्त हो जाती है। प्रकृति के निवृत हो जाने पर, यह पुरुष फिर त्रिविध दुःखों का अनुभव नहीं करता। जैसे जलवाहक का घट के अभाव में आधेयभूत जल का भी अभाव रहता है। उसी प्रकार प्रकृति के अभाव में आधेयभूत दुःखों का भी अभाव रहता है। तब यह पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है॥५९॥

प्रबोधिनी

प्रकृति की प्रवृत्ति में केवल शब्दादि भोग तक ही चरितार्थ नहीं है, अपितु वह पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर स्वयं निवृत होकर, पुरुष के मोक्ष के लिए भी प्रयास करती है। जैसे कोई नर्तकी रङ्गशाला में हावभाव एवं

कटाक्षों के साथ अपना नाचगान दर्शकों को दिखाकर, उनसे पुरस्कारादि प्राप्त कर अपने नाचगान को बन्द कर देती है। इसी प्रकार प्रकृति भी शब्दादि परिणाम द्वारा अपना स्वरूप पुरुष को दिखाकर (अर्थात् शब्दादि रूप से अविवेक दशा में पुरुष को भोग कराकर) पुनः विवेकज्ञान द्वारा भिन्न रूप से अपने को प्रकाशित कर, निवृत्त हो जाती है। तब प्रकृति के संयोग न रहने से, पुरुष (केवल) शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला हो जाता है और प्रकृतिजन्य ताप का भी उसमें आरोप नहीं होता, यही पुरुष का मोक्ष है।

कारिका में "रङ्गस्य" यह पद रङ्गस्थित सामाजिकों को लक्षित करता है। क्योंकि रङ्ग स्वयं जड़ होने से नृत्यदर्शन क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता, इस तरह मुख्यार्थ बाधित होकर, उपादानलक्षण के द्वारा रङ्गस्थसामाजिकों को आक्षेप करता है—मञ्चाःक्रोशन्ति की तरह ॥५६॥

अत्राह— यथा नर्तकी नृत्यादिभिरुपायैरात्मानं प्रकाश्य रङ्गात् विनिवर्तते, एवं प्रकृतिः पुरुषस्य कैरुपायैरात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते ? अत्रोच्यते—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

प्रश्न—जैसे नर्तकी नृत्यादि उपायों से अपना स्वरूप दिखाकर रङ्गमञ्च से लौट जाती है, इसी प्रकार प्रकृति किन उपायो से अपना स्वरूप दिखाकर लौटती है ?

उत्तर—अनेक प्रकार के शब्द स्पर्शादि विषयों के द्वारा उपकारिणा गुणवती यह प्रकृति, अनुपकारी, निर्गुण, निष्क्रिय (सत्) पुरुष के लिए निःस्वार्थ पुरुषार्थ करती है ॥६०॥

मा० वृत्ति—नानाविधैरुपायैः शब्द स्पर्शादिभिरूपकर्तुं शीलमस्याः सा तथोक्ता। अनुपकारिणः पुंसः, निष्क्रियत्वादिति यावत्। तस्योपकारिणा प्रकृतिः, यस्योपकृत्याहमन्या त्वमन्य इति निवर्तते (प्रकृतिः)। किं चान्यत्—गुणवती सा सत्वरजस्तमोमयी। अगुणस्य सतः पुंसः, निष्क्रियोदासीनामूर्तादिलक्षणवत्वात्। एवमस्य पुंसोऽगुणस्यापि सतः (नित्यस्य) सेयं गुणवती, अर्थमपार्थकं चरति करोति। यथा कश्चिदनुरक्तो मित्रसुहृत्त्वमलम्ब्य मित्रार्थमनुक्तमपि प्रत्युपकारमनपेक्ष्य कुरुते। एवं प्रधानं पुरुषस्य द्विविधमपि विषयोपलब्धिमोक्षात्मकमर्थं कुरुते। पुमान् पुनः प्रधानस्य किमपि न प्रत्युपकरोति। तत् प्रधानपुंसोः शिखिपिच्छवदेकवपक्ष चित्र न्यायः ॥६०॥

अनुवाद—अनेक प्रकार के उपायों से, अर्थात् शब्द, स्पर्शादि विषयों के द्वारा उपकार करना है शील जिसका ऐसी प्रकृति। अनुपकारी पुरुष के निष्क्रिय होने से, उसका उपकार करने वाली प्रकृति, पुरुष का उपकार करके, मैं अलग हूं और तुम (पुरुष) अलग हो। इत्याकारक ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाती है। और भी—प्रकृति सत्वरजस्तमोगुण वाली है और पुरुष निर्गुण, नित्य, निष्क्रिय, उदासीन अमूर्तादि लक्षणवाला है। इस प्रकार इस निर्गुण, नित्य पुरुष के लिए भी यह गुणवती प्रकृति निस्वार्थ भावना से पुरुषार्थ करती है। जैसे कोई अनुरक्त मित्र मित्रतावश, मित्र के बिना कहे, किसी प्रत्युपकार की आशा न रख के निस्वार्थ कार्य करता है, इसी प्रकार प्रधान भी पुरुष के लिए द्विविध विषयोपलब्धि तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ को सम्पन्न करता है। परन्तु पुरुष प्रकृति का कुछ भी प्रत्युपकार नहीं करता। तब यह प्रधान और पुरुष का मयूर पंख की तरह एकपंक्षीय चित्रन्याय है ॥६०॥

प्रबोधिनी

नर्तकी जैसे रङ्गमञ्च में शृङ्गारादिरसपूर्ण हाव-भाव, कटाक्षों के द्वारा अपना कौशल दिखाकर, सामाजिकों का मनोरञ्जन कर चल देती है, इसी प्रकार प्रकृति भी शब्दादि विषयों के द्वारा अपना स्वरूप पुरुष को दिखाकर निवृत्त हो जाती है। प्रकृति सत्वादि गुणवाली है, अतः उसका गुणों के द्वारा उपकार करना स्वाभाविक है। और पुरुष निर्गुण, निष्क्रिय है। उसका भी प्रत्युपकार शून्य होना स्वाभाविक ही है। सांख्यसूत्र में भी कहा है, **"नर्तकीवत्-प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात्"** (॥३॥ ६९॥)

अर्थात्—जब महत्तत्वादि की चरितार्थता हो जाती है तब गुणवैषम्य रूप महदादि की निवृत्ति भी हो जाती है। जिस प्रकार नर्तकी नृत्य समाप्ति के बाद स्वतः निवृत्त हो जाती है ॥६०॥

निवृत्ता किं करोति एतदाह—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

तब निवृत्त होकर प्रकृति क्या करती है? उत्तर की अपेक्षा अधिक सुकुमार वस्तु और कोई नहीं है। ऐसा मेरा (ईश्वर कृष्ण का) विचार है। जो कि एक बार पुरुष के (विवेकज्ञान) द्वारा देख लेने पर फिर उसके दृष्टि-पथ में नहीं आती ॥६१॥

मा० वृत्ति—प्रकृतिरपि प्रधानमयि (एवं) कुरुते। यथेह स्नुषा व्रीडया स्वगृहान्तः प्रविशति, अतो ब्रवीति इयं विशिष्टतरेति। एवमियं प्रकृतिः सुकुमारतरा। तस्मात् प्रकृतेः सुकुमारतरं नान्यदस्तीति, एवं पुरुषस्य परमात्मनोऽपि मतिरुत्पन्ना नास्तीति मे मतिर्भवति। ममेति पुरुष आत्मानं ब्रवीति। तत्र सुकुमारतरत्वं वर्णयति। ईश्वरः कारणमिति केचिदाचार्या ब्रुवते। उक्तं च—

अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा॥

वेदवादिनः पुनरित्थं कारणमाहुः। "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यतः पुरुषः कारणमाहुः। अपरे स्वभावमाहुः। स्वभावः कारणमिति। तथा हि—

केन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥

अत्र सांख्या वदन्ति। ईश्वरः कारणं न भवति। कस्मात् निर्गुणत्वात्। इमाः सगुणाः प्रजाः। सत्वरजतमांसि त्रयो गुणाः। ते च प्रजासु सन्ति। तांश्च गुणान् दृष्ट्वा साधयामः। प्रकृतेरिमाः समुत्पन्नाः प्रजाः। यदीश्वरः कारणं स्यात्ततो निर्गुणादीश्वरान्निर्गुणा एव प्रजाः स्युः। न चैवम्, तस्मादीश्वरः कारणं न भवति। एवं पुरुषोऽपि द्रष्टव्यः। स्वभावो नाम न कश्चित् पदार्थोऽस्ति। यतः प्रजानामुत्पत्ति सङ्गतिः स्यात्। तस्मात् ब्रूते स्वभावः कारणमिति तन्मिथ्या। केचित् कालं कारणतया वर्णयन्ति।

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति तस्मात् कालस्तु कारणम्॥

तदपि सांख्यो निराकुरुते। कालो नाम न कश्चित् पदार्थोऽस्ति। व्यक्तमव्यक्तं पुरुष इति त्रय एव पदार्थाः। तत्र कालोऽन्तर्भूतः एवं प्रधानं हित्वा नास्त्यन्यत् कारणम्। तत् प्रधानावगमं प्रति यदा पुरुषस्य सम्यग् ज्ञानमुत्पद्यते तदा तेन ज्ञानेन दृष्टा प्रकृति पुरुषसङ्गान्निवर्तते। स्वैरिणीव पुरुषेणोपलक्षिता। अये? इयमसाध्वी मां मोहयति तस्मान्न ममानया कायमितिवत्। तस्यां च निवृत्तायां मोक्षं गच्छति। एवमीश्वरादीनि अकारणानि। सुकुमारतरम् इत्येतत् वाक्यशेषः कृतः। यस्मात् सुकुमारतरं प्रधानं तस्मादुच्यते—प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति इति मे पुरुषस्य।

इस पर सांख्य का कहना है कि ईश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह निर्गुण है। सांसारिक प्रजा त्रिगुणात्मक है सत्य, रज और तम तीन गुण हैं। वे प्रजाओं में विद्यमान हैं। उन गुणों को देखकर हम सिद्ध कर सकते हैं कि यह त्रिगुणात्मक प्रजा त्रिगुणात्मक प्रकृति से ही उत्पन्न हुई है। यदि ईश्वर कारण होता तो निर्गुण ईश्वर से निर्गुण ही प्रजा होती। परन्तु ऐसा है नहीं। इसलिए जगत् का कारण ईश्वर नहीं है। इसी प्रकार पुरुष भी नहीं हो सकता। स्वभाव वस्तु से कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। जिससे कि जगत् की उत्पत्ति मानी जाये। अतः जो कोई स्वभाव को जगत् का कारण मानते हैं, वह भी ठीक नहीं। कुछ लोग काल को जगत का कारण मानते हैं। उनका कहना है कि काल ही जीवों को उत्पन्न करता है और काल ही उनका संहार भी करता है। सबके सो जाने पर काल ही जागता है। तस्मात् काल ही इस प्रपञ्च का कारण है।

सांख्य दर्शन इसका भी खण्डन करता है। काल कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। सांख्य दर्शन में व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष तीन ही प्रकार के पदार्थ माने हैं। इन्हीं में काल का भी अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार सिवाय प्रकृति के और कोई भी जगत् का कारण नहीं हो सकता। उस प्रकृति को जब पुरुष विवेक ज्ञान द्वारा देख लेता है तो फिर वह प्रकृति उस पुरुष से दूर हो जाती है जैसे कोई स्वैरिणी हो और पुरुष उसे देख ले, इसी तरह।

तब पुरुष को यह बात मालूम हो जाती है कि अरे! यह तो असाध्वी है। व्यर्थ ही मुझे मोह में डाली हुई थी। इससे मेरा क्या मतलब। इसी तरह विवेक ज्ञान होने पर पुरुष भी प्रकृति के सङ्ग से छूट जाता है। और प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर मोक्ष को प्राप्त करता है। इस प्रकार ईश्वरादि कारण नहीं हो सकते। इसीलिए प्रकृति के लिए "सुकुमारतर" इस शब्द का प्रयोग किया। अतएव कारिका में भी कहा कि 'प्रकृतेः सुकुमारतरमित्यादि," तो फिर विवेक ज्ञान से देखी गई वह प्रकृति कैसे निवृत्त होती है? उत्तर--"यादृष्टास्मीति" इत्यादि से।

जैसे कोई कुलवधू साध्वी अपने घर के दरवाजे पर खड़ी थी। एकाएक आते हुए पुरुष ने उसे देख लिया, वह लज्जित होती हुई अन्दर प्रवेश कर लेती है। यह मानकर कि इसने मुझे देख लिया है, वह फिर पुरुष के दृष्टिपथ में नहीं आती। इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के द्वारा जब ज्ञान-दृष्टि से देख ली जाती है, फिर वह लज्जाशील कुलवधू की तरह पुरुष के

दृष्टिपथ में नहीं आती, उसके निवृत्त होने पर पुरुष मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

प्रबोधिनी

जैसे नर्तकी परिषद् को नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ को सिद्ध कर निवृत्ति हो जाती है। यद्यपि नर्तकी दर्शकों के कौतूहलवश पुनः नृत्य में प्रवृत्त हो सकती है, परन्तु प्रकृति तो कुलवधू की तरह अत्यन्त लज्जाशील होने से एक बार पुरुष के देख लेने पर फिर उसके दृष्टिपथ में नहीं आती। लज्जाशील कुलवधू के दृष्टान्त से यहाँ प्रकृति की सुकुमारता तथा जिस पुरुष ने विवेक ज्ञान द्वारा उसे देख लिया, उसके प्रति निवृत्ति का भी प्रतिपादन किया है।

अभिप्राय यह है कि अविवेक-दशा में तो पुरुष और प्रकृति का अभेदाध्यास होने से उनमें परस्पर परत्व पृथक्त्व व्यवहार नहीं होता, परन्तु विवेकख्याति के बाद जैसे पुरुष प्रकृति को पृथक्त्वेन, जानता है उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को परत्वेन समझकर-छोड़ देती है। अतः विवेकी पुरुष के प्रति फिर प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी बात को वृत्ति में विस्तार से समझाया है।

माठर ने इस कारिका की व्याख्या काफी तोड़-मरोड़ कर की, साथ ही साथ मतान्तरों का भी ऊहापोह किया है।

"**प्रकृतेः सुकुमारतरम्**" इस अंश की व्याख्या में माठर को कई तरह के दृष्टान्त ढूंढ़ने पड़े, जैसे पहले वे साधारण स्नुषा से इसकी तुलना करते हैं। फिर स्वैरिणी से, बाद में कुलवधू से, आपाततः वे देखने में पुनरुक्ति सी मालूम पड़ती है, परन्तु विचार करने पर ये दृष्टान्त बुद्धिवैशद्य के लिए ही है। "मे मतिर्भवति" में "मे" पद का अर्थ इन्होंने ग्रन्थकार-परक न लगाकर पुरुष-परक ही लगाया है, जब कि अन्य टीकाकारों ने इसका अर्थ कारिकाकार ईश्वरकृष्ण-परक लगाया है। स्वभाववादियों की ओर से वृत्ति में जो श्लोक उपस्थित किया गया है, वह भी कुछ असङ्गत मालूम पड़ता है। उपलब्ध माठर वृत्ति में जो इस प्रकार है——

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स नो वृत्तिं विधास्यति॥

पद्य का यह यथास्थित पाठ स्वभाववाद तथा अनीश्वरवाद की पुष्टि करने में उतना सक्षम नहीं प्रतीत होता, जितना कि यह परिवर्तित पाठ —

केन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम् ॥

अन्यत्र सर्वदर्शनसंग्रह में भी यही पाठ उपलब्ध है । अतः हमने भी इसी पाठ को उचित समझकर पाठ-परिवर्तन कर दिया ॥ 61 ॥

अत्राह—लोके शिष्टा वदन्ति पुरुषो बद्धः, पुरुषो मुक्तः, पुरुषः संसरति । अत्रोच्यते —

तस्मान्न बध्यते नापि[3] मुच्यत नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

प्रश्न — लोगों का कहना है कि पुरुष बद्ध है, मुक्त है और पुरुष का संसरण होता है । उत्तर में कहते हैं कि – पुरुष का बन्धन नहीं होता, और न पुरुष मुक्त ही होता है, न वह संसरण ही करता है । अपितु प्रकृति ही नाना योनियों का आश्रय लेकर बद्ध और मुक्त होती है, एवं संसरण करती है ॥ 62 ॥

सा० वृत्ति -- पुरुषो न बध्यते सर्वगतत्वात् । अविकारित्वात्, निष्क्रियत्वात्, अकर्तृत्वात् । यस्मान्न बध्यते तस्मान्न मुच्यते । मुक्त एव सः । अबद्धः कुतो मुच्यते । कस्यामुक्तेन विशूची भवति । न संसरति सर्वगतत्वात् सर्वगतस्य बन्धमोक्षौ कुतः । अनधिगतप्रापणार्थं संसरणमित्युपदिश्यते । तेन च सुनिपुणं सर्वं प्राप्तम् । पुरुषं न विदन्ति ये त एवं वदन्ति—पुरुषो बद्धः, पुरुषो मुक्तः, पुरुषः संसरति । अत्राह—यदि पुंसो बद्धमोक्षसंसरणानि न स्युः, तर्हि । कस्य भवन्ति । तदुच्यते – संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः । प्रकृतिरात्मानं बध्नाति, मोचयति, संसरति च । यत्तत् सर्गादौ सूक्ष्मं शरीरं तान्मात्रिकं प्रागुक्तं त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं त्रिविधेन बन्धेन बद्धं संसरति । सच बन्धस्त्रिविधः पूर्वमाख्यातः (प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दक्षिणाबन्धश्च) तदेव सूक्ष्मशरीरमुत्पन्ने ज्ञाने त्रिधा बन्धान्मुच्यते । तस्मान्मुच्यते बध्यते संसरति नानाश्रया प्रकृतिः । नानाश्रया देवमनुष्यतिर्यक्शरीरभूतेत्यर्थः । एवं यत् प्रधानं तत् सूक्ष्मं शरीरं तत् प्रधानं प्रकृतिरित्यनर्थान्तरम् । तत्र यः पुंसो बन्धमोक्षसंसरणानि ब्रूते स मूढः ॥ 62 ॥

अनुवाद—पुरुष बद्ध नहीं होता सर्वगत (व्यापक) होने से, विकार-रहित होने से, निष्क्रिय होने से, और कर्त्ता न होने से चूंकि बन्धन नहीं होता, इसलिए मुक्त भी नहीं होता। वह तो नित्यमुक्त है। अबद्ध का मोचन ही कहाँ होता है ? बिना खाए विशूची (हैजा) कहाँ होता है। सर्वगत होने से संसरण भी नहीं होता। सर्वगत(व्यापक) का फिर बन्धमोक्ष ही कैसा ? अप्राप्त की प्राप्ति के लिए संसरण होता है। पुरुष को तो (व्यापक होने से) सब कुछ अच्छी तरह प्राप्त ही है। जो लोग आत्मा को यथार्थतः नहीं जानते वे ही ऐसा कहते हैं कि पुरुष, बद्ध है, पुरुष मुक्त है, और पुरुष का संसरण होता है। शङ्का – यदि पुरुष के बन्ध, मोक्ष और संसरण नहीं होते तो फिर किसके होते हैं ? उत्तर—नानाश्रया प्रकृति का ही संसरण, बन्ध व मोक्ष होता है। प्रकृति ही अपना बन्धन करती है, और मुक्त भी होती है तथा संसरण भी करती है। सृष्टि के आदि में जो सूक्ष्म तान्मात्रिक शरीर है वही त्रयोदश विध इन्द्रियों से संयुक्त होकर त्रिविध बन्ध से बद्ध होकर संसरण करता है। वह बन्ध तीन प्रकार का है। जो पहिले कह दिया है। (प्रकृतिबन्ध, वैकारिकबन्ध और दक्षिणाबन्ध। वही सूक्ष्म शरीर ज्ञान के उत्पन्न होने पर त्रिविधबन्ध से मुक्त हो जाता है। इसीलिए नानाश्रया प्रकृति ही बद्ध होती है, मुक्त होती है, और संसरण करती है नानाश्रया का अभिप्राय है कि देव मनुष्य-तिर्यक् शरीर को धारण करने वाली। इस प्रकार जो प्रधान है वही सूक्ष्म शरीर, वही प्रधान प्रकृति इत्यादि शब्दों से कहा जाता है। ऐसी दशा में जो पुरुष का बन्धन, मोक्ष और संसरण बतलाता है वह मूर्ख है ॥62॥

प्रबोधिनी

पहिले कहा था कि पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। परन्तु सांख्य दर्शन तो पुरुष को नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला कूटस्थ-उदासीन मानता है। जब पुरुष का बन्धन ही नहीं है तो फिर मोचन कैसा ? इसी बात को कारिका तथा वृत्ति में समझाया है कि नानाश्रया प्रकृति का ही संसरण, बन्धन व मोक्ष होता है, न कि पुरुष का। वस्तुतः ये धर्म प्रकृति के ही हैं। वही महदादिकों के द्वारा अनेक रूप धारण कर अपने को बांधती है, छुड़ाती है और संसरण करती है। किन्तु प्रकृतिगत बन्ध मोक्ष का पुरुष में आरोप कर पुरुष का बन्ध मोक्ष व्यवहार होता है। जैसे सेनागत जय पराजय का राजा में आरोप होता है क्यों कि जय पराजय का मुख्य फल राजा को ही मिलता है। इसी प्रकार अविवेक दशा में

प्रकृतिगत बन्ध मोक्ष का पुरुष में आरोप करके पुरुष का बन्ध व मोक्ष कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि दृक्शक्ति (पुरुष) और दर्शन शक्ति (प्रधान) के चिच्छायापत्ति अर्थात् संयोग ही दुःख या बन्धन का कारण है। इस प्रकार बन्ध मोक्ष तो बुद्धिसत्त्व में वर्तमान हैं, परन्तु उस दशा में पुरुष के सान्निध्य में बुद्धि भी चैतन्यापन्न हो जाती है। अतः तादृश बुद्धि में विद्यमान सुख-दुःख-मोक्षादि का उपचार पुरुष में भी हो जाता है। इसी बात को वाचस्पति मिश्र ने भामती में भी कहा है—

'अत्र च न साक्षात् पुरुषस्यापरिणामिनो बन्धमोक्षौ, किंतु बुद्धिसत्त्वस्यैव चिच्छायापत्त्या लब्धचैतन्यस्य, तथाहि इष्टानिष्टंगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नमस्य भोगः। भोक्तृस्वरूपावधारणमपवर्गः। तेन हि बुद्धिसत्त्वमेवापवृज्यते। यथा हि जयपराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः प्राधान्यात् स्वामिन्यपदिश्यते, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धिसत्त्वे वर्तमानौ कथंचित् पुरुषेऽपदिश्येते। स ह्यविभागापत्त्या तत्फलस्य भोक्तेति (भामती) ॥६२॥

अत्राह—सा प्रकृतिः कैर्गुणैरात्मानं बन्धयति, कैर्वा मोचयतीति ? अत्रोच्यते—

रूपैः सप्तभिरेव तु[1] बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं[2] प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

प्रसंग—तब वह प्रकृति किन गुणों से अपने को बाँधती है ? और किन गुणों से अपने को मुक्त करती है ? उत्तर—प्रकृति अपने को सात (धर्माधर्मादि) भावों के द्वारा बाँधती है, और वही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए एक-रूप ज्ञानरूपभाव) से स्वयं को मुक्त करती है ॥६३॥

मा० वृत्ति—सप्तभी रूपैरियमेवं प्रकृतिर्धर्मादिभिर्विना ज्ञानम्, आत्मनाऽऽत्मानं बध्नाति। सैव च प्रकृतिः गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपं प्रति एकरूपेण ज्ञानेनात्मानं विमोचयति ॥६३॥

अनुवाद—इस प्रकार यह प्रकृति ज्ञान के बिना सात प्रकार के धर्माधर्म-वैराग्य-ऐश्वर्यादि के द्वारा अपने से स्वयं को बाँधती है। और वही प्रकृति, प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्काररूप पुरुषार्थ के प्रति एक प्रकार के ज्ञानरूप भाव से अपने को मुक्त कराती है ॥६३॥

—**प्रबोधिनी**—

प्रकृति धर्माधर्मादि सात भावों से अपने को बाँधती है, और एक ज्ञान-रूपभाव से अपने को मुक्त कराती है। अर्थात्—जब तब पुरुष को विवेक-ज्ञान नहीं होता, और वह बुद्धि प्रतिबिम्बित होकर अपने को उससे अभिन्न समझता है, तभी तक प्रकृति पुरुष के लिए धर्माधर्मादि के भोग सम्पादन करती है, इसीलिए कारिका में "**आत्मानमात्मना**" इत्यादि कहा। अर्थात्—पुरुष का बन्धन बुद्धि द्वारक ही है। इसीलिए सांख्यचन्द्रिकाकार ने आत्मना का अर्थ "**बुद्धिरूपेण**" ऐसा किया है। 'आत्मानमात्मना" इन पदों का सम्बन्ध क्रमशः 'बध्नाति' और 'विमोचयति' इन दोनों क्रियाओं से है। यद्यपि एक ही वस्तु का युगपत् एक क्रिया निरूपित कर्तृत्व और कर्मत्वादि असम्भव है, परस्पर बाध होने से। तथापि अहंङ्कारादि उपाधि-भेद से "आत्मन्" शब्द का भिन्नार्थ करके दोष दूर हो जाता है। जैसा कि भर्तृहरि ने भी कहा है—

"एकस्य बुद्ध्यवस्थाभिर्भेदेन परिकल्पने।
कर्मत्वं करणत्वं च कर्तृत्वं चोपजायते ॥६३॥
इत्यादि।

कथं तत् ज्ञानमुत्पद्यते—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि[1] न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

तब वह ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है। इसी ज्ञान के स्वरूप को प्रस्तुत कारिका में दिखलाते हैं—

इस तरह तत्त्वविषयक ज्ञानाभ्यास से, संशय-रहित, प्रमात्मक, मिथ्याज्ञान से अभिश्रित, जिसमें कुछ भी ज्ञातव्य शेष न रह जाय, ('मैं क्रियावान् नहीं हूं।" "मेरा न भोक्तृत्व ही है," और "न मैं कर्त्ता हूं") ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ६४ ॥

मा० वृत्ति—एवमिति, यथा एतानि पञ्चविंशति तत्त्वानि पुरुषाद्यानि भूतपर्यन्तानि तेषामभ्यासस्तत्त्वाभ्यासः। अभ्यासेनैव तत्त्वदर्शनम्। तस्मादभ्यासात् पुरुषस्य बुद्धिरुत्पद्यते। नास्मि तत्त्वानि, न मे तत्त्वानि, नाहं तत्त्वानां, किन्तु प्राधानिकान्येतानि। तस्मात् ज्ञानमुत्पद्यते एवमादि। अपरिशेषं निरवशेषमित्यर्थः (१) (न मे शरीरं यतोऽहमन्यः शरीरमन्यत् नाहम् इत्यपरिशेषम् अहङ्काररहितम्।) किञ्चान्यत् (ज्ञाने यस्मादाह)— अविपर्ययात्। विपर्ययः संशयस्तद्विपरीतोऽविपर्ययस्तस्मा विपर्ययाद संशयाद्यथाभूतार्थदर्शनाद्वि-

शुद्धम् निरवद्यमव्यामिश्रं केवलं (२) (मोक्षकारणं पञ्चविंशति तत्त्वज्ञानम्) ज्ञानमुत्पद्यते प्रादुर्भवति। किं ज्ञानम्, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः ॥६४॥

अनुवाद—वह ज्ञान इस प्रकार उत्पन्न होता है। जैसे ये जो पञ्च-विंशति तत्त्व पुरुष से लेकर भूतपर्यन्त हैं, इनका अभ्यास ही तत्त्वविषयक अभ्यास है। क्योंकि निरन्तर अभ्यास से ही तत्त्वज्ञान होता है। इस प्रकार के अभ्यास से पुरुष को यह ज्ञान होता है कि न तो मैं ये तत्त्व ही हूं। और न मेरे ही ये तत्त्व हैं, न मैं तत्त्वों का हूं। किन्तु ये सब तत्त्व तो प्रकृति के हैं। इस तरह यह सम्पूर्ण ज्ञान इस प्रकार का होता है। (मैं—आत्मा—शरीर नहीं हूं। क्योंकि शरीर मुझसे भिन्न है।) इस तरह अहङ्कार रहित विपर्यय-संशय उससे रहित असंशयात्मक यथार्थ के दर्शन से विशुद्ध, मिथ्याज्ञान से असम्पृक्त केवल मोक्षकारक पञ्चविंशति-तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है जो कि प्रकृतिपुरुष-विवेकसाक्षात्कारात्मक होता है ॥ ६४ ॥

—प्रबोधिनी

तत्त्वों के निरन्तर अभ्यास से संशयभ्रमादि दोष शून्य विशुद्ध प्रकृति पुरुष विवेकात्मक कैवल्य ज्ञान हो जाता है। जिससे कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों का आरोप पुरुष में नहीं होता। कारिका में तत्त्वाभ्यास शब्द ज्ञान का उपलक्षक है। अतः इसका अर्थ होगा तत्त्वविषयक ज्ञानाभ्यासनकि विषयमात्र। अभ्यास का अर्थ है—विजातीय प्रत्यनन्तरित सजातीयप्रत्ययप्रवाह अथवा निदि-ध्यासन। यदि यहाँ तत्त्व शब्द से केवल विषय लिया जाय तो फिर विषय के सिद्ध होने से पौनःपुन्यलक्षण अभ्यास के साध्य होने से परस्पर सङ्गति नहीं बनेगी। फलतः विषयवाचक तत्त्व पद की विषयीभूत ज्ञान में लक्षणा की जायेगी। इस प्रकार तत्व ज्ञान का अभ्यास तब तक निरन्तर चलता रहे, जब तक कि विवेक ज्ञान न हो जाय, तभी विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति की भी सम्भावना है। जैसा कि कारिका में भी कहा है। तब उस ज्ञान का आकार ऐसा होगा—"नास्मि न मे नाहमिति"। नास्मि इस अंश से अपने में क्रियामात्र का निषेध किया। अर्थात्—मैं क्रियावान् नहीं हूं। साथ ही साथ अध्यवसायाभिमान-संकल्प-आलोचनादि सभी व्यापारों का अपने में निषेध किया। नाहम् इस अंश से व्यापाराभाव व कर्तृत्वाभाव दिखलाया। न मे इस अंश से स्वत्वा-भाव व दिखलाया। जब कर्तृत्वाभाव है तब स्वामिता ही कहाँ रहेगी ? इस

प्रकार पुरुष के स्वरूप-स्थिति हो जाने से फिर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता, जिसके लिए कि संसरण करना पड़े ।। ६४ ।।

अत्राह—तेन ज्ञानेन पुरुषः किं करोति । अत्रोच्यते—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः[1] ।।६५।।

तब उस तत्त्वज्ञान से पुरुष क्या करता है ? उत्तर—

उस तत्त्वज्ञान के द्वारा स्वरूपस्थित पुरुष, भोग व विवेक-साक्षात्कार के सम्पादन कर लेने से, धर्माधर्मादि सप्त भावों से विनिवृत्त हुई प्रकृति को एक तटस्थ प्रेक्षक की भांति देखता है ।। ६५ ।।

मा० वृत्ति—यथा कश्चित् प्रेक्षको रङ्गस्थितो गीतवादित्र नृत्यादिभिर्वर्तमानां नर्तकीं स्वस्थो निर्विकल्पः पश्यति । एवं पुरुष आत्मकृतेन ज्ञानेन तासु-तासु अवस्थासु वर्तमानां प्रकृतिं पश्यति । इयं सा प्रकृतिर्या सर्वपुराणमात्मानं बध्नाति । प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यः स्वस्थः । स्वस्मिन् भावे स्थितः । किं भूतां प्रकृतिम्, निवृत्तप्रसवाम् । निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम्, अर्थवशात् सप्त-रूपविनिवृत्ताम् । निर्वर्त्तितोभय पुरुष प्रयोजनवशात् यैः सप्तभिः रूपैर्धर्मा-दिभिरात्मानं बध्नाति तेभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्ताम । यावज्ज्ञानचक्षुषा दृष्टा प्रकृतिः पुरुषेण तया च पुमान् दृष्टः ।। ६५ ।।

अनुवाद—जैसे कोई दर्शक रङ्गमञ्च में स्थित हुआ, गीत वाद्य नृत्य युक्त नर्तकी को देखता है, इसी प्रकार पुरुष अपने द्वारा सम्पादित तत्त्वज्ञान से तत्तत् अवस्था विशेष में वर्तमान प्रकृति को देखता है कि यह वही प्रकृति है, जो सर्वपुराण परमात्मा को बाँधती है । प्रेक्षकवत् का अर्थ है दर्शक के तुल्य, तटस्थ या स्वरूपस्थित होकर । कैसी प्रकृति को देखता है ? उत्तर में कहते हैं कि जो बुद्धि अहंकारादिक कार्यों को सम्पादन कर चुकी है, और भोग व विवेक उभयविध प्रयोजन के सम्पन्न हो जाने से, जिन धर्मादि सात भावों से अपने को बाँधती थी, उनसे निवृत्त हुई प्रकृति को देखता है । इस प्रकार विवेकज्ञान से पुरुष प्रकृति को देखता है, और प्रकृति पुरुष को ।। ६५ ।।

प्रबोधिनी

अज्ञान ही बन्ध का कारण है, जब पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान के द्वारा पुरुष को यह अनुभव हो जाता है कि यह प्रकृति ही कर्त्री भोक्त्री तथा परिणामिनी है—और अकर्त्ता, अपरेणामी मैं (पुरुष) इससे सर्वथा भिन्न हूं, तब पुरुष प्रकृति से उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी पुरुष की ओर से उपरत हो जाती है क्यों कि तब प्रकृति भी अपना कार्य भोगापगर्व लक्षण, जो कि उसका आवश्यकीय था, उसे सम्पादन कर चुकती है। अतएव धर्मादि सप्त भावों से भी निवृत्त हो जाती है। इस हालत में पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही पुरुष का स्वरूपावस्थान है। जैसा कि योगसूत्र में भी कहा है—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (१।३)। उन सभी वृत्तियों के विराम दशा में विषयाभाव होने के कारण पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है (जैसे कि कैवल्य दशा में)। वही पुरुष का स्वस्थ होना है। जैसा कि सांख्यसूत्र में भी लिखा है—**"तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः"** (२।३४)। परन्तु इस अवस्था में भी सात्त्विक बुद्धि का पुरुष के साथ कुछ न कुछ सम्पर्क अवश्य रहता है। अथवा बुद्धि वृत्ति पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है अन्यथा पुरुष का निवृत्तप्रसवा प्रकृति का दर्शन भी दुर्घट है। किन्तु अविवेक-दशा में यह बुद्धि रजोगुण और तमोगुण के कारण कलुषित रहती है, और इस अवस्था में सात्त्विक—यही अन्तर है। जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में भी कहा है —

सात्त्विक्या तु बुद्ध्या तदाप्यस्य मनाक संभेदोऽस्त्येव।
अन्यथेत्थंभूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति ॥ ६५ ॥

अत्राह—ज्ञानचक्षुषा दृष्ट्वा प्रकृतिं पुरुषः किं करोति। अत्रोच्यते —

रङ्गस्थ[1] इत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्येका[2]।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

सङ्गति—तत्त्वज्ञान से प्रकृति को देखकर पुरुष क्या करता है? उत्तर—एक (पुरुष) मैंने प्रकृति को देखलिया है, यह समझ कर उदासीन हो जाता है। और दूसरी (प्रकृति) तत्त्वज्ञान पूर्वक पुरुष ने मुझे देख लिया है, यह समझकर उपरत हो जाती है। इस तरह दोनों के संयोग होने पर भी सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है॥ ६६ ॥

मा० वृत्ति—यथेमां रङ्गगतां नर्तकीं सर्वास्ववस्थासु वर्तमानां दृष्टवा विरमति रङ्गात् प्रेक्षकः दृष्टा मयेत्युपेक्षक एकः केवलः शुद्धपुरुषः। तथा

प्रकृतिरपि अनेन अहं दृष्टेति निवृत्ता। एका त्रैलोक्यस्यापि प्रधान कारण-भूता न द्वितीया प्रकृतिरास्ति। नर्तक्यपि अहमनेन दृष्टा इत्युपरमते नृत्यात एवं पुरुषोऽपि दृष्टा मया इयं ज्ञानचक्षुषा प्रकृतिः, इति प्रेक्षकवत् उपरमते मोक्षं गच्छतीत्यर्थः। तथा प्रकृतिरपि दृष्टाऽहम्नेति स्वव्यापारात् उपर-मत्येव। अत्राह– पुंप्रकृत्योः सर्वगतत्वात् सर्वनिषेधो न शक्यते वक्तुम् तदस्य संसार सर्गस्य विनिवृत्ति रेव। तत् कथमिदं साधनं समीचीनमिति। अत्रोच्यते—सति संयोगऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्येति। यद्यपि प्रधान-पुरुषयोः सर्वगतयो संयोगी भवत्येव। तस्मिश्च सति सर्गसम्भवस्तथाऽपि नासौ सर्गः स्यात् प्रयोजनाभावात्। यस्मात् प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिः सच पुरुषार्थो द्विविधः। शब्दाद्युपलब्धिरादिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरन्तश्च। ब्रह्मादि-स्थावरान्तेषु पुरुषः शब्दादिभिर्विषयैर्योजयितव्य। अन्ते च गुणपुरुषान्तरोपलम् लब्ध्या मोक्षयितव्यः। एवं पुरुषदर्शनार्थं सम्प्रयोग कृत.। एवं प्रकृतिपुरुष-योस्तयोः शररोत्पत्तिर्नास्ति पुनः ऋणिकधारिणकवत्। (ऋणिकधनिकवत्)। यथेह लोके ऋणिकधारिणकौ उत्तमाधमर्णौ देवदत्तयज्ञदत्तौ, योऽस्मिन्। ऋणं धारयति स उत्तमर्णस्तेनाधमर्णं उक्तः ऋणं मे देहीति। ततस्तेन तद्दत्तम्। ततस्तौ कृतप्रयोजनौ परस्परमर्थेन सन्त्यक्तावथ तयोर्भूयः संयोगो भवति। तथाऽपि नार्थकृत्यं प्रयोजनाभावात्। यथा वा वृद्धसंयोगादपत्यं न भवति प्रयोजनाभावात्। तथा प्रधानपुरुषयोः कृतप्रयोजनयोः प्रयोजनं नास्तीति सिद्धम् ॥६६॥

अनुवाद—जैसे रंगमंच में स्थिति सभी अवस्थाओं में वर्तमान नर्तकी को देखकर, दर्शक पुरुष, मैंने इसे देख लिया है, यह समझकर रंगमंच से विरत हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति भी, इस पुरुष ने मुझे देख लिया है, यह समझकर निवृत्त हो जाती है, एका कहने का तात्पर्य है। तीनों लोकों की प्रधान कारणभूता अद्वितीया प्रकृति। नर्तकी भी, मुझे पुरुष ने देख लिया है, यह समझकर जैसे नृत्य से विरत हो जाती है, वैसे ही पुरुष भी विवेक-दृष्टि से, मैंने इस प्रकृति को देख लिया है, समझकर प्रेक्षक की तरह वह भी उपरत हो जाता है। अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। वैसे ही प्रकृति भी अपने व्यापार से विरत हो जाती है।

प्रश्न - जब प्रकृति और पुरुष दोनों सर्वगत (व्यापक) हैं, तो फिर सर्वत्र उनके संयोग का निषेध कैसे हो सकता है? परन्तु संसार सर्ग की विनिवृत्ति भी बतलायी है। यह बात ठीक नहीं ।

उत्तर—"सति संयोगे" इत्यादि से यद्यपि व्यापक सर्वगत प्रकृति और पुरुष का संयोग बना ही रहता है। और संयोग के बने रहने से तत्प्रयुक्त सृष्टि भी सम्भव है। तथापि परस्पर कोई प्रयोजन न होने से सृष्टि भी नहीं हो सकती। क्योंकि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए हुआ करती है। और वह पुरुषार्थ दो तरह का है। प्रथम तो शब्दादि उपलब्धि लक्षण-भोग, और दूसरा प्रकृति पुरुष विवेक साक्षात्कारात्मक। प्रथम पुरुषार्थ में तो ब्रह्मादि से लेकर स्थावर— पर्यन्त जितने शब्दादि विषय हैं, उनसे पुरुष का सम्पर्क कराना है। और अन्त में दूसरे पुरुषार्थ द्वारा प्रकृति पुरुष का परस्पर भेदज्ञान कराकर पुरुष को मुक्त करना हैं। आत्मसाक्षात्कार के लिए ही यह संयोग भी होता है। परन्तु साक्षात्कार फिर सृष्टि का प्रयोजन नहीं रहता है। ऋणिक और धनिक की तरह जैसे – संसार में देवदत्त और यज्ञदत्त, ऋणिक और धनिक हैं। धनिक उत्तमर्ण है और ऋणिक अधमर्ण। जो धन देता हैं वह उत्तमर्ण है, और जो धन लेता है वह अधमर्ण है। उत्तमर्ण ने अधमर्ण से कहा कि मेरा ऋण दे दो। तब उसने दे दिया। इस तरह वे दोनों कृतकार्य होकर परस्पर लेनदेन से छूट गये। अब उनके सम्मिलन होने पर भी कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि हिसाब हो चुका है। जैसे वृद्ध के संयोग से सन्ताषनोत्पत्ति नहीं होती। सन्तानजननयोग्यतारूप प्रयोजन के न होने से इसी प्रकार कृतप्रयोजन प्रधान तथा पुरुष का भी अवशिष्ट कोई प्रयोजन नहीं, यह बात सिद्ध हुई॥ ६६॥

—प्रबोधिनी—

पूर्वोक्त रीति से तत्त्व ज्ञान हो जाने पर, प्रकृति पुरुष के व्यापक होने के कारण संयोग होने पर भी सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि प्रकृति पुरुष अपने अपने प्रयोजन को चरितार्थ कर चुके हैं, सृष्टि का अब न तो कारण ही रहा और न प्रयोजन ही। सृष्टि में एकमात्र सहकारी कारण था पुरुष— प्रकृति का अभेद-ज्ञान। जब यह तत्वज्ञान द्वारा निरस्त हो गया, तब सहकारी कारण के अभाव में सृष्टि का होना भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रयोजक पुरुषार्थ के अभाव में प्रयोज्य सृष्टि का भी अभाव सुतरां सिद्ध हैं। इसीलिए निवृत्तप्रसवा प्रकृति को पुरुष उदासीन भाव से देखता हैं॥ ६६॥

किं चान्यत् यदि पुरुषस्य उत्पन्ने ज्ञाने मोक्षस्तर्हि मम कस्मान्न भवति ? अत्र उच्यते—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीरः[1] ॥ ६७ ॥

प्रश्न – यदि तत्त्वज्ञान हो जाने पर मोक्ष हो जाता है तो, जिसे पञ्च-विंशति तत्त्व ज्ञान हो चुका है, वह मुक्त क्यों नहीं होता ?

उत्तर – सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से, जब धर्मादि संस्कारों की फलोत्पादकता रूप कारणता नष्ट हो जाती है, तो प्रारब्ध संस्कार के सामर्थ्य से पुरुष शरीर को धारण किए रहता है। जैसे दण्ड से चलाया गया कुम्हार का चाक दण्ड-चालन के पश्चात् भी पूर्वोत्पन्न वेग से घूमता रहता है, इसी तरह संस्कारवश यह शरीर भी चलता रहता है ।।६७।।

मा० वृत्ति यदा पुरुषण पञ्चविंशति तत्त्वज्ञानमधिगतं भवति तदा धर्मादीन्यकारणानि प्राप्तानि पुनर्जन्मसमर्थानि न भवन्ति । को दृष्टान्तः, यथेह लोके बीजान्यग्निदग्धानि न प्ररोहसमर्थानि भवन्ति । धर्मो येषाम् आदिस्तानि धर्मादीनि तेषाम्, अकारणानां प्राप्तिकारणप्राप्तिः । तथा सत्यां पुनर्जन्म न भवति । अत्राह—यदि सम्यक् ज्ञानात मोक्षो भवति तत्राचार्यस्योपदेष्टुः सम्यक् ज्ञानमुत्पन्नं किमर्थं मोक्षं न गतोऽस्ति, अथवा त्वत्प्रसादात्तत् ज्ञानं ममापि सञ्जातं किमहं मोक्षं न गच्छामि, अत्रोच्यते—तिष्ठति संस्कार वशात् । संस्कारो नाम धर्माधर्मौ निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिभवति तिर्यकमनुष्यदेवादिषु । तस्य संस्कारेण ग्रहणम् । सच संस्कारः फलमदत्त्वा क्षयं न गच्छति । उत्पन्नज्ञान स्यापि तस्मादिदं शरीरं विनाशं यास्यति । तन्निमित्ताभावादिदं शरीरं पतिष्यति । यथा च विद्वान् मोक्षं यास्यति, तस्मात् हेतोरुत्पन्नज्ञानस्यापि धर्माधर्मवशात् तिष्ठति शरीरम् । को दृष्टान्तः ? अत्रोच्यते—चक्रभ्रमवत् धृतशरीरः । यथा कुलालश्चक्रं भ्रमयति, घटं करिष्यामीति । सक्रं कुलालो घटं कृत्वा यथा स्वस्थो भवति अवतिष्ठते । यस्मिश्चावतिष्ठमाने चक्रं भ्रमत्येव । संस्कारवशात्—कर्मवशादित्यर्थः । एवमेव पूर्वकृतयोर्धर्माधर्मयोर्वलर्बत्वात् दुर्बलत्वात् ज्ञानस्य उत्पन्नेऽपिज्ञानेविद्वांस्तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमवत् धृतशरीरः ।।६७।।

अनुवाद – जब पुरुष पञ्चविंशति तत्त्ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब धर्माधर्मादि संस्कार निष्कारण बन जाते हैं, वे फिर पुनर्जन्म के लिए समर्थ नहीं होते । उदाहरण – जैसे लोक में जले हुए बीज पुन अङ्कुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध धर्माधर्म भी । "धर्मादी

नामित्यादि" का अर्थ करते हैं कि धर्म है आदि में जिनके, ऐसे जो धर्माधर्मादि, वे कारणभाव को प्राप्त नहीं होते। ऐसा होने पर फिर जन्म नहीं होता।

प्रश्न – यदि सम्यक ज्ञान से ही मोक्ष होता है तब तो उपदेष्टा जो आचार्य हैं उन्हें तो सम्यक् ज्ञान है ही, फिर मोक्ष क्यों नहीं होता ? अथवा शङ्कक कहता है कि आचार्य की कृपा या प्रसाद से मुझे भी पञ्चविंशति तत्वों का ज्ञान है ही, क्यों नहीं मैं मुक्त हो जाता ?

उत्तर – "तिष्ठति संस्कारवशात्" इत्यादि से। धर्माधर्मादि को संस्कार कहते हैं, जिससे तिर्यक् मनुष्य व देवादि योनियों में शरीरोत्पत्ति होती है। उस धर्माधर्म रुप संस्कार से ही शरीर का ग्रहण होता है। वह संस्कार बिना फल दिए क्षीण नहीं होता, भले ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो चुका हो। अतः संस्कार के क्षीण होने पर ही यह शरीर भी नष्ट हो जाता हैं। तब निमित्त (संस्कार) के अभाव में शरीर का भी पतन हो जाएगा। जिससे तत्त्वज्ञानी मोक्ष को प्राप्त हो जाएगा इसी लिए समुत्पन्न ज्ञान वाले पुरुष का भी र्मांधधर्म संस्कार वश शरीर विलय नहीं होता। इसमें दृष्टान्त देते हैं—चक्र-भ्रमवत इत्यादि। जैसे घड़े बनाने की इच्छा से कुलाल चक्के को घुमाता है घड़े के बन जाने पर फिर कुलाल स्वस्थ हो विश्राम करता है। परन्तु कुलाल के व्यापार विरत होने पर भी चक्का घूमता रहता है। कर्मवश इसी प्रकार पूर्वजन्म में किए गए धर्माधर्म संस्कारों के प्रबल होने से अपेक्षाकृत ज्ञान के दुर्बल होने से, तत्त्वज्ञानोत्पन्न हो जाने पर भी विद्वान चक्र-भ्रम की तरह शरीर धारण किये रहता है ॥६७॥

—प्रबोधिनी—

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से, धर्माधर्मादि संस्कारों का बीज भाव (उत्पादकभाव) जब नष्ट कर दिया जाता है, तो तब भी प्रारब्ध कर्मवश कुछ समय तक शरीर रहता ही है। जैसे कुम्हार के चक्रभ्रमणव्यापार से विरत हो जाने पर भी वेगवश कुछ समय तक चक्र घूमता ही रहता है, इसी प्रकार संस्कारवश यह शरीर भी रहता है।

तात्पर्य यह है कि इस जन्म में या पूर्वजन्म में किये गये गये समस्त कर्म संस्काररूप से मनुष्य के अन्तःकरण में एकत्रित हो जाते हैं। इन्हें संचित कर्म कहते हैं, इन्हीं के बीच में वर्तमान जन्म में जो कर्म फल देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। और जो वर्तमान समय में किये जा रहे हैं, उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। ऐसी स्थिति में तत्त्वज्ञानरूपी अग्नि के

उत्पन्न हो जाने पर समस्त पूर्वसंचित कर्मों का नाश हो जाता है। परन्तु प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही क्षय होता है। जैसा कि ब्रह्मसूत्र में भी कहा है—**"भोगेनात्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते"** **इति—इतरे प्रारब्धकार्ये पुण्यपापे न ज्ञानमात्रेण किंतु भोगेन क्षपयित्वा=नाशयित्वा कैवल्यभाजनं सम्पद्यते ज्ञानी"** इति शेषः। (ब्रह्मसूत्रार्थः)। इसीलिए कारिका में भी **"संस्कार-वशात् धृतशरीरः"** ऐसा लिखा है। परन्तु देह धारण करने पर भी अविद्यादि के प्रक्षीण हो जाने से, और मन-बुद्धि-शरीरादि से आत्मा के पृथक्त्व ज्ञान के प्रबल होने पर, देहादियों से प्रारब्ध भोग का सम्बन्ध होने पर भी, ज्ञानी के लिए एक तरह से ये नष्टकल्प ही हैं। फिर क्रियमाण कर्मों में कर्तृत्वा-भिमान, ममता, आसक्ति आदि वासनाओं के अभाव में उनके संस्कार आगे बन ही नहीं सकते। वस्तुतः इस दशा में ये कर्म न तो कर्म ही कहे जाते हैं, और न बन्धन के ही हेतु बन सकते हैं। अतः सभी कर्मों का ज्ञान के द्वारा क्षय होना उचित ही है। जैसा कि गीता में भी कहा है—**"ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन"** ॥ ६७ ॥

अत्राह—उत्पन्नज्ञानः फलनिरपेक्षं कर्म निर्बीजं कुर्वन्न देहमारभते। आरब्धफलं यावत् जन्मदायि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतम्" इति क्षपयन् अनारब्धफलेषु "यथैधांसिसमिद्धोऽग्निः" इति परिहारेण भस्मीकरणम्। एवं कर्मणां ध्वंसे उत्पन्ने ज्ञानेऽपि कदा विद्वान् मोक्षं गच्छतीति? अत्रोच्यते—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८॥

प्रश्न—ठीक है, तत्त्वज्ञानी फलनिरपेक्ष निर्बीज कर्म करता हुआ फिर देहा-रम्भ नहीं करता, जो प्रारब्ध कर्म हैं (जिन्होंने फल देना शुरू कर दिया है)। उनका "नाभुक्तं क्षीयते कर्म, "अवश्यमेव भोक्तव्य कृतम्" इत्यादि नियमानुसार भोग द्वारा क्षय करता हुआ और जो अनारब्ध फल वाले कर्म हैं, (अर्थात् जिनका उपभोग भविष्यत्काल में होने वाला है)। उनका "यथैधांसिसमिद्धोऽग्निः।" इत्यादि से नाश हो जाता है। इस प्रकार सभी कर्मों के अभाव में तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर, फिर विद्वान् कब मोक्ष को प्राप्त करता है?

उत्तर—प्रारब्ध के भोग से, कर्मों के द्वारा समुत्पन्न इस देह के नाश हो जाने पर, भोगापवर्ग रूप उभयविध पुरुषार्थ के चरितार्थ हो जाने से,

प्रकृति के वियोग में, पुरुष ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता है ॥ ६८ ॥

मा० वृत्ति : – तदेवं सति शरीरभेदे देहनाशे प्राप्ते आयाते इत्यर्थः। चरितार्थत्वात्। स चार्थो द्विविधिः (शाब्दात्मिकः) पूर्वमुक्तः। तस्यार्थस्य चरितार्थत्वात् कृत्वेत्यर्थः। प्रधानविनिवृत्तौ। यदापूर्वकृतयोर्धर्माधर्मयोः क्षयो भवति तदा शरीरं भिद्यते। तस्मिंश्च शरीरे भिन्ने पूर्वोक्तेन ज्ञानेन शरीरं प्रधानाख्यं कारणमविशेषमयं तान्मात्रिकं सर्गादावुत्पन्नं तन्निवर्तने। इह शरीरे यत् पार्थिवं तत् पृथिवीं प्रविशति। एवमन्यदन्येषु प्रविशति एवं स्थूलं शरीरं पञ्चधाभिद्यते। प्रधानं च कृतप्रयोजनं भूयोऽन्यत् शरीरं द्वितीयं नारभते विदुषः। एवमयं विद्वान् तस्मिन् शरीरे भिन्ने— ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति। ऐकान्तिकमवश्यम्भावित्वादात्यन्तिकमपुनरावृत्तित्वात् सर्वथेत्यर्थः। नत्वौषधादिवत् कादाचित्करोगनिवृत्तिवत्। न च निवृत्ते रोगे पुनः सम्भवेदित्युभयोदापरणमैकान्तिकात्यन्तिकयोः। इत्थमेकान्तात्यन्ततस्तापत्रयस्याभावात् उपरमादनुत्पत्तेः कैवल्यं मोक्ष इत्यर्थः। तमाप्नोति ॥ ६८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार शरीर के नाश हो जाने पर, पुरुषार्थ के चरितार्थ हो जाने से, वह पुरुषार्थ दो प्रकार का है— शब्दादि उपभोग लक्षण और गुणपुरुषान्तरोपलब्धि रूप, जो कि पहले बतलाया जा चुका है। इस उभयविध पुरुषार्थ के चरितार्थ हो जाने से, प्रधान की विनिवृत्ति हो जाने पर, जब पूर्वकृत धर्माधर्म का क्षय हो जाता है, तो फिर शरीर भी नष्ट हो जाता है। उस शरीर के नष्ट हो जाने पर पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान के द्वारा प्रधान निर्मित अविशेषमय अर्थात् तान्मात्रिक सर्गादि में उत्पन्न यह कारण-शरीर भी निवृत्त हो जाता है। इस शरीर में जो पार्थिव अंश है वह पृथ्वी में प्रवेश होता है। अन्य अंश तत्तत् तत्त्वों में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार स्थूल शरीर का भी पाँचों भूतों में विभाजन हो जाने से पाँच प्रकार का विभाग हो जाता है। प्रकृति भी स्वयं कृतकार्य होकर पुनः तत्त्वज्ञानी के शरीर का आरम्भ नहीं करती। इस प्रकार विद्वान् शरीरपातानन्तर ऐकान्तिक और आत्यन्तिक उभयविध कैवल्य को प्राप्त करता है। ऐकान्तिक का अर्थ है अवश्यम्भावी (निश्चित रूप से); आत्यन्तिक का अर्थ है जिसकी पुनः आवृत्ति न हो। अर्थात् सर्वथा; न कि औषधादि की तरह कादाचित्क रोग-निवृत्ति, रोग के निवृत्त हो जाने पर फिर रोग की सम्भावना

न हो जिसमें, वही ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक इन उभयपदों का उदाहरण बन सकता है। इस प्रकार ऐकान्तिक तथा तान्मात्रिक् तापत्रय के अभाव से पुरुष कैवल्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ॥६८॥

प्रबोधिनी

पूर्व कारिका में "**संस्कारवशाद्धृतशरीरः**" कहा था। जब प्रारब्ध कर्मों का भी भोग द्वारा क्षय हो जाता है, और सञ्चित कर्म तो ज्ञानाग्नि से दग्ध हो ही चुके हैं। भविष्यत् भोग के अभाव में अपवर्ग की सिद्धि हो जाने पर, भोगापवर्गलक्षण मात्र फलवाली प्रकृति का भी अब कोई प्रयोजन विशेष अवशिष्ट न रहने से विनिवृत्ति हो जाती है। तब पुरुष त्रिविधदुःखात्यन्त-निवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है ॥६८॥'

अत्राह—किं प्रयोजनमिदं ज्ञानमुच्यते ? अत्रोच्यते—

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

प्रश्न—इस ज्ञान को किस लिए कहा ?

उत्तर—इस रहस्यमय ज्ञान को महर्षि कपिल ने पुरुष परमप्रयोजन मोक्ष के लिए कहा, जिसमें प्राणियों के स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का भी विचार किया गया है ॥६९॥

मा० वृत्ति—यश्चासौ पुरुषार्थो मोक्षस्तदर्थं पुरुषविमोक्षार्थं ज्ञानमिद-मिति। यदेतत् पूर्ववर्णितं ज्ञानं एतत् गुह्यं दुर्विज्ञेयमित्यर्थः। परमर्षिणा कपिलेन समाख्यातं कथितमित्यर्थः ।

अत्राह– अस्मिन् ज्ञाने के अर्थाश्चिन्त्यन्ते ? अत्रोच्यते—स्थित्युत्पत्ति-प्रलयाः, तत्र देवादीनामष्टौ स्थानानि भवन्ति। मानुष्यञ्चैकविधं, भूलोके पञ्चविधं तैर्यक्योनम्। एषु स्थानेषु ब्रह्मादीनि तिर्यक्योनिपर्यन्तानि तिष्ठन्ति। एषा स्थितिः उत्पत्ति प्रादुर्भावं (वक्ष्यामः) प्रधानान्मदहङ्कार-तन्मात्रेन्द्रिय महाभूतानीत्युत्पत्तिः। एवं भूतोत्पत्तिर्भावोत्पत्तिश्च व्याख्याता। लयं वक्ष्यामः—भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तानीन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि लीयन्ते चाहङ्कारे, स बुद्धौ, सा प्रधाने लयं गच्छति। प्रधानं तु क्वचिन्नलीयतेऽविकृत-त्वात्। एवं प्रलयः ॥६९॥

अनुवाद– पुरुष का प्रयोजन जो मोक्ष है, उसी के लिए यह ज्ञान है, अर्थात् पुरुष के मोक्ष के लिए। यही पूर्ववर्णित ज्ञान अति दुर्विज्ञेय है। इसे महर्षि कपिल ने कहा।

प्रश्न—इसमें किन-किन बातों का विचार किया गया है ?

उत्तर—इसमें स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय का विचार किया गया है। देवादियों के आठ स्थान होते हैं। मनुष्यों का एक प्रकार का ही। भूलोक में पाँच प्रकार की तिर्यक्योनियाँ होती हैं। ब्रह्मादि से लेकर तिर्यक्योनि-पर्यन्त सभी प्राणी इन्हीं स्थानों में निवास करते हैं। यह प्राणियों की स्थिति है। उत्पत्ति का अर्थ प्रादुर्भाव है, अब उसे कहेंगे। प्रधान से महत्, उससे अहङ्कार, उससे तन्मात्राएं और इन्द्रियाँ, तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। इस प्रकार भूतोत्पत्ति तथा भावोत्पत्ति हुई। (जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है)। अब प्रलय को कहते हैं—भूत तन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं। और तन्मात्राएँ इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ अहङ्कार में, और अहङ्कार बुद्धि में, बुद्धि प्रधान में लीन हो जाती है। किसी का विकार न होने से प्रधान का कहीं भी लय नहीं होता। इस प्रकार प्रलय होता है ॥६९॥

—प्रबोधिनी—

प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम, प्रमाण के द्वारा प्रकृति पुरुषादियों की सिद्धि दिखलाकर सांख्य दर्शन के प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-पुरुष विवेक ज्ञान की मोक्ष साधनता सिद्ध कर, मुमुक्षुओं की अत्यन्त श्रद्धा व निष्ठा के लिए प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने महर्षि कपिल की ओर संकेत किया। और बताया कि यह सांख्यशास्त्रीय ज्ञान पुरुष के भोगापवर्ग लक्षण पुरुषार्थ के लिए है। और महर्षि कपिल द्वारा प्रवर्तित होने से इसमें किसी प्रकार के अप्रामाण्य की आशंका नहीं। ईश्वरकृष्ण महर्षि नहीं थे, किन्तु एक मेधावी प्रौढ़प्रतिभा सम्पन्न महामहिम विद्वान् थे। उनकी ये सूक्तियाँ तर्क प्रमाणक आगमादिकों से परिपुष्ट होने पर भी "कदाचित् तर्काप्रतिष्ठानात्" इत्यादि न्याय से केवल ऋषिवाक्य में श्रद्धालुओं की अरुचि न हो, एतदर्थ प्रस्तुत शास्त्र का ऋषिप्रवर्तकत्व बतलाना भी परमावश्यक था ॥६९॥

अत्राह—यदेतत् भगवता व्याख्यातं पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं, तस्य कुत आगम इति ? अत्रोच्यते—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

प्रश्न—जो यह पञ्चविंशति तत्त्व ज्ञान का भगवान् ईश्वरकृष्ण ने व्याख्यान किया, इसको प्राप्ति उन्हें कहाँ से हुई ?

उत्तर--इस पवित्र और श्रेष्ठ सांख्यशास्त्र का उपदेश महर्षि कपिल ने अनुग्रहपूर्वक आसुरि नामक अपने शिष्य को दिया। और आसुरि ने भी अपने शिष्य पञ्चाशिख को इसका उपदेश किया। और पञ्चशिख ने शिष्योपशिष्य में उपदेश द्वारा इसका बिस्तार किया ॥७०॥

मा० वृत्ति—एतत् विज्ञानमधिकुरुते, एतत् पवित्रं। कथं पवित्रम्? यस्मान्नरकप्रेततिर्यक्योनिषु पतनात् त्रायते तस्मात्पवित्रम्। अग्र्यं श्रैष्ठ्यात्। वेदपुराणभारतमन्वादिभ्योऽपि धर्मशास्त्रेभ्य एतत् पञ्चविंशति तत्त्वज्ञानमुत्तमम्। कस्मात्? ऐकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च। अतो दुःखाभावश्च। मुनिर्भगवान् कपिलः आसुरिसगोत्राय ब्राह्मणाय वर्षसहस्रयाजिनेऽधिकारितामवगम्य (अस्मै) प्रददौ। तदनुकम्पया तद्विमोक्षार्थम्। अन्धे तमसि अज्ञानेऽयं तपस्वी वर्तते इत्युत्पन्नयाऽनुकम्पया, मुनिर्मननात्। भगवान् भूतानां गतिमार्गति च विदन्ननति चलति इति भगवान् कपिलः। प्रत्युपकारानपेक्षसर्वोपकारी सुहृत् इत्यर्थमवलम्ब उवाच। तदेव ज्ञानं भूय आसुरिसगोत्रोऽनुकम्पया पञ्चशिखाय प्रोवाच। पञ्चशिखेन तेन बहुधाकृतं तन्त्रम्। बहूनां शिष्याणां प्रदत्तम् ॥७०॥

अनुवाद—एतत् शब्द सांख्यशास्त्रीय ज्ञान को अधिकृत करता है। यह ज्ञान पवित्र है। क्योंकि नरक, प्रेत, तिर्यक् योनियों में पतन से बचाता है, इसलिए पवित्र है। और श्रेष्ठ होने से मुख्य भी है। वेद, पुराण, महाभारत, मन्वादि धर्मशास्त्रों से भी यह पञ्चविंशतितत्त्वज्ञान उत्तम है। ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक होने से, अतः दुःखाभाव भी है। मुनि—भगवान् कपिल, आसुरिगोत्र वाले हजार वर्ष तक यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को अधिकारी समझ कर उपदेश दिये। भगवान् कपिल को उसपर दया आई, इसलिए उसके मोक्ष के लिए उपदेश किये, कि यह बेचारा अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ है। इस तरह भगवान् को दया आई। मनन्शील होने से उन्हें मुनि कहते हैं। और वे प्राणियों के आवागमन को भलीभाँति जानते हैं, इसलिए इन्हें भगवान् कहते हैं। यही भगवान् कपिल प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखते हुए सर्वोपकारी मित्र होने से आसुरि को उपदेश दिये। फिर इसी ज्ञान को आसुरि ने अनुकम्पापूर्वक अपने शिष्य पञ्चशिख को प्रदान दिया। पञ्चशिख ने अपने शिष्योपशिष्यों द्वारा इस शास्त्र का विस्तार किया। अर्थात् बहुत-से शिष्यों को उपदेश दिया ॥७०॥

प्रबोधिनी

सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं, इस बात को पूर्व कारिका में कह चुके हैं। परन्तु "सांख्यिकारिका" ग्रन्थ की रचना ईश्वरकृष्ण ने की है। ग्रन्थ अनार्ष होने पर भी तद्ग्रन्थस्थ प्रतिपाद्य विषय परम्परया सम्प्रदाय प्राप्त है। अतः सर्वपापनाशक होने से सभी ज्ञानों में श्रेष्ठ है। कपिल ने आसुरि को उपदेश दिया, और आसुरि ने पञ्चशिख को। पञ्चशिख ने उपदेश द्वारा इसका विस्तार किया। महाभारत में पञ्चशिख का वर्णन इस प्रकार है—"**आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् पञ्चस्रोयतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः। पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुण पञ्चशिखःस्मृतः॥**

(म० भा० प० १२१ अ० २१८)

उक्त कारिका में तन्त्र शब्द का उल्लेख होने से कुछ विद्वान् तन्त्र शब्द का अर्थ "पञ्चशिख द्वारा निर्मित षष्टितन्त्र ग्रन्थ ही लेते हैं। अन्य लोग षष्ठितन्त्र को वार्षगण्य द्वारा रचित मानते हैं। इस विषय में अधिकारी विद्वानों में भी बड़ा मतभेद है। परन्तु आचार्य माठर तन्त्र शब्द का अर्थ ग्रन्थपरक ही लगाते हैं। आगे स्वयं इस शब्द की व्याख्या करते हैं। स्वयं कहते हैं कि पञ्चशिख द्वारा निर्मित षष्टितन्त्र ग्रन्थ को पढ़ कर ईश्वरकृष्ण कृतकृत्य हुए, और कारिका-रूप में इसी ग्रन्थ का संक्षेप किया॥७०॥

तन्त्रमिति व्याख्यायते। "तम एव खल्विदमग्र आसीत्"। तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभिवर्तते प्रथमम्। तम इति उच्यते प्रकृतिः, पुरुषः क्षेत्रज्ञः। षष्टि-पदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्त्र्यन्ते तत् षष्टितन्त्रम्। षष्टितन्त्रं ज्ञात्वा कुशलः किल ईश्वरकृष्णनामा। तेन ईश्वरकृष्णेन विस्तरग्रन्थग्रहणभीरुणा हितार्थं षष्टितन्त्रम् अतिसंक्षिप्तम्। तदाह —

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥ ७१॥

संगति—तन्त्र शब्द की व्याख्या करते हैं। सर्व प्रथम यह जगत् तमोरूप ही था, उसमें क्षेत्रज्ञ ही प्रथम विद्यमान् था। तम प्रकृति को कहते हैं। क्षेत्रज्ञ पुरुष को। साठ पदार्थो का जिसमें विवेचन हो जिसमें, उस ग्रन्थ को षष्टितन्त्र कहते हैं। षष्टितन्त्र को जानकर ईश्वरकृष्ण विद्वान् हो गये। उन्हीं ईश्वरकृष्ण ने विस्तृत ग्रन्थ ग्रहण के भय से लोकहित के लिए इस विस्तृत षष्टितन्त्र का ही अतिसक्षेप किया। इसी बात को प्रस्तुत कारिका में कहते हैं—

शिष्य परम्परा से प्राप्त इस संख्याशास्त्र का उत्तम बुद्धि वाले ईश्वरकृष्ण ने अच्छी तरह से मनन करके, आर्या छन्द में अतिसंक्षेप किया ॥७१॥

मा० वृत्ति - शिष्यपरम्परयागतमिति । कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानम् । ततः पञ्चशिखेन, तस्मात् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागदम् । ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम् । तदेव षष्टितन्त्रम्, आर्याभिः संक्षिप्तम्, आर्यमतिना विस्तीर्णमतिना सम्यक् विज्ञाय सिद्धान्तम्, कार्यकारणसिद्धस्य शरीरस्यान्तोऽपुनर्भावो मोक्षस्तस्य तादात्म्यमित्यर्थः । तत् सिद्धस्य शरीरस्य सूक्ष्मस्य तान्मात्रिकस्य सर्गादिभवस्यान्तो मूर्तिनाश इति वा । एष षष्टितन्त्र इति तात्पर्यम् ॥७१॥

अनुवाद—शिष्यपरम्परा से प्राप्त । अर्थात्—भगवान् कपिल से इस ज्ञान को आसुरि ने प्राप्त किया । आसुरि से पञ्चशिख ने, और पञ्चशिख से भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल प्रभृतियों ने प्राप्त किया । उनसे ईश्वरकृष्ण ने इस ज्ञान को प्राप्त किया । विस्तृत मति वाले ईश्वरकृष्ण ने उक्त षष्टितन्त्र के सिद्धान्त का सम्यक् मनन कर आर्या छन्द के द्वारा संक्षेप में वर्णन किया । सिद्धान्त पद की व्याख्या करते हैं कि कार्यकारणरूप से सिद्ध शरीर का अन्त अर्थात् जिससे अपुनर्भाव या मोक्ष हो । शरीर की आत्मा के साथ तादात्म्य हो जाना । अथवा कार्यकारणादिभाव से सिद्ध सर्गादि में उत्पन्न होने वाला जो सूक्ष्म तान्मात्रिक शरीर है, उसका अन्त=मूर्तिनाश, अर्थात् स्थूल तत्त्वों का अपने कारणभूत सूक्ष्मतत्त्वों में लीन होना । अभिप्राय यह है कि यह ग्रन्थ भी षष्टितन्त्र के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक हैं ॥७१॥

—प्रबोधिनी—

उक्त कारिका में सम्प्रदायानुगत शास्त्र ज्ञान का उल्लेख करते हैं । यद्यपि ईश्वरकृष्ण ने साक्षात् पञ्चशिखाचार्य से सांख्यज्ञान को प्राप्त नहीं किया, अपितु शिष्य प्रशिष्य परम्परा से उक्त ज्ञान को अधिगत किया, जिसका निर्देश माठर ने वृत्ति में किया है । परन्तु पञ्चशिखाचार्य का षष्ठितन्त्र नामक ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण को उपलब्ध था, जिसका समुचित परिशीलन कर ईश्वरकृष्ण ने उन सिद्धान्तों का संक्षेप से कारिका में निवेश कर दिया । उक्य व्याख्यान से मालूम पड़ता है कि ईश्वरकृष्ण के समय तक "षष्टितन्त्र" का प्रचुर रूप से अध्ययन-अध्यापन होता रहा, साथ ही साथ इस ग्रन्थ पर सांख्य के मान्य आचार्यों की टीका-टिप्पणी भी होती रही । दुर्भाग्यवश आज यह ग्रन्थ कहीं भी उपलब्ध नहीं है, कुछ प्रकीर्ण अंश ही यत्र-तत्र समुद्धरण के रूप में दिखाई देते हैं ॥७१॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ में जिन पदार्थों का वर्णन है, उन सभी पदार्थों का इन सत्तर कारिकाओं में व्याख्यान कर दिया। परन्तु षष्टितन्त्र का कथाभाग, तथा परमतखण्डनादि को ग्रन्थ विस्तार के भय से छोड़ दिया ॥७२॥

मा० वृत्ति—ये षष्टितन्त्रे पदार्था अभिहितास्ते सप्तत्यां व्याख्याताः कथिताः। षष्टिभेदाः प्राक् व्याख्याताः। "भेदस्तमसोऽष्टविध" इति। आर्यायां "पञ्च विपर्ययभेदा" इत्यत्र चाभिहिना इत्येते पञ्चाशत् प्रत्ययाः इमे चान्ये दश मौलिकाः। तथा हि —

अस्तित्वमेकत्व यथार्थवत्त्वं पारार्थ्य मन्यत्वमथो निवृत्तिः ॥
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य विशेषवृत्तिः ॥

तत्र भेदनां परिमाणात् "इत्येतैः पञ्चदाभिर्हेतुभिः प्रधानास्तित्वमेकत्व-मर्थवत्वं च सिद्धम्, "सङ्घातपरार्थत्त्वात्" इति परार्थत्वमुक्तम्, "जन्म-मरणकरणानाम्" इति पुरुषबहुत्वं सिद्धम् "चक्रभ्रमवत् धृतशरीर" इति स्थितिः सिद्धा, एते दश, "पञ्च विपर्ययाः" अष्टाविंशतिधा अशक्तिः नवधा, तुष्टिः, अष्टधा सिद्धिरिति पञ्चाशत्। उभयं मिलित्वा षष्टिपदार्थाः षष्टितन्त्रे तन्त्र्यन्ते व्युत्पद्यन्ते पदार्था इति तन्त्रम्। षष्टिपदार्थानां तन्त्रमिति सङ्गतिः। आख्यायिका विरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति। परेण सहवादः परवादः तेन वर्जिताश्च। इति परिसमाप्तमिति ॥ ७२ ॥

अनुवाद—षष्टितन्त्र में जो पदार्थ कहे गये हैं। वे ही इन सत्तर कारिकाओं में वर्णित हैं। साठ प्रकार का पदार्थों का भेद पहिले दिखलाया जा चुका है। "भेदस्तमसोऽष्टविध" इस कारिका में, तथा पञ्चविपर्यय भेदा" इसमें, पचास प्रकार के भावसर्ग और ये दश मौलिक पदार्थ हैं। जैसे— १ अस्तित्व, २ एकत्व, ३ अर्थवत्व (प्रीत्यादिरूप से नानाफल जनकत्व), ४ परार्थत्व, (ये प्रधानगत हैं), ५ अन्यत्व, ६ अकर्तृत्व, (ये पुरुषगत हैं), ७ योग वियोग (उभयगत), ८ पुरुषबहुत्व ९ शरीर-स्थिति, १० विशेषवृत्ति (स्थूलसूक्ष्मगत)।

"भेदानां परिमाणात्" इत्यादि कारिका द्वारा पाँच हेतुओं से प्रधान के अस्तित्व, एकत्व और अर्थवत्त्व की सिद्धि की, "सङ्घातपरार्थत्वात्" इत्यादि से प्रधान का परार्थत्व, तथा स्तित्व सिद्ध किया। करणानाम्"

इत्यादि से पुरुषबहुत्व सिद्ध किया। "चक्रभ्रमवत् धृतशरीरः" इत्यादि से स्थिति (इत्यादि), ये दश मौलिक पदार्थ, पाँच विपर्यय के भेद। अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति, नौ प्रकार की तुष्टि, और आठ प्रकार की सिद्धि ये पचास, पूर्ववर्णित दश मिलाकर षष्टितन्त्र में सभी साठ पदार्थ वर्णित हैं।

जिसमें पदार्थों का विस्तार से विवेचन हो, उसे तन्त्र (शास्त्र) कहते हैं। साठ पदार्थों का विवेचन होने से इस ग्रन्थ का "षष्टितन्त्र" यह नाम उचित ही है। प्रकृत सांख्यकारिका में कथाभाग तथा परमतखण्डनादि अंश नहीं हैं। मतान्तर के साथ जो विवाद उसे परवाद कहते हैं। उससे रहित। इस प्रकार पदार्थ-विवेचन समाप्त होता है॥ ७२॥

— प्रबोधिनी —

ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में उसी षष्टितन्त्र के प्रमेयों का युक्तिपूर्वक निरूपण किया। कथा भाग तथा परवाद को त्याग दिया। वृत्ति में माठर ने उन्हीं साठ पदार्थों का संक्षेप में निरूपण किया जो स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। अतः यहाँ राजवार्तिक के अनुसार उनकी विशद विवेचना दी जाती है। जैसा कि तत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने उल्लेख किया है। पूर्ववर्णित पञ्चाशत् तत्त्व कारिका तथा माठरवृत्ति में स्पष्ट हैं। दश मौलिक तत्त्व ये हैं—जिन्हें "**अस्तित्वमेकत्वम्**" इत्यादि से कहा गया है।

'**संघात परार्थत्वात्**" इत्यादि से पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है। "**भेदानां परिमाणात्**" इत्यादि से प्रधानास्तित्व सिद्ध होता है। "**हेतुमदनित्यम्**" इत्यादि से प्रधान का एकत्व सिद्ध होता है, "**प्रीत्यप्रीति विषादात्मका**" इत्यादि से प्रधान का अर्थवत्व तथा "**त्रिगुणमविवेकि विषय**" इत्यादि से प्रधान व पुरुष का अन्यत्व सिद्ध होता है। "**नानाविधैरुपायै**" इत्यादि से प्रधान का पारार्थ्य सिद्ध होता है, "**जन्ममरणकरणानाम्**" इत्यादि से पुरुषबहुत्व "**प्राप्ते शरीरभेदे**" इत्यादि से उभयवियोग, तथा "**पुरुषस्य दर्शनार्थम्** इत्यादि से उभययोग सिद्ध होता है। "**सम्यग् ज्ञानाधिगमात्**" इत्यादि से शरीर की शेषवृत्ति, और "**तस्माच्च विपर्यासात्**" इत्यादि से पुरुष की अकर्तृता सिद्ध होती है। ये ही दश मौलिक पदार्थ हैं। तत्त्वकौमुदी में राजवार्तिक का पाठ इस प्रकार दिया है—

"प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्वमथान्यता ।
पारार्थ्यं च तथानैक्यं वियोगो योग एव च ॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा मतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥ ७२ ॥ इति

अत्राह—कथमेतदल्पग्रन्थं शास्त्रं कृत्स्नस्य वाचकं भविष्यतीति ?

अत्रोच्यते—

तस्मात्समासदृष्टं शास्त्रमिदं नार्थतश्च परिहीनम् ।
तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेर्दर्पणसंक्रान्तमिव बिम्बम् ॥ ७३ ॥

प्रश्न—स्वल्पग्रन्थ युक्त यह शास्त्र सम्पूर्ण षष्टिग्रन्थ का प्रतिपादक कैसे होगा ?

उत्तर—संक्षिप्त होता हुआ भी यह शास्त्र आवश्यक पदार्थों से सम्पन्न है। क्योंकि षष्टितन्त्र ग्रन्थ विशाल है। अतः दर्पण की संङ्क्रान्त प्रतिबिम्ब की तरह, इस (सांख्यकारिका) ग्रन्थ में सम्पूर्ण षष्टितन्त्र ग्रन्थ की अभिव्यक्ति है ॥ ७३ ॥

माठर वृत्ति—यस्मात् षष्टितन्त्रं (बृहत तस्मात्) इति हेतुः। समासदृष्टं संक्षेपतो ग्रन्थमित्यर्थः। शास्त्रमिति। शास्यते येनोत्पथादिति शास्त्रम्। तीर्थोदक महत् फलम्। कर्त्ता भोक्ता भोज्यं मोक्षश्चात्र चिन्त्यते। अथ दुःखानां शासनात् शास्त्रम्। इदम्—इमां सप्ततिं दर्शयति। नार्थतश्च परिहीनम्। षष्टिपदार्थविचारणायामहीनमित्यर्थः। तन्त्रस्येति। यथा स्वल्पेऽपि दर्पणे महतो रूपस्य निरूपणं स्यात् एवमल्पशास्त्रे षष्टितन्त्रस्य कृत्स्नस्यापि व्यक्तिरभिहितेत्यर्थः ॥ ७३ ॥

इत्याचार्य ईश्वरकृष्णप्रोक्तायाः सांङ्ख्यसप्तत्या वृत्तिराचार्यमाठरवृत्तिः समाप्ता।

अनुवाद—क्यों कि षष्टितन्त्रनामक ग्रन्थ बृहत् है, इसीलिए संक्षेप में प्रकृत ग्रंथ रचना की गई। शास्त्रमिति—असन्मार्ग का जिसमें नियन्त्रण हो उसे शास्त्र कहते है। तीर्थोदक की तरह शास्त्र का महान् फल है। कर्त्ता, भोक्ता, भोज्य और मोक्ष का जिसमें विचार किया जाता है। अथवा

त्रिविध दुःखों का सर्वतोभावेन विघातक होने से भी यह शास्त्र है। इदम् शब्द के द्वारा सत्तर कारिकाओं का निर्देश करते हैं यह अर्थ से भी हीन नहीं है. अर्थात् षष्टि पदार्थों के विचार में सर्वथा सक्षम है। तन्त्रस्येत्यादि का अर्थ करते हैं—जैसे छोटे से दर्पण में बहुत बड़े (दृश्य) रूप का अवलोकन हो जाता है ऐसे ही इस (सांख्यकारिका रूपी) स्वल्प शास्त्र में भी समूचे षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ के पदार्थों की अभिव्यक्ति हो जाती है। आचार्य ईश्वरकृष्ण के द्वारा निर्मित सांख्यसप्तति ग्रन्थ की, आचार्य माठर द्वारा निर्मित वृत्ति समाप्त हुई ॥ ७३ ॥

प्रबोधिनी—षष्टितन्त्र के विशाल तथा कथादि दृष्टान्त और बहु विवाद परक होने, उस ग्रन्थ का अवगाहन कर ईश्वरकृष्ण ने सरल विधि से उक्त ग्रन्थ के सारभूत प्रमेयों का सांख्यकारिका में वर्णन कर दिया तस्मात् यह ग्रन्थ समूचे शास्त्रार्थ का प्रतिपादक होने से शास्त्र ग्रन्थ है, न कि प्रकरण, जो केवल एक देश का ही प्रतिपादक होता है। इन्हीं कारिकाओं में सांख्य दर्शन के अपेक्षित सभी तत्त्वों का सम्यक् समावेश हो जाने से इस ग्रन्थ का शास्त्रत्व तथा सर्वोपकारकत्व निर्विवाद सिद्ध है ॥ ७३ ॥

"इति शुभम् !"

अल्मोड़ा मण्डलान्तर्गत बांकू ग्राम वास्तव्य श्री पं० प्रेम वल्लभ उप्रेती के आत्मज पं० थानेशचन्द्र उप्रेती एम० ए०, साहित्य-सांख्ययोग-पुराणेतिहासाचार्य द्वारा निर्मित प्रबोधिनी व्याख्या पूर्ण हुई ॥